Catalog

1_3.pdf 1
2_3.pdf 2
3_3.pdf 3
4_3.pdf 4
5_3.pdf 5
6_3.pdf 6
7_3.pdf 7
8_3.pdf 8
9_3.pdf 9
10_3.pdf 10
11_3.pdf 11
12_3.pdf 12
13_3.pdf 13
14_3.pdf 14
15_1.pdf 15
16_3.pdf 16
17_3.pdf 17
18_3.pdf 18
19_3.pdf 19
20_2.pdf 20
21_3.pdf 21
22_3.pdf 22
23_3.pdf 23
24_3.pdf 24
25_3.pdf 25
26_3.pdf 26
27_3.pdf 27
28_3.pdf 28
30_3.pdf 29
31_3.pdf 30
32_3.pdf 31
33_3.pdf 32
34_3.pdf 33
35_3.pdf 34
36_3.pdf 35
37_3.pdf 36
38_3.pdf 37
39_3.pdf 38
40_3.pdf 39
41_3.pdf 40
42_3.pdf 41
43_3.pdf 42
44_3.pdf 43
45_3.pdf 44
46_3.pdf 45
47_3.pdf 46
48_3.pdf 47

49_3.pdf ····· 47
50_3.pdf ····· 49
51_3.pdf ····· 50
52_3.pdf ····· 51
53_2.pdf ····· 52
54_3.pdf ····· 53
55_3.pdf ····· 54
56_3.pdf ····· 55
57_3.pdf ····· 56
58_3.pdf ····· 57
59_3.pdf ····· 58
60_3.pdf ····· 59
61_3.pdf ····· 60
62_3.pdf ····· 61
63_3.pdf ····· 62
64_3.pdf ····· 63
65_3.pdf ····· 64
66_2.pdf ····· 65
67_3.pdf ····· 66
68_3.pdf ····· 67
69_3.pdf ····· 68
70_3.pdf ····· 69
71_3.pdf ····· 70
72_3.pdf ····· 71
73_3.pdf ····· 72
74_3.pdf ····· 73
75_3.pdf ····· 74
76_3.pdf ····· 75
77_3.pdf ····· 76
78_3.pdf ····· 77
79_3.pdf ····· 78
80_3.pdf ····· 79
81_3.pdf ····· 80
82_3.pdf ····· 81
83_3.pdf ····· 82
84_3.pdf ····· 83
85_2.pdf ····· 84
87_3.pdf ····· 85
88_3.pdf ····· 86
89_3.pdf ····· 87
90_3.pdf ····· 88
91_3.pdf ····· 89
92_3.pdf ····· 90
93_2.pdf ····· 91
94_2.pdf ····· 92
95_2.pdf ····· 93
96_2.pdf ····· 94
ooop.pdf ····· 95

संघर्ष, सृजन एवं सांस्कृतिक बोध की वैचारिकी

ISSN 0974-6129
वर्ष 2 अंक 3
अक्टूबर-दिसम्बर 2009
तीस रुपये

परिमिता

त्रैमासिक शोध-पत्रिका

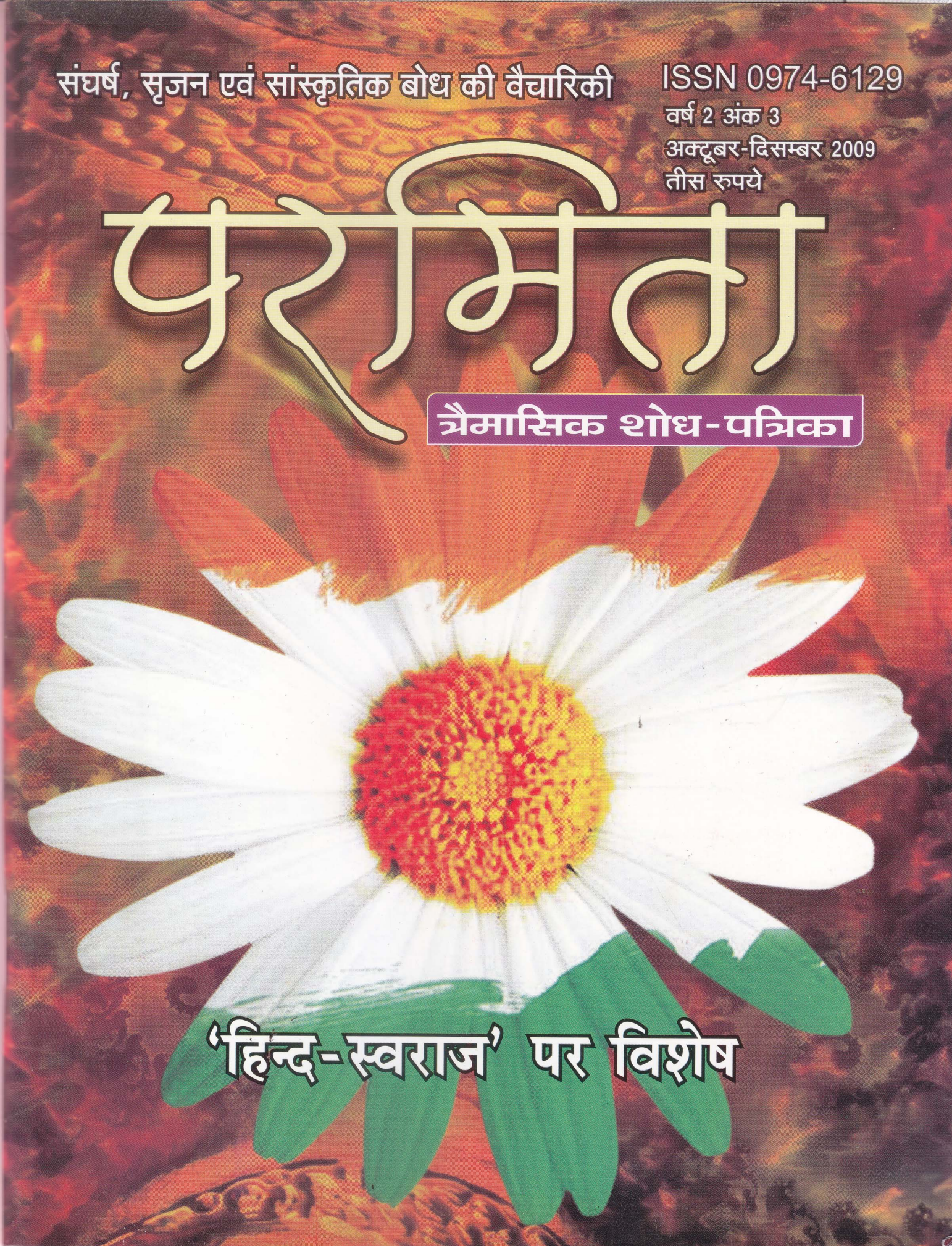

'हिन्द-स्वराज' पर विशेष

भीतरी पन्नों में

सम्पादकीय–

"हिन्द स्वराज" का निहितार्थ /3

विमर्श–

हिन्द स्वराज को श्रद्धा से पढ़ें /प्रो. रामेश्वर मिश्र 'पंकज' /4

एक देशभक्त युवक के विचार हैं हिन्द स्वराज में /प्रो. कुसुमलता केडिया /7

स्वराज के दो ध्रुव /रामजी सिंह 'उदयन' /9

'हिन्द स्वराज' के पन्नों से /अनूप पति तिवारी /11

महमूद गजनवी और रोमिला थापर /शंकर शरण /13

पुस्तक अंश

लोकतंत्र के मंच पर विसंगतियों का ड्रामा /डॉ. रघुवंश /15

शोध–

गाँधी की आर्थिक परिकल्पना /डॉ. अजय कुमार सिंह /19

नेहरू युग में भारत–चीन संबंध : एक विश्लेषण /सुनील कुमार गौतम /22

आधुनिक शिक्षा पद्धति में मालवीय जी का योगदान /डॉ. सन्ध्या श्रीवास्तव /25

शिक्षा पर मैकालियन प्रभाव : समस्या से ..... /डॉ. आलोक गार्डिया/डॉ. दीपा मेहता /26

कश्मीर समस्या एवं सम्भव समाधान /अरविन्द कुमार /29

नक्सलवाद की समस्या तथा समाधान : एक..... /गौरव कुमार राय /32

नेपाल में महिला सम्पत्ति अधिकार आंदोलन..... /आफरीन खान /35

आरक्षण की राजनीति का समाजशास्त्रीय विश्लेषण /डॉ. जय प्रकाश यादव /38

सामान्य और मूक–बधिर छात्रों की आदतों का..... /दिनेश चन्द /40

हिन्दी शब्द : उत्पत्ति और इतिहास /डॉ. संजय कुमार सिंह /43

समय सरगम : उम्र के सँझाते समय की संवेदना.... /पुनीत कुमार राय /47

पूर्व मध्यकालीन कृषकों की आर्थिक दशा /दिनेश कुमार सिंह /49

वेदान्त–दर्शन में मोक्ष /डॉ. वसन्तानन्द /51

मौर्य काल में सारनाथ की राजनैतिक, धार्मिक तथा.... /दीप्ति श्रीनेत /54

मध्यकालीन सामाजिक सामान्जस्य में सूफी दर्शन..... /प्रिया श्रीवास्तव /56

मुस्लिम शिक्षा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि /इम्तियाज अहमद /59

वैदिक ग्रन्थों एवं उपनिषदों में भार्गवेय परशुराम /रजनीश पाण्डेय /62

नागार्जुन साहित्य में व्यंग्य /विनय कुमार झा /64

महाकवि श्रीहर्ष की दृष्टि में काव्यतत्त्व–अलंकार /डॉ. रश्मि मिश्रा /67

अवध के नवाब और त्यौहार /आनन्द प्रकाश /70

मौर्यकालीन प्रशासनिक व्यवस्था की रूपरेखा /कुणाल किशोर /73

मुगल काल में स्त्रियों के सौन्दर्य प्रसाधन /रीगल सिंह /76

ध्वनिस्फोटो तयोः सम्बन्ध : /करुणाकर मिश्रः /79

सल्तनत काल में धर्मान्तरण (1200–1526 ई.) /सुशील कुमार सिंह /81

बौद्धकालीन राजनीतिक में स्त्रियों की भूमिका /डॉ. अवधेश सिंह/विनय कुमार सिंह /84

जल प्रबंधन एवं संरक्षण के स्थायी समाधान /उमाकान्त राय /86

छायावाद और रविकिरण मंडल का काव्य /चपले मनोहर गंगाधर राव बन्नालीकर /88

Assessing Speaking at Basic Level /Devender Singh /90

विरासत–

कष्ट में है माँ भारती का मन्दिर /मधुज्योत्सना /93

विदग्ध गोष्ठी–

सामाजिक संगठनों का संगम /परमिता ब्यूरो /96

सम्पादकीय

''हिन्द स्वराज'' का निहितार्थ

हर व्यक्ति, हर समाज एवं हर राष्ट्र के लिए 'स्वतंत्रता' आधारभूत एवं अनिवार्य मूल्य है। लेकिन इस मूल्य का क्या हम सम्मान कर पाये? वीर सावरकर ने जिस 'स्वराज' का सपना देखा था या गांधी ने जिस 'हिन्द स्वराज' की परिकल्पना को आधार बना करके स्वतंत्रता संग्राम की लड़ाई लड़ी या तिलक ने जिस स्वराज को पाने की बात कही थी, क्या हम पा पाये? स्वाभाविक है कि इन प्रश्नों का उत्तर नाकारात्मक होगा। फिर हिन्द स्वराज को याद करने की वजह? क्या हम 'हिन्द स्वराज का शताब्दी वर्ष' मनायें?

वस्तुतः व्यापक अर्थ में हिन्द स्वराज का अर्थ केवल राजनीतिक भारतीय स्वातंत्र्य नहीं है, बल्कि भारत की अस्मिता, स्वाभिमान एवं गौरव के लिए लड़ा जाने वाला महान् जन–संघर्ष है। इस महान् जन–संघर्ष की आँच व ताप हमें हिन्द स्वराज पर सोचने के लिए विवश कर देती है, वरना नेताओं ने तो इसे सत्ता–हस्तान्तरण का खेल बना दिया था। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन विश्व का सबसे बड़ा मुक्ति आन्दोलन था। अगर इसका प्रारम्भिक वर्ष 1857 से भी मानें (हालाँकि उसके पहले सैकड़ों जन–विद्रोह हो चुके थे) तो 90 वर्षों का महान् संघर्ष अपने आप में महान् गाथाओं एवं व्यक्तित्वों को समेटे हए है। लगभग 6 लाख शहादत का अमर आख्यान। विश्व की किसी भी राजक्रान्ति में न तो इतने वर्ष लगे और न ही इतनी शहादतें हुईं, और न ही इतने महान् जन योद्धाओं–क्रान्तिकारियों का नेतृत्व मिला। फ्रांस क्रान्ति, अमरीकी व जिस रूसी क्रान्ति को विश्व इतिहास में महिमा–मंडित किया गया उनकी उम्र कुछ–एक वर्षों की रही है। हालाँकि 'वर्ष' किसी घटना को महान नहीं बना देते। उद्देश्य महानता तय करता है। इसीलिए सारी उपर्युक्त क्रान्तियाँ महान् विश्लेषण से तो जुड़ी लेकिन भारतीय 'राजक्रान्ति' (जन–क्रान्ति शायद नहीं बन पाई है) अनेक अंतर्विरोधों से ग्रस्त होकर जिस विघटन का शिकार हुई, वह उसकी आँच कम करने के लिए पर्याप्त थी। संभवतः किसी देश का विभाजन और स्वतंत्रता एक साथ घटित नहीं हुए....। 'फूट डालो राज करो' नीति का चरमोत्कर्ष और भारतीय जन–नेताओं की पराजय के साथ–हिन्द स्वराज का आन्दोलन समाप्त होता है।

'हिन्द स्वराज' केवल राजनीतिक अवधारणा नहीं है, बल्कि सामाजिक–धार्मिक–नैतिक– आर्थिक और गहरे अर्थों में सांस्कृतिक अवधारणा है। राजनीतिक अवधारणा तक इसे सीमित कर देन का अर्थ होगा 1947 की आजादी में इसकी सफलता खोजना। 'स्वराज' की लड़ाई को व्यापक स्तर पर कुछ लोगों ने ही समझा। सावरकर और गांधी ऐसे ही नेता थे। गांधी ने समझा की भारत ने जब–जब समस्त युद्ध किए हैं, तब–तब या तो इसकी पराजय हुई है या उसकी जीत प्रभावी नहीं हुई है।

1876 में शिवनाथ शास्त्री का 'स्वशास्त्र' हो या 1907 के लगभग तिलक का 'स्वराज', उसी के समानान्तर 1907 में ही गांधी 'सत्याग्रह' का प्रयोग दक्षिण अफ्रीका में शुरु करते हैं। आगे चलकर 1909 के 'हिन्द स्वराज' पुस्तक में उनकी टिप्पणी है कि केवल राजनीतिक स्वराज को पा लेने का तात्पर्य होगा–''अंग्रेजों के बिना अंग्रेजी राज''।

'हिन्द स्वराज' का अस्त्र था–देशी भाषाओं का उत्थान। यहाँ भी भारतेन्दु गांधी जी के अग्रदूत बनते हैं। भारतेन्दु का बीज वाक्य बनता है– निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल। यह निज भाषा हिन्दी ही हो सकती है और इसी से हमारी सारी उन्नति जुड़ी हुई है। गांधी जब दक्षिण भारत में हिन्दी का प्रचार–प्रसार करते हैं, तो इसी सूत्र के कारण 'हिन्द स्वराज' का एक प्रमुख अस्त्र 'सांस्कृतिकता' भी था। बंकिम की रचना 'वंदेमातरम्' जो 1870 के दशक में रचित गीत है, आगे चलकर कैसे राष्ट्रीयता का प्रतीक हो जाती है, यह अपने आप में रोचक है। हालाँकि साम्प्रदायिकता को उभारने में और हिन्दू महासभा ने इसका कैसे दुरुपयोग किया, यह अलग बात है। खास बात गीत की जिसकी ओर हम ध्यान ला देते तो लड़ाई तब तक चलती जब तक हम जनता का राज नहीं ला देते।

जिस खास बात की तरफ हम ध्यान खींचना चाहते हैं, वह यह कि सांस्कृतिक तत्वों को सूक्ष्म रूप से, बड़ी ही सुन्दर ढंग से गीत में संगुम्फित कर दिया गया है। रवीन्द्रनाथ का जन–गण–मन गान भी विविध प्रान्तों की जातिगत विशेषताओं पर ही टिका है। गांधी को गोखले का प्रथम गुरु मंत्र ही यही है कि पहले सम्पूर्ण भारत का भ्रमण करो, देखो समझो फिर राष्ट्रीय आन्दोलन। इतनी बड़ी राजनीतिक तैयारी, परिकल्पना के बगैर गांधी, गांधी न बन पाते....।

फिर भी अंतिम कचोट जो दिल–दिमाग को परेशान करती रहती है, वह यह कि सन् 49 के बाद हम क्या पैदा कर पाये? कौन सा नवीन–विचार, विज्ञान, दर्शन या जनता के लिए नवीन संविधान ही बना पाये। एक संविधान, जो हमारा है–चोरी का है। 'प्रथम प्रवक्ता' के संपादक रामबहादुर राय जब संविधान को जलाने की बात कर रहे होते हैं, तब उनकी पीड़ा समझी जा सकती है। जब संविधान ही नहीं तो स्वाधीनता कैसी? अंग्रेजों ने हमें मजबूरी में आजाद किया और हमने मजबूरी में उसे स्वीकार कर लिया। मजबूरी में पाना–कितना अधूरा और एकाकी है। शायद यह वक्तव्य भारतीय क्रान्तिकारियों को गाली लगे (पाठक क्षमा करेंगे।) गांधी के 'हिन्द स्वराज' की पंक्तिया याद आ रही हैं– भारत का वास्तविक शत्रु अंग्रेजी राज नहीं है। अपितु समग्र आधुनिक औद्योगिक सभ्यता है। शायद आगे भी हम बहु–राष्ट्रीय कंपनियों से आम जन का बचाव नहीं कर पा रहे हैं। अतः 'हिन्द स्वराज' की लड़ाई तब तक चलती रहेगी जब तक जनता का राज नहीं ला देते।

विमर्श-१

'हिन्द स्वराज' को श्रद्धा से पढ़े

प्रो. रामेश्वर मिश्र 'पंकज'*

"भारत से अंग्रेज़ी राक्षसी राज की विदाई में जिन महावीरों का विशेष स्थान है, उनमें गाँधी जी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। अपने किसी भी महापुरूष के विचारों को लापरवाही और लम्पटता से पढ़ना निन्दनीय है।"

'हिन्द स्वराज' के शताब्दी वर्ष में हमें उसे श्रद्धा से पढ़ना चाहिए। श्रद्धा नहीं है, तो न पढ़ें। अश्रद्धा से, अविवेक से, बौद्धिक आलस्य से, असावधानी से, और अनवधान से पढ़ना तो अपमान करना है। भारत से अंग्रेज़ी राक्षसी राज की विदाई में जिन महावीरों का विशेष स्थान है, उनमें गाँधी जी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। अपने किसी भी महापुरुष के विचारों को लापरवाही और लम्पटता से पढ़ना निन्दनीय है। हो सके तो उसे दण्डनीय भी बनाना चाहिए। दण्ड का अर्थ जेल में डालना नहीं, सबसे बड़ा दण्ड तो ऐसे लापरवाहों का समाज में तिरस्कार किया जाना ही है।

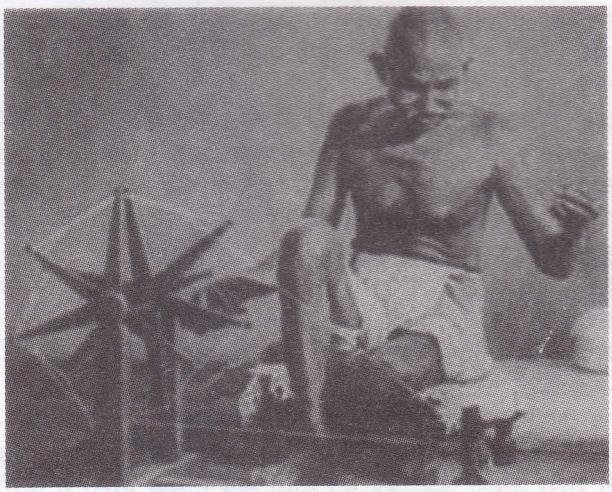

इस संक्षिप्त लेख में केवल संकेत मात्र ही सम्भव है। गाँधी जी के प्रति लापरवाही से भरे लोग अक्सर 'हिन्द स्वराज' को कुछ इस तरह प्रस्तुत करते हैं कि 'उसमें अदालत, अख़बार, वकील और डॉक्टरों का होना ही गलत बताया गया है। रेल का विरोध तो है ही।' इन लोगों ने 'हिन्द स्वराज' का तेरहवाँ अध्याय तक नहीं पढ़ा है, ऐसा लगता है। तेरहवें अध्याय का शीर्षक है – 'सभ्यता क्या है'। इस अध्याय के प्रारम्भ में ही गाँधी जी कहते हैं कि– 'मेरा विश्वास है कि भारत ने जो सभ्यता विकसित की है, वह संसार में अपराजेय है। हमारे पूर्वजों ने जो बीज बोये थे, उनकी बराबरी संसार में कोई नहीं कर सकता। हमें केवल इतिहास से अथवा पुस्तकों से सीखने की वैसी मजबूरी नहीं है, जैसी ग्रीस और रोम के लोगों को है। हमारे यहाँ तो वह परम्परा जीवन्त है, प्रत्यक्ष है। भारत के अधिकांश लोगों में आज भी वही सभ्यता जीवित है, जो हमारे पूर्वजों ने विकसित की थी।'

इसके बाद, जहाँ उक्त डॉक्टर, वकील आदि का सन्दर्भ आता है, वहाँ गाँधी जी इसी अध्याय में क्या कहते हैं, यह पढ़े बिना उन पर टिप्पणी करना अत्यन्त आपत्तिजनक है। वे कहते हैं– 'इस राष्ट्र में न्यायालय थे, वकील थे और डॉक्टर थे, परन्तु वे सब अपनी मर्यादा में रहकर कार्य करते थे। सभी लोग जानते थे कि यह व्यवसाय कोई विशेषतः अधिक श्रेष्ठ व्यवसाय नहीं है, अन्य व्यवसायों से ये कोई उच्चतर या श्रेष्ठतर हैं, ऐसा कोई नहीं मानता था, साथ ही हमारे वकील और वैद्य जनता को लूटते नहीं थे, वे तो स्वयं जनता पर ही निर्भर थे। वे अपने को जनता का स्वामी नहीं मानते थे। हमारी न्याय व्यवस्था में न्याय पर्याप्त उत्तम था। सामान्यतः तो लोग अदालतों तक जाना ही नहीं चाहते थे, क्योंकि समाज में ऐसे कोई दलाल नहीं थे, जो लोगों को भरमा कर अदालत ले जायें और वहाँ उलझाये रखें। वैसे भी, केवल राजधानियों के आसपास ही न्यायालय पर लोगों की कुछ निर्भरता होती थी, साधारण लोग तो गाँव में अपने झगड़े आपसी पंचायतों से ही सुलझा लेते थे। इस अर्थ में, वे सच्चा स्वराज भोगते थे।'

इस स्पष्ट कथन से यह बात पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है कि गाँधी जी अंग्रेज़ी राज के वकीलों या डॉक्टरों आदि पर जो कटाक्ष कर रहे हैं, वह केवल तुलनात्मक दृष्टि से है। प्रश्न है कि वे कौन–से लोग हैं, जो इन तुलनात्मक कथनों को सन्दर्भ निरपेक्ष वक्तव्यों के रूप में प्रस्तुत करते हैं। उनकी वैधता क्या है?

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि बीस अध्यायों वाली इस पुस्तक 'हिन्द स्वराज' का अन्तिम अध्याय है – 'निष्कर्ष'। (हिन्दी अनुवाद में इसका अनुवाद 'छुटकारा' किया गया है, जो दोषपूर्ण और शरारतपूर्ण है या फिर भ्रान्तिपूर्ण)।

निष्कर्ष के प्रारम्भ में ही गाँधी जी जो कहते हैं, उस पर ध्यान देने की आवश्यकता है। पाठक उनसे पूछता है कि आपकी बात से तो लगता है कि न तो आप अतिवादी या उग्रवादी हैं और न ही मॉडरेट। आप कोई तीसरा ही पक्ष बनाना चाहते हैं। यह प्रश्न उस बौद्धिक दशा को स्पष्ट कर

देता है, जो यूरो–क्रिश्चियन शिक्षा भारत के पढ़े–लिखे लोगों के भीतर आरोपित कर रही थी। एक्सट्रीमिस्ट और मॉडरेट, ये दोनों ही विभाजन भ्रामक और आपत्तिजनक हैं। अंग्रेज़ इंग्लैंड के इतिहास को भारत पर थोप रहे थे। भारत की स्वाधीनता के लिए अर्थात् यहाँ से पापपूर्ण ब्रिटिश आधिपत्य के उन्मूलन के लिए तथा भारत के पुनः स्वस्थ्य सहज रूप से अपने राज्य का संचालन करने में समर्थ होने के लिए जो महापुरुष कार्य कर रहे थे, उनमें विविध विचार थे। यह स्वाभाविक है।

> "अपने को गांधीवादी कहने वाले कुछ लोगों ने 'हिन्द स्वराज' का हिन्दी में अनुवाद ऐसी निस्तेज और रद्दी भाषा में किया है, कि जिससे गाँधी जी की तेजस्विता पूरी तरह दब गई है। वस्तुतः हिन्द स्वराज का एक सही हिन्दी अनुवाद अत्यन्त आवश्यक है। मैं स्वयं वह कार्य करने का इच्छुक हूँ।"

कार्य इतना बड़ा था कि प्रत्येक महत्त्वपूर्ण प्रतिभा उस सन्दर्भ में अपने द्वारा करणीय कार्य सोचकर उसे ही स्वधर्म के रूप में कर रही थी। आततायी अंग्रेज़ों का वध भी आवश्यक था, उनके अन्यायों का वैधानिक प्रतिकार भी आवश्यक था, जो फिरंगी सौ साल पहले हाथ जोड़–जोड़कर व्यापार की कुछ रियायतें मांग रहे थे और कभी इस नवाब तो कभी उस राजा की खुशामद और चाटुकारिता कर रहे थे तथा उनकी सेवा में अपने द्वारा भरती किये गये कम्पनी के सिपाहियों को लड़ने के लिए भेजने का आगे से बढ़–बढ़कर प्रस्ताव रख रहे थे, आपसी ईर्ष्या–द्वेष और नासमझी से भारतीय राजाओं के राज्य जब चले गये, तब उसी के बल पर अचानक उछलने–कूदने वाले वे ही फिरंगी बड़बोले जैसी डींगे मार रहे थे, शेखियाँ बघार रहे थे और खुलेआम छल, क्रूरता, नृशंसता तथा नीचता करते रहकर भी सत्य और नैतिकता की बातें करने का दुस्साहस कर रहे थे, तो स्वयं उनकी भाषा में उनकी इस निर्लज्ज अनैतिकता को, पशुता को, बर्बरता को उघाड़ा जाना भी ज़रूरी था। साथ ही, जब कुछ समय के लिए ही सही, वे प्रत्यक्षतः अधिकार सम्पन्न हो ही गये हैं और प्रजा पर क्रूर अत्याचार कर ही रहे हैं, तो द्रवित हृदय सज्जनों द्वारा प्रजा को तात्कालिक कुछ राहत पहुँचाना अत्यावश्यक समझकर जो पिटीशन दिये जा रहे थे, वे भी ज़रूरी थे। ये एक ही विराट कार्य के अलग–अलग अंग थे।

फिरंगी इन कामों को अपने स्वभाव के अनुसार छद्म–युग्मों में बाँट रहे थे – कुछ को उग्रवादी कह रहे थे, कुछ अन्य को सौम्य। यद्यपि तत्कालीन ब्रिटिश गुप्तचर रिर्पोटों में भारत के गौ–रक्षा और गौ–सेवा जैसे पवित्र कार्यों में जुटे सज्जनों और महात्माओं तक को खतरनाक तथा डकैत आदि कहा गया है। अतः स्पष्ट है कि ये नकली विभाजन – उग्रवादी और सौम्य आदि के – केवल जन–मन को बाँटने के लिए थे। गाँधी जी इस तथ्य को जानते थे। इसीलिए उन्होंने बीसवें अध्याय – 'निष्कर्ष' – में पहला ही उत्तर यह दिया– 'यह कहना सही नहीं है कि सभी मॉडरेट एक से विचार रखते हैं। जो लोग देश की सेवा करना चाहते हैं वे कोई एक पार्टी क्यों बनायेंगे। फिर मैं तो दोनों ही पक्षों की सेवा करूँगा। किसी भी पक्ष से जिस–जिस बात में मेरी असहमति होगी, मैं बहुत आदर के साथ, उस विषय पर अपनी स्थिति स्पष्ट कर दूँगा और अपनी सेवा जारी रखूँगा। जिन्हें आप उग्रवादी कह रहे हैं, उनसे मैं कहूँगा कि आपको आत्मबल पर निर्भर होना होगा। लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हिंसा को आवश्यक नहीं समझना होगा। उसी प्रकार मैं मॉडरेट्स से कहूँगा कि केवल पिटीशन देते रहना तो अपमानकारक दशा है। पिटीशन देकर हम अपनी हीनता को स्वीकार करते हैं। जब आप यह कहते हैं कि ब्रिटिश राज्य तो अभी रहेगा ही, तब आप ईश्वर को मानो अस्वीकार करते हैं। फिर साथ ही, सामान्य बुद्धि भी यह स्पष्ट कर देती है कि अगर हमने यह कहा कि आज तो अंग्रेज़ों की उपस्थिति रहनी ही है, तो इससे अंग्रेज़ मिथ्या दर्प से और अधिक भर जायेंगे। हमें जानना चाहिए कि अंग्रेज़ तुरन्त ही बोरिया–बिस्तर बांधकर चल देते हैं, तो हम कोई अनाथ नहीं हो जायेंगे। अगर उसके कारण हमारे बीच शान्ति नहीं भी रहे, तो इसमें हर्ज नहीं। हम आपस में बलपूर्वक लड़ेंगे। वैसा करना बेहतर होगा। हमारी रक्षा के नाम पर एक तीसरा पक्ष यहाँ मौजूद रहे, इसकी कोई भी ज़रूरत नहीं है।'

जो लोग भारतीय इतिहास का क, ख, ग नहीं जानते, वे गाँधी जी के इन शब्दों का अर्थ नहीं समझ सकते। परन्तु उन दिनों सबको पता था कि ठीक 1856 ईस्वी तक कम्पनी के लफंगे भारत के राजाओं से केवल यही निवेदन कर रहे थे कि हम तो आप लोगों की रक्षा के लिए भारत में हैं। जब उन्होंने लगातार अवध और पंजाब सहित भारत के बड़े–बड़े राज्यों के शासकों को छलपूर्वक अपदस्थ करने की कुचालें चलीं, तब पहली बार भारत के शासक और उनकी प्रजा इन लफंगों की असलियत जान पाई और तब उन्हें उखाड़ फेंकने और पीटने की प्रक्रिया शुरू हो गई। पहली बार 1877 में रानी विक्टोरिया ने स्वयं को भारत की रानी घोषित कर दिया और उनका भी तर्क यही था कि जो काम कम्पनी ठीक से नहीं कर सकी, जो काम कम्पनी के अपराधी अफसरों ने

अच्छी तरह नहीं किया (क्लाइव, वारेन हेस्टिंग्स, वेलेजली आदि पर इंग्लैंड में चले मुकदमे और ब्रिटिश संसद में लगाये गये अभियोग इतिहास के तथ्य हैं), वह अब हम करेंगे। गाँधी जी 'हिन्द स्वराज' के 'निष्कर्ष' शीर्षक अध्याय में विक्टोरिया के इन्हीं तर्कों का खण्डन कर रहे हैं। जिन मूर्खों को यह भी नहीं पता, उनसे संवाद असम्भव है।

> **"'हिन्द स्वराज' का प्रतिपाद्य भारत में धर्म की और धर्ममय राज्य की प्रतिष्ठा है। इससे भिन्न कुछ भी नहीं। जो इस प्रधान प्रतिपाद्य से कतराते हैं, उनके भीतर गाँधी जी के प्रति श्रद्धा नहीं है।"**

आगे इसी अध्याय में गाँधी जी कहते हैं– 'आप यदि भारत में रहते हैं तो आपको 'सर्वेन्ट्स ऑफ दि पीपुल' बनकर ही रहना होगा। आपकी इच्छा के अनुसार हम चलें, ऐसा नहीं होगा, बल्कि आपको हमारी इच्छा के अनुसार चलना होगा, आपको हमारी इच्छा के अनुसार कार्य करना होगा। आगे और कोई धन–दौलत आप यहाँ से नहीं ले जा सकेंगे। अगर आपका बहुत मन यहाँ रहने का है तो आप सिपाहीगिरी करते हुए यहाँ रह सकेंगे। जिसे आप सभ्यता कहते हैं, उसे हम असभ्यता मानते हैं। भारत से किसी तरह का व्यावसायिक लाभ आगे आप नहीं ले सकेंगे। आपको वह छोड़ना ही होगा। हम अपनी सभ्यता को आपकी सभ्यता से श्रेष्ठतर मानते हैं। अगर आप भी यह तथ्य समझ लें तो इससे आपका ही भला है। अगर आप इसे नहीं भी मानते तो भी आपको इस देश में तो वैसे ही रहना होगा, जैसे हम रहते हैं। क्योंकि स्वयं आपके यहाँ यह कहावत प्रचलित है कि जिस देश में रहो, उसी के अनुसार रहो। हमारे धर्म के विरुद्ध आप कोई भी काम नहीं कर सकेंगे। आपको ऐसा कोई भी काम नहीं करना चाहिए। आपका यह कर्त्तव्य है कि हिन्दुओं का ध्यान रखकर आप गो–मांस खाना छोड़ दें और मुसलमानों का ध्यान रखकर आप सूअर का मांस खाना छोड़ दें। (पाठक 1857 को याद कर लें, जिसकी पृष्ठभूमि में यह 'हिन्द स्वराज' लिखा जा रहा है)। अभी तक अगर हम इस विषय पर ज़्यादा तेज नहीं बोले, तो इसलिए कि, ऐसे तेज बोलना हमारा सामान्य स्वभाव नहीं है और शील भी नहीं है। यह नहीं कि हम किसी स्वार्थ से या डर से अब तक यह सब नहीं बोले। आपके

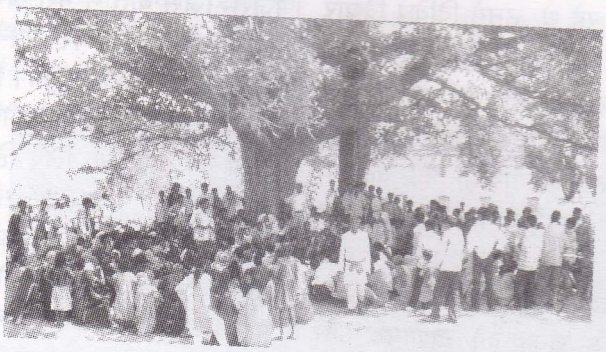

स्थापित स्कूलों और अदालतों को हम निरर्थक मानते हैं। हमें फिर से अपने प्राचीन विद्यालय और अपने पारम्परिक न्यायालय चाहिए। उनको पुनः स्थापित किया जाना चाहिए। भारत की सामान्य भाषा हिन्दी है, अंग्रेज़ी नहीं। इसलिए आपको हिन्दी सीखनी चाहिए। हम आपसे केवल हिन्दी में ही संवाद कर सकेंगे।'

अब इन अत्यन्त स्पष्ट कथनों को जो नहीं समझते हैं, उन्हें कृपा कर 'हिन्द स्वराज' पर चर्चा से विरत रहना चाहिए। एक तो अपने को गांधीवादी कहने वाले कुछ लोगों ने 'हिन्द स्वराज' का हिन्दी में अनुवाद ऐसी निस्तेज और रद्दी भाषा में किया है, कि जिससे गाँधी जी की तेजस्विता पूरी तरह दब गई है। वस्तुतः हिन्द स्वराज का एक सही हिन्दी अनुवाद अत्यन्त आवश्यक है। मैं स्वयं वह कार्य करने का इच्छुक हूँ।

'हिन्द स्वराज' का प्रतिपाद्य भारत में धर्म की और धर्ममय राज्य की प्रतिष्ठा है। इससे भिन्न कुछ भी नहीं। जो इस प्रधान प्रतिपाद्य से कतराते हैं, उनके भीतर गाँधी जी के प्रति श्रद्धा नहीं है। यह हो सकता है कि उनकी श्रद्धा किन्हीं यूरो–क्रिश्चियन आदर्शों में हो या कम्युनिज़्म में हो, या फिर उनकी श्रद्धा केवल काल–यापन में हो। समय बिताने के लिए या यों ही किसी ईसाई मिशनरी अथवा किसी नेहरूवादी आदि को तृप्त करने के लिए और बदले में कुछ पाने के लिए जो लोग 'हिन्द स्वराज' पर चर्चा करना चाहें, उन्हें इससे विरत रहना चाहिए। गाँधी जी के आदर्शों पर, सत्यनिष्ठा, धर्मनिष्ठा, रामभक्ति, गौ–रक्षा, समस्त प्राणियों के प्रति प्रेम, समस्त प्राणियों के प्रति द्वेष और द्रोह का अभाव, संयमित जीवन, अधिक संग्रह से विरति, अमर्यादित भोग से विरति आदि पर जिनकी निष्ठा नहीं है, वे 'हिन्द स्वराज' पर चर्चा करने के अधिकारी नहीं हैं।

✦✦✦

*सी–165/1, प्रोफेसर्स कॉलोनी,
भोपाल

विमर्श-२

एक देशभक्त युवक के विचार हैं 'हिन्द स्वराज' में

– प्रो. कुसुमलता केडिया*

"३९ वर्ष का एक युवक से प्रौढ़ हो रहा देशभक्त व्यक्ति, जो देश की पराधीनता से परेशान है, विचलित है तथा भारत को स्वाधीन देखने को छटपटा रहा है और जिस रास्ते से स्वाधीनता आते देख रहा है, उस रास्ते के बारे में युक्तियुक्त विचार प्रस्तुत करना ही 'हिन्द स्वराज' का प्रयोजन है।"

इन दिनों 'हिन्द स्वराज' का शताब्दी वर्ष मनाया जा रहा है। उसे बहुत से लोग कुछ इस तरह प्रस्तुत कर रहे हैं, मानो वह मार्क्स के पूँजी या कम्युनिस्ट घोषणा–पत्र जैसा कुछ हो। मानो वह किसी वृद्ध विचारक की अत्यन्त परिपक्व और अन्तिम रूप से रची गई रचना हो। यह तो सही है कि 'हिन्द स्वराज' में व्यक्त गाँधी जी के विचार अत्यन्त परिपक्व हैं और वृद्धावस्था तक उनको बदलने की कोई भी ज़रूरत उन्हें नहीं पड़ी। इस अर्थ में निश्चय ही वे परिपक्व विचार हैं। परन्तु एकेडमिक्स में जिसे पूरे विस्तार और गहराई से, विविध आयामों पर सुचिन्तित ग्रन्थ रचना कहते हैं, उसकी तरह 'हिन्द स्वराज' को प्रस्तुत करना, उचित नहीं है। क्योंकि गाँधी जी ने स्वयं उसकी भूमिका में यह स्पष्ट कर दिया था कि इस पुस्तक में जो विचार रखे गये हैं, वे विलायत में हिन्दुस्तानियों से हुई बातचीत और साथ ही भारत के विषय में अंग्रेज़ों से हुई बातचीत के सन्दर्भ में जो विचार मुझे ज़रूरी लगे, उनकी ही प्रस्तुति है। इसी प्रकार, 'इण्डियन ओपीनियन' के पाठक जिस तरह के प्रश्न करते थे, और देश के बारे में जो कुछ सोचते थे, उसमें अपनी ओर से जो सुधार सुझाना गाँधी जी को ज़रूरी लगा, वे भी इस पुस्तक में हैं। अतः स्पष्ट है कि 39 वर्ष का एक युवक से प्रौढ़ हो रहा देशभक्त व्यक्ति, जो देश की पराधीनता से परेशान है, विचलित है तथा भारत को स्वाधीन देखने को छटपटा रहा है और जिस रास्ते से स्वाधीनता आते देख रहा है, उस रास्ते के बारे में युक्तियुक्त विचार प्रस्तुत करना ही 'हिन्द स्वराज' का प्रयोजन है। अंग्रेज़ी राज्य के पक्ष में उसके उत्साही समर्थक, जिनमें भारतीय और अंग्रेज़ दोनों शामिल हैं, जो तर्क रखते हैं, उनका उत्तर इसीलिए दिया जाना आवश्यक है। सो गाँधी जी ने इस पुस्तक में किया है।

गाँधी जी के जीवन काल में इस पुस्तक का मूल गुजराती रूप तो छपा ही था, उनकी देखरेख में इसका अंग्रेज़ी अनुवाद भी छपा था। हिन्दी अनुवाद गाँधी जी देख नहीं पाये और हिन्दी अनुवाद जिन लोगों ने किया, वे बौद्धिक दृष्टि से अत्यन्त कमजोर लोग हैं। उनके मन में एक तो हिन्दुस्तानी के नाम पर अरबी और फ़ारसी के शब्दों की भरमार करने का भयंकर मोह है और दूसरे गाँधी जी से ज़्यादा अपनी बात कहने का अहंकारपूर्ण आग्रह है। इसीलिए उन्होंने 'हिन्द स्वराज' के हिन्दी अनुवाद में बहुत सारे अनावश्यक शब्द भर दिये हैं, विचारों को तोड़–मरोड़ दिया है और जहाँ वाक्यों के अनुवाद यथावत देने आवश्यक थे, वहाँ ग़ैर–ज़रूरी कंजूसी बरती है। यह मानना मुश्किल है कि यह सब अनजाने हुआ है। अगर हुआ है, तब तो अनुवादकों और प्रकाशकों की मूढ़ता और भी भयंकर है। अगर अनजाने नहीं हुआ है, तो भी मूढ़ता सिद्ध है, क्योंकि उनमें से कोई भी गाँधी जी से बड़ा नहीं है और इसलिए उसे ऐसा कुछ नहीं सोचना चाहिए, कि गाँधी जी अपनी बात ठीक से नहीं कह सके होंगे, इसलिए मैं अपनी ओर से कुछ जोड़कर उनकी बात को सुधार कर रख दूँ। गाँधी जी जैसे महापुरुष को सुधारने का दम्भ दयनीय है।

'हिन्द स्वराज' को पढ़ने के लिए जहाँ तक हो या तो मूल गुजराती पढ़ना चाहिए या अंग्रेज़ी। हिन्दी संस्करण को सामने रखकर न तो कोई बात की जानी चाहिए और न ही हिन्द स्वराज को समझने के लिए हिन्दी संस्करण पढ़ना चाहिए।

मूल गुजराती और अंग्रेज़ी संस्करण में गाँधी जी ने परिशिष्ट के रूप में दो महत्त्वपूर्ण परिशिष्ट दिये हैं। प्रथम परिशिष्ट में यूरोप के तथा यूनान के दिग्गज मनीषियों की कतिपय पुस्तकों का उल्लेख है। प्लेटो ने सुकरात के बचाव में और उनकी मृत्यु के विषय में जो कुछ कहा है, उसका सार अंग्रेज़ी में पुस्तक रूप में छपा है, उसे 'हिन्द स्वराज' के सन्दर्भ में पढ़ने की संस्तुति गाँधी जी ने की। इसके अतिरिक्त टॉलस्टॉय और थोरो ने यूरोप की आसुरी सभ्यता के विषय में, राक्षसी प्रवृत्तियों के विषय में, दास प्रथा के विषय में, सभ्यता के नाम पर फैल रही बीमारियों के विषय में और सिद्धान्तहीन जीवन के विषय में जो पुस्तकें लिखी हैं, उनमें से टॉलस्टॉय रचित छः पुस्तकें और थोरो की एक पुस्तक तथा रस्किन की दो पुस्तकों का उल्लेख गाँधी जी ने 'हिन्द स्वराज' के वैचारिक पक्ष को समझने के लिए आवश्यक पुस्तकों के रूप में किया है। इसी प्रकार, महान इतालवी देशभक्त मेजिनी ने मनुष्य के कर्त्तव्यों के विषय में जो पुस्तक लिखी है, उसका भी उल्लेख है। शेरार्ड और कारपेंटर की दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का भी उल्लेख है। मेने ने भारत के ग्राम–समुदायों के विषय में अत्यन्त प्रशंसापूर्ण पुस्तक लिखी है, उसका उल्लेख है। साथ ही इस परिशिष्ट में दो अत्यन्त मेधावी भारतीयों के ग्रन्थ का सन्दर्भ – दादाभाई नौरोजी की प्रसिद्ध पुस्तक, जिसमें अंग्रेज़ी राज्य में भारत में फैलायी गयी भयंकर गरीबी का अर्थशास्त्रीय तथ्यों

के साथ विवरण है और महान इतिहासकार तथा देशभक्त रमेशचन्द्र दत्त द्वारा भारत के आर्थिक इतिहास पर दो खण्डों में लिखी गयी अद्वितीय पुस्तक का सन्दर्भ दिया गया है। इनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'हिन्द स्वराज' लिखने के पीछे गाँधी जी के मन में क्या चल रहा था।

"यूरो-क्रिश्चियन सभ्यता को भारत से निकाल बाहर करना हमारी एकमात्र आवश्यकता है, बाकी सब तो उसके बाद स्वतः ठीक हो जायेगा, क्योंकि हमारे भीतर उसे ठीक करने की सहज सामर्थ्य विद्यमान है।"

इसी प्रकार, परिशिष्ट दो में यूरोप के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचारकों के ऐसे गौरवपूर्ण उद्धरण दिये गये हैं, जो भारत की सभ्यता और संस्कृति तथा दर्शन और यहाँ की ग्राम स्वराज की व्यवस्था के विषय में प्रामाणिक रूप से प्रकाश डालते हैं। भारत के ग्रामीणों, किसानों और स्त्रियों के शील तथा संस्कार, भारतीय परिवारों के प्रबन्धन में भारतीय स्त्रियों के अद्‌भुत कौशल और सद्‌व्यवहार तथा भारत के नगरों के अत्यन्त सुशिक्षित और सुसंस्कृत विचारकों की गौरवपूर्ण भूमिका के विषय में ये उद्धरण साक्ष्य हैं।

इन दोनों परिशिष्टों को देखने से ही स्पष्ट हो जाता है कि गाँधी जी का उद्देश्य भारतीय समाज और भारतीय राजनीति तथा भारत की शासन व्यवस्था की सुदीर्घ परम्परा की श्रेष्ठता प्रतिपादित करना है। इसलिए जो मूर्ख 'हिन्द स्वराज' को लेकर रेलगाड़ी, डॉक्टर या वकील या अख़बार आदि के बारे में गाँधी जी की टिप्पणियों को लेकर उलझ जाते हैं, उन पर दया ही की जा सकती है। उन्हें भला क्या समझाया जा सकता है?उन दिनों ब्रिटिश राज्य के भक्तों के पास राज के पक्ष में तर्क देने के लिए और कुछ था ही नहीं, सिवाय इन चार पाँच चीज़ों के गौरव गान के। इसीलिए गाँधी जी ने इन पाँचों चीज़ों के ऐसे पक्षों की ओर भी ध्यान खींचा, जो उनके विषय में सन्तुलित दृष्टि बनाने में सहायक हैं। परन्तु यह तो अत्यन्त स्पष्ट है कि गाँधी जी का मुख्य आग्रह इस बात पर है कि (देखें, शिक्षा अध्याय) 'सबसे पहले भारत में धर्म की शिक्षा दी जानी चाहिए और उसे भारत की शिक्षा व्यवस्था में सर्वोपरि स्थान दिया जाना चाहिए।'

इस बात को अगर गाँधी जी के अन्य कथनों के सन्दर्भ में समझना आवश्यक हो, तो असहयोग आन्दोलन के दौर में बार-बार दिये गये उनके इस तर्क को स्मरण कर लेना चाहिए कि संसार का प्रत्येक धर्म अपनी राज्य-व्यवस्था अवश्य बनाता है और उसके ही द्वारा वह गतिशील होता है। उदाहरण देते हुए उन्होंने बार-बार यह कहा था कि- 'ईसाई सभ्यता ईसाई राज्य के द्वारा ही टिकी हुई है। मुस्लिम सभ्यता मुस्लिम राज्य के द्वारा ही टिकी हुई है और हिन्दू धर्म भी हिन्दू धर्म के प्रतिपालक राजाओं के द्वारा आगे बढ़ाया जाता रहा है। बिना राज्य व्यवस्था के धर्म शक्तिशाली हो पाता हो, इसका कोई ऐतिहासिक साक्ष्य नहीं है। इसीलिए हिन्दुओं के पास उनका अपना राज्य होना चाहिए।'

यहाँ यह तथ्य शायद लोग भूल गये हैं कि ब्रिटिश राज्य का तर्क यह था कि ब्रिटिश महारानी अपनी प्रजा को भरपूर संरक्षण देती हैं – चाहे वह किसी भी धर्म की अनुयायी हो। इसलिए हिन्दुओं को अपना शासन लाने की कोशिश नहीं करना चाहिए। बल्कि ब्रिटिश शासन को ही अपना मान लेना चाहिए। यही तर्क वे लोग मुसलमानों को भी देते थे। गाँधी जी ने इस तर्क को सिरे से खारिज कर दिया था।

'हिन्द स्वराज' में धर्म की शिक्षा पर आग्रह के साथ गाँधी जी ने यह भी कहा था कि प्रत्येक भारतीय को अपनी भाषा का ज्ञान होना चाहिए तथा प्रत्येक हिन्दू को संस्कृत का, प्रत्येक मुसलमान को अरबी का और भारत के सभी लोगों को हिन्दी का ज्ञान होना चाहिए। इसी प्रकार, उत्तर और पश्चिम भारत के लोगों को तमिल भाषा सीखनी चाहिए और साथ ही कुछ विशेष रुचि वाले हिन्दुओं को अरबी सीखनी चाहिए, जैसे कि कुछ मुसलमानों और फारसियों को संस्कृत सीखनी चाहिए। सबको भारतीय भाषाओं में ही शिक्षा लेनी चाहिए और अपनी सभी भाषाओं को उन्नत बनाना चाहिए।

गाँधी जी ने यह भी स्पष्ट किया था कि हिन्द महासागर के किनारे पर ही वह कचरा जमा है, जिसे हम गुलामी की भावना कह सकते हैं। केवल किनारा ही प्रदूषित हुआ है। अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे भारतीय ही हिन्द महासागर का वह किनारा हैं, जो प्रदूषित हो गये हैं। उनको ही शुद्ध करने की आवश्यकता है, शेष भारत तो संस्कारी, शुद्ध और पवित्र है। यूरो-क्रिश्चियन सभ्यता को भारत से निकाल बाहर करना हमारी एकमात्र आवश्यकता है, बाकी सब तो उसके बाद स्वतः ठीक हो जायेगा, क्योंकि हमारे भीतर उसे ठीक करने की सहज सामर्थ्य विद्यमान है।

'हिन्द स्वराज' से यही एकमात्र प्रेरणा लेने योग्य है, क्योंकि इसमें सब कुछ समाहित है। यूरो-क्रिश्चियन सभ्यता के अवशेष के रूप में भारत में जो कुछ मानविकी विद्याओं के क्षेत्र में पढ़ाया जा रहा है, शिक्षा के नाम पर वह बासी कचरा है जिससे मुक्त होना आवश्यक है। यूरोप में मानविकी विद्या के क्षेत्रों में भी जो आधुनिकतम ज्ञान-विज्ञान आये दिन प्रकाशित और प्रसारित हो रहा है, उसका कोई भी संज्ञान भारत के ये काल-बाह्य हो चुके शिक्षा संस्थान और जड़बुद्धि से बने हुए संचार माध्यम नहीं ले रहे हैं। ज्ञान के नाम पर केवल अज्ञान की साधना चल रही है। गाँधी जी का समस्त आग्रह ज्ञान और तप पर था। ज्ञानबल तथा आत्मबल से ही हम स्वस्थ रह सकते हैं। 'हिन्द स्वराज' स्वस्थ्य होने का मार्ग दिखाता है।

✦✦✦

*निदेशक, गांधी विद्या संस्थान,
निदेशकीय आवास,
राजघाट, वाराणसी-22100

विमर्श-३

'स्वराज' के दो ध्रुव

रामजी सिंह 'उदयन'*

"जिन्ना के दोनों चेहरे, चाहे वे कट्टरपंथी सांप्रदायिकता के हों अथवा सदाशयी धर्मनिरपेक्षता के हों, वास्तव में चेहरे नहीं मुखौटे हैं। आप असलियत को खंगालेंगे तो यही पायेंगे कि यह शख्स अपने इन अलग-अलग मुखौटों के जरिये सिर्फ भ्रम पैदा कर रहा है।"

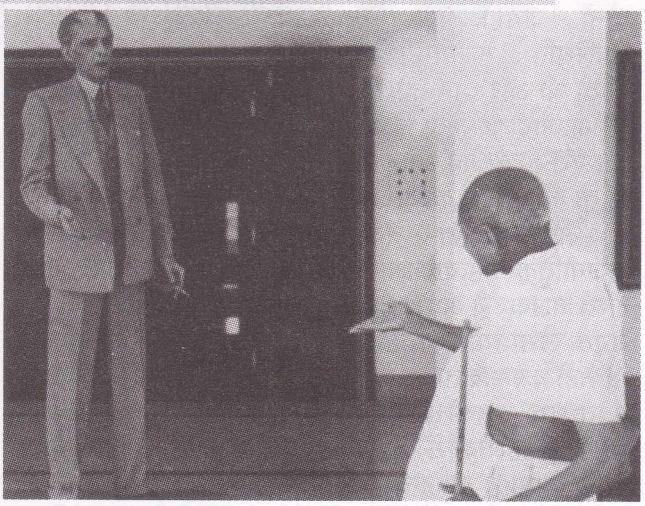

यदि जिन्ना के व्यक्तित्व का गहराई से अध्ययन किया जाय तो आश्चर्यजनक रूप से कई विरोधाभास, सामने आएँगे। ऐसे विरोधाभास जिन्होंने तत्कालीन ऐतिहासिकता को अंतिम रूप से प्रभावित किया, उभर कर सामने आते हैं। गांधी के व्यक्तित्व के केन्द्र में धर्मनिष्ठा समग्र भाव में प्रतिष्ठित है। इस निष्ठा को वे अपनी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक सोच की आधारशिला भी बनाते हैं। वे इस हद तक धार्मिक हैं कि उनकी राजनीति उसकी छाया से आजीवन मुक्त नहीं हो सकी। फिर भी वे धर्म–निरपेक्ष हैं। उनकी धार्मिकता ही उनकी धर्मनिरपेक्षता की पर्याय है। वे कृष्ण के बाद अकेले महापुरुष हैं, जिन्होंने धर्म को राजनीति की धुरी माना। अतः इस अर्थ में उनकी धर्म–निष्ठा और धर्मनिरपेक्षता में बाल बराबर भी अंतर नहीं तलाश किया जा सकता। इसी अर्थ में गांधी की धर्मनिरपेक्षता धर्म की ही परिसीमा और फलश्रुति है। वे जीवन भर इनके लिए जीते रहे और अंत में अपनी इसी अवधारणा की बलिवेदी पर शहीद भी हो गये। एक अर्थ में इसे किसी अवधारणा से भी बड़ी चीज मानना होगा, क्योंकि उनके जीवन में यह सिर्फ विचार बनकर नहीं आई थी, अपितु इसका पूरा विन्यास ही उनका जीवन था। यह उनकी उपलब्धि भी नहीं थी, क्योंकि इसे गांधी ने किसी यात्रा–विकास के क्रम में अर्जित नहीं किया था। यह सहज रूप में उनकी आत्मचेतना का संस्कार था।

गांधी के ठीक विपरीत मुहम्मद अली जिन्ना उस शख्सियत का नाम है, जो अपनी अवधारणा में पूरी तरह विभाजित है। वह एक कोण पर धर्मनिरपेक्ष दिखाई देते हैं, तो दूसरे कोण पर उनकी सांप्रदायिकता भी उसी रूप में मुखरित होती है। यह भी एक अजीब विडम्बना है कि उनकी शुरुआत तो कथित धर्मनिरपेक्षता से होती है, लेकिन अपनी यात्रा के विकासक्रम में वे पहुँच जाते हैं, कट्टर सांप्रदायिकता तक। इस अर्थ में एक बात यह भी ध्यान रखने योग्य है कि उनका कोई भी सत्य आंतरिक नहीं है, अपितु आरोपित है। इस दृष्टि से यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि न वे धर्मनिरपेक्ष हैं और न ही धार्मिक अथवा सांप्रदायिक। मजहब उनके साथ सिर्फ इस हद तक जुड़ा है कि वे एक मुस्लिम परिवार, वह भी जो सिर्फ तीन पीढ़ी पहले हिन्दू से धर्मान्तरित होकर मुसलमान बना था, में पैदा हुआ बाकी उनकी जिन्दगी में उनके मजहब इस्लाम का दखल शून्य प्रतिशत तक ही दिखाई देता है। उन्होंने इस्लामी परंपराओं को अपनी जिंदगी में कभी तरजीह देने की जहमत नहीं उठायी। ऐसी हालत में यह समझना बहुत कठिन नहीं है कि जिन्ना जैसा शख्स, जिसका कोई अकीदा मजहब के दायरे में झलकता ही नहीं, सेकुलर' नहीं होगा तो क्या होगा? इस हालत में उनकी जिंदगी की उपरी तह उघाड़ने वाले लोग उनमें धर्मनिरपेक्षता की झलक देखते हैं, तो उन्हें गलत भी किस लिहाज से ठहराया जा सकता है? जिन्ना के दोनों चेहरे, चाहे वे कट्टरपंथी सांप्रदायिकता के हों अथवा सदाशयी धर्मनिरपेक्षता के हों, वास्तव में चेहरे नहीं मुखौटे हैं। आप असलियत को खंगालेंगे तो यही पायेंगे कि यह शख्स अपने इन अलग–अलग मुखौटों के जरिये सिर्फ भ्रम पैदा कर रहा है। इस संदर्भ में उसकी वास्तविकता को बहुत गहराई में झाँक कर देखना होगा। वास्तविकता यह है कि जिन्ना अत्यंत कुशाग्र बुद्धि, प्रतिभावान और अपने मनोरथों की सिद्धि के लिए किसी भी सीमा तक जाने वाले क्रूर, कुटिल तथा महत्वाकांक्षी राजनीतिज्ञ हैं। गांधी और जिन्ना की शख्सियत का खुलासा अगर इस रूप में किया जाए कि गांधी राजनीति में कुछ देने आये थे, लेने नहीं और जिन्ना कुछ लेने आए थे, देने नहीं, तो हो रही सारी वहसों की पेंचीदगी को बहुत आसानी से खोला जा सकता है। जिन्ना का पूरा व्यक्तित्व सिर्फ एक ही धुरी पर घूमता है कि वे शुद्धतः महत्वाकांक्षी हैं, मतवादी नहीं। अगर किसी मतवाद

के दायरे में जिन्ना का आकलन होगा तो उनकी पहचान मुश्किल हो जायेगी इससे कौन इन्कार कर सकता है कि उस युग की राजनीति में कांग्रेस और मुस्लिम लीग दो विपरीत ध्रुव थे। लेकिन जिन्ना दोनों को एक साथ साधते थे। यह अचंभित करने वाला तथ्य है कि सन् 30 के पहले वे दोनों के ही सम्मेलनों में भाग लेते थे, दोनों जगहों पर उनकी उपस्थिति गरिमामय मानी जाती थी और दोनों ही स्थानों पर ये अपनी तकरीरों में देश की आजादी के लिए हिन्दू–मुस्लिम एकता का राग अलापते थे। ऐसे जिन्ना को अगर कोई इतिहासकार 'सेकुलर' मानता है, तो क्या गलत करता है?

"उनकी राजनीतिक महत्वाकांक्षा उन्हें यह समझाती रही कि इस रास्ते चलकर वे अपनी हैसियत नंबर एक की बना सकते हैं। उनके जैसा व्यक्तित्व नंबर दो होना किसी हालत में स्वीकार भी नहीं कर सकता था। लेकिन उस रास्ते पे ज्यों–ज्यों आगे बढ़ते गये, उनकी महत्वाकांक्षा का स्वप्नलोक धुंधला होता गया।"

लेकिन यह तभी तक संभव हो सका, जब तक उनकी राजनीतिक महत्वाकांक्षा उन्हें यह समझाती रही कि इस रास्ते चलकर वे अपनी हैसियत नंबर एक की बना सकते हैं। उनके जैसा व्यक्तित्व नंबर दो होना किसी हालत में स्वीकार भी नहीं कर सकता था। लेकिन उस रास्ते पे ज्यों–ज्यों आगे बढ़ते गये, उनकी महत्वाकांक्षा का स्वप्नलोक धुंधला होता गया। इतिहासकारों के लिए एक शोध का विषय हो सकता है कि जिन्ना ने ताजिन्दगी अगर किसी एक व्यक्ति को अपना प्रबल प्रतिद्वंद्वी माना, तो वह गांधी थे। उनकी हर कोशिश गांधी से आगे निकलने अथवा उनके समानान्तर चलने की समझ में आती है। जिन्ना के राजनीतिक जीवन के शुरुआती लगभग तीस साल गांधी को 'धर्मनिरपेक्षता' के मुद्दे पर पीछे छोड़ने के प्रयास में गुजरे हैं। लेकिन वे गांधी को पछाड़ नहीं सके, क्योंकि गांधी की 'धर्मनिरपेक्षता' विधायक थी और जिन्ना की शुद्ध राजनीतिक थी और जिन्ना की शुद्ध राजनीतिक होने के कारण नकारात्मक। यूँ एक सच यह भी है कि गांधी सेकुलरिज्म, जिसका हिन्दी अनुवाद धर्मनिरपेक्षता के तौर पर किया गया, को अपनी 'सर्वधर्मसमभाव' की अवधारणा से सिर्फ बहुत छोटा ही नहीं, अर्थहीन भी मानते थे।

यह भी एक ऐतिहासिक तथ्य है कि सन् 31–32 में जिन्ना–इकबाल की मुलाकात के पहले तक जिन्ना ने कभी बंटवारे की बात नहीं की, बल्कि वे इसे बकवास से अधिक कुछ अधिक मानते भी नहीं थे। देश के बँटवारे के प्रति जिन्ना को राजी करने का काम सर अल्लान इक़बाल ने किया है, यह वही शायर इकबाल है जिन्होंने सारे जहाँ से अच्छा हिन्दुस्ताँ हमारा' का कौमी तराना सन् 1904 में इस मुल्क को दिया था, जो बँटवारे के बाद भी आजाद भारत का कौमी तराना बना हुआ है। कहने को ये बहुत छोटी–सी घटना थी, लेकिन इसने देश को एक निर्णायक मोड़ दे दिया यह वही मोड़ है, जहाँ से आगे बढ़ने के लिए जिन्ना ने अपने 'सेकुलरिज्म' का लबादा उतार फेंका और 'कम्युनलिज्म के रास्ते बेखटक आगे बढ़ चले। इससे पहले तक जिन्ना सिर्फ मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचन और कुछ अन्य सहूलियतों की बात करते थे, लेकिन इसके बाद उन्होंने बे–लाग कहना शुरू कर दिया कि इस देश में हिन्दू और मुसलमान दो अलग–अलग राष्ट्रीयता हैं, जो एक साथ नहीं रह सकती अतः दोनों के लिए अलग–अलग मुल्क निर्धारित कर दिये जाने चाहिए। जिन्ना के इस बदलाव ने मुसलमानों के हक में आवाज उठाने वाले और मजहबी बुनियाद पर देश के बँटवारे की मांग करने वाली मुस्लिम लीग के कट्टरपंथी नेताओं को एक नयी ताकत दे दी। वजह साफ कि उसके पास लक्ष्य तक ले जाने वाला कोई नेतृत्व नहीं था। यही कारण है कि इन सभी कट्टरपंथी मजहबी लोगों ने बेहिचक एक ऐसे शख्स की रहनुमाई कबूल कर ली, जिसकी जिंदगी में मजहब जैसी किसी चीज का कोई वजूद ही नहीं था। जो लोग देश के बँटवारे के गुनाह से जिन्ना को बरी करना चाहते हैं, उन्हें 47 से पहले 46 के इतिहास पर भी एक नजर डालनी चाहिए। जब इस शख्स ने बँटवारे के मुतलिक 'सीधी कार्यवाही' का ऐलान कर बंगाल और पंजाब को भीषण दंगे की आग में झोंक दिया था और जिसके चलते हजारों की संख्या में हिन्दू मुसलमानों को अपनी जान गँवानी पड़ी थी। उन्होंने जो कुछ किया, उसका अर्थ बस एक ही निकाला जा सकता है कि 1946 का 'डायरेक्ट एक्शन' बँटवारा विरोधियों को धमकाने का प्रयास था, कि हम अलग मुल्क की स्थापना ताकत के बल पर भी करने में समर्थ है। इसे बहुत संजीदगी से समझने की जरूरत है कि इस एक घटना ने बँटवारा–विरोधियों के निश्चित रूप से वे कांग्रेस के ही लोग थे और जिन्हें आज देश के बँटवारे के लिए जिन्ना से भी बड़ा जिम्मेदार माना जा रहा है, हद दर्जे तक हतोत्साहित किया। वे यह मान बैठे कि अब मुल्क के बँटवारे को रोका नहीं जा सकता। अकेला गांधी था, जो इसे अंतिम साँस तक खारिज करता रहा। इन तमाम स्थितियों परिस्थितियों का आकलन सिर्फ यही तथ्य उजागर करता है कि जिन्ना का और कुछ होना विवादास्पद हो सकता है, लेकिन महत्वाकांक्षी होना हर रूप में निर्विवाद है। उनमें कोई वाद अथवा सिद्धांत नहीं ढूँढा जा सकता। जो भी रास्ता उन्हें मंजिल तक पहुँचाता समझ में आया, उस पर चलना उन्होंने बेहिचक कबूल किया। उनकी मंजिल एक ही थी कि उन्हें उस इतिहास में नंबर एक की हैसियत चाहिए थी।

✦✦✦

*समाचार–संपादक
दैनिक–'हिन्दी मिलाप'
आन्ध्र प्रदेश

विमर्श-४

'हिन्द स्वराज' के पन्नों से

अनूप पति तिवारी*

"इस छोटी सी पुस्तक की रचना गांधी जी ने तब किया था जब वे इस देश के संघर्ष की मुख्य धारा में नहीं थे। न ही वे विधाता के इस विधान को जानते थे, कि वे इस पुस्तक में वर्णित सिद्धांतों का प्रयोग अपने देश को आजाद करने में करेंगे।"

वर्ष 2009 को जब विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं चैनलों तथा विद्वानों ने 'हिन्द स्वराज' के शताब्दि वर्ष के रुप में संज्ञान किया तो गांधी के कृत्य और कथ्यों की चर्चा होने लगी है। 1909 में गांधी जी द्वारा लिखित छोटी सी पुस्तक 'हिन्द स्वराज' एक सामान्य आध्यात्मिक बोध और उच्च बौद्धिक प्रवेश द्वारा पाठक के हृदय में पैठ बना लिया है।

यदि आपको पत्र–पत्रिकाओं में रूचि है तो आपको याद होगा कि देश की एक प्रतिष्ठित पत्रिका में तीन या चार साल पहले गांधीजी के बारे में एक लेख छपा था, जिसमें गांधी जी के निजता के बारे में यह दावा किया गया कि उनका सत्य का प्रयोग कई बार असफल हुआ था। इस तरह की बहसों को कुछ लोग भले ही अर्द्धसत्य मानते हों, लेकिन अतीत के किसी भी तथ्य पर संदेह होने मात्र से उस तथ्य की प्रामाणिकता संदिग्ध हो जाती है, क्योंकि चरित्र का सत्यापन अब नहीं किया जा सकता। इन कुतर्कों के वितर्क से कोई खीझ कर यदि यह कहे कि **'प्रकृतिं यानि भूतानि निग्रहं किं करिष्यति।'** (अर्थात् प्राकृतिक वस्तुओं का स्वभाव ही ऐसा है कि इसका पूर्ण निग्रह नहीं किया जा सकता)। तो भी मैं ऐसा कभी नहीं कह सकता। कभी भी नहीं।

इतिहास का यदि गम्भीर अध्ययन नहीं है तो भी आजादी के पूर्व के अनेकों महापुरुषों में से गांधी एक थे, ऐसा कहते हुये हम पाये जाते हैं। या फिर एक ऐसा महापुरुष जो देश को आजाद कराने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाया– ऐसा सोचते है। अधिक समझें, तो कहते हैं कि वे नितान्त मौलिक व्यक्ति थे। इस देश का दुर्भाग्य है कि उन्हें इसी देश के एक दिग्भ्रमित ने गोली मारकर हत्या कर दी।

यदि जिज्ञासा और बढ़ी तो उनके हत्या के कारणों पर या फिर गांधीजी के सामर्थ्य पर अपने खण्डित तर्क बुद्धि का प्रयोग भ्रामक ब्योरों तथा कुतर्कों की कल्पना करना आज के अधिकांश युवाओं का फैशन बन गया है।

मैं किसी को कोस नहीं रहा हूँ। इसका एक कारण है। तब में और अब की राष्ट्र की दशा में अन्तर है। तब भारत का नवनिर्माण हो रहा था और जब कोई चीज निर्मित होती है तो उसकी बड़ी–बड़ी मांगें होती हैं। राष्ट्रवादी के रूप में महान प्रतिभाओं ने राष्ट्र निर्माण में अपना योगदान दिया था। उनके लिए राष्ट्र ही सर्वोच्च मूल्य था। वे अन्य किसी भी महान आविष्कार और किसी उच्च मूल्यों की स्थापना में अपना योगदान नहीं दे सकते थे, क्योंकि किसी पराधीन राष्ट्र को अपना पृथक अस्तित्व उपब्लध करने के लिए किये गये संघर्षों में किसी भी विशालतर हित को एक आने वाली दूर की वस्तु के तौर पर ही सामने रखा जा सकता है।

यदि गांधीजी एक सामान्य व्यक्ति थे तो भी उस सामान्य व्यक्ति का मन आत्मज्ञान प्राप्त करके समाज उत्थान, में लगा हुआ था। वे आत्मा की स्वतन्त्रता और सत्य के पुजारी थे। उन्हें मूलतः इसी दृष्टि से देखना चाहिए। भले ही वे एक उच्चकोटि के परम्परागत सन्यासी नहीं हुए; लेकिन अपने कार्यों से एक विशिष्ट राजनैतिक और व्यावहारिक चरित्र के तो हो ही गये थे। इस बात को कोई भी इंकार नहीं कर सकता। गांधीजी जीवन भर आत्मत्याग का तलवार लिए हुए दक्षिण अफ्रिका से भारत तक ईश्वर प्रेम में राष्ट्रप्रेमी बनकर स्वराज के लिए तड़पते रहो पृथ्वी पर ईश्वर का राज्य कायम करने के लिए दो ही रास्ते दिखते हैं– हिंसा और अहिंसा। गांधी के जीवन में यदि सत्य का संस्पर्श नहीं होता तो वे अहिंसा का मार्ग कैसे चुनते? जिसे महावीर, बुद्ध, ईसा ने चुनकर मानवता की मुक्ति का प्रयांस किया था।

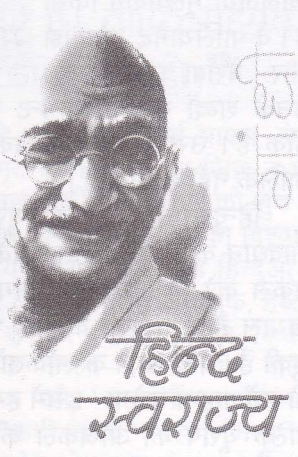

स्वराज की संकल्पना को गांधी ने अपने एक छोटे से ग्रन्थ 'हिन्द स्वराज' में प्रश्नावली के माध्यम से प्रस्तुत करते हुए कहा था, "यह हिन्दुस्तान के स्वराज मात्र के लिए नहीं है। बल्कि अध्यात्मिक स्वराज के लिए है।" पुस्तक के शुरूआती अध्याय में ही चर्चा है कि, "हिन्दुस्तानियों में अपना राज्य कायम करने की सपना कांग्रेस द्वारा दिखाया गया है। कांग्रेस ने हिन्द को स्वराज्य का रस चखाया है। इसका जस कोई और लेना चाहेगा तो ठीक नहीं है, और हम भी ऐसा माने तो बेकदर ठहरेंगे।" बंग–भंग की आलोचना के माध्यम से कहते है; 'बंग–भंग' को रद्द करने की मांग स्वराज्य की मांग है, क्योंकि उन्हें यह पता था कि सभी को स्वतंत्रता आपस में तोड़ने से नहीं बल्कि जोड़ने से प्राप्त होती है, और टूटे हुए अशांत बंगाल में शांति की शक्यता की चर्चा करते हुए वे स्वराज्य क्या है? को प्रश्नोत्तर शैली के माध्यम से स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। हिन्दस्वराज में देश में अंग्रेज रहे या जाँय, हमारे साथ अच्छा व्यवहार करें या हम स्वयं शक्तिशाली होकर उन्हें शक्ति द्वारा देश से निकाल दें, गांधी इसे स्वराज्य प्राप्ति नहीं मानते। गांधीजी का निहितार्थ यह हुआ कि 'आपको अंग्रेजी राज्य तो चाहिए पर अंग्रेज नहीं। आप बाघ का स्वभाव तो चाहते हैं लेकिन बाघ नहीं चाहते । मतलब यह हुआ कि आप हिन्दुस्तान को अंग्रेज़ बनाना चाहते हैं, और हिन्दुस्तान जब अंग्रेज बन जायेगा तब वह हिन्दुस्तान नहीं रह जायेगा, लेकिन सच्चा इंग्लिशतान कहा जायेगा यह मेरी कल्पना का स्वराज्य नहीं है। 'इग्लैंड

की हालत' और सभ्यता के दर्शन में गांधीजी ने आधुनिक लोकतांत्रिक राज्यव्यवस्था तथा पाश्चात्य सभ्यता का कालजयी मूल्यांकन किया है। वे पार्लियामेंट को बांझ और बेसवा कहते हैं। उनके शब्दों में 'पार्लियामेन्ट को मैंने बेसवा कहा, वह भी ठीक है। उसका कोई मालिक नहीं है। उसका कोई एक मालिक नहीं हो सकता।'

"हिन्द स्वराज्य संसार को पुनःनिर्मित करने की स्वप्न-कथा नहीं है। ये तो हम हैं जो आज न तो स्वराज्य न हीं पर्रराज्य, न सत्याग्रह और न हीं दुराग्रह की जरूरत मानते हैं। क्योंकि हम भ्रमाग्रह में जी रहे हैं।"

हिन्दुस्तानी प्रजा को युरोपीय सभ्यता के दुर्गुणों से सावधान करते हुए कहते हैं कि 'हिन्दुस्तान अंग्रेज प्रजा की नकल करे तो हिन्दुस्तान पागल हो जाये ऐसा मेरा पक्का खयाल है।' गांधीजी की यह भविष्यवाणी अक्षरशः सत्य हो चुकी है। यदि आज के लोकतांत्रिक प्रणाली की अन्विक्षा करे तो हमें कहना पड़ेगा ' इसमें हमारा कोई खास कसूर नहीं है, बल्कि यूरोप की आजकल की सभ्यता का कसूर है। यह सभ्यता नुकसानदेह है और इससे भारत की प्रजा पागल होती जा रही है। 'हिन्दुस्तान कैसे गया', 'हिन्दुस्तान की दशा' शिर्षकों में गांधी जी हिन्दुस्तानियों की विफलता और पाश्चात्य सभ्यता का भारत पर पड़ने वाले दुष्प्रभाव में हिन्दू–मुस्लिम भेद, रेलगाड़ी, वकील, डॉक्टर इत्यादि का खबर लेते हैं। इन प्रसंगों को यदि सावधानी से नहीं पढ़ा गया तो ये हमारे अन्दर भ्रम पैदा करते हैं। क्योंकि शब्दों और वाक्यों को पकड़ कर हम हिन्दस्वराज्य की मूल भावों को नहीं समझ सकते। उसके भावों को पकड़ने के लिए हमें अपने को उस भावभूमि पर प्रतिस्थापित करना होगा। जिसपर प्रतिष्ठित होकर सत्य के प्रति संवेदनशील कोई भी व्यक्ति अपने जीवन में धर्मंचर द्वारा लोककल्याण में आत्म–दर्शन करता है। जब तक ऐसा नहीं हो जाता तब तक अपनी भाषा में तथा अपनी धारणा के अनुसार उसे समझने तथा उन शब्दों का अर्थ निकालने के हमारे सारे प्रयत्न एक स्थूल भ्रांति एवं विकृति में परिणत हो जायेंगे।

सत्याग्रह की अवधारणा द्वारा गांधी ने 'शठं प्रतिशाठ्यम' (जैसा को तैसा) के बदले शठं प्रति सत्यम् की प्रति–रीति को सुझाते हुए सभ्यता के आधारभूत तत्त्व सत्य और अहिंसा द्वारा प्रेम का ऐसा पाठ पढ़ाया जो कभी असफल नहीं होता। इस वर्ष गांधी जयन्ती पर हिन्द स्वराज्य की चर्चा प्रासंगिक हो जाता है। क्योंकि इस छोटी सी पुस्तक की रचना गांधी जी ने तब किया था जब वे इस देश के संघर्ष की मुख्य धारा में नहीं थे। न ही वे विधाता के इस विधान को जानते थे, कि वे इस पुस्तक में वर्णित सिद्धांतों का प्रयोग अपने देश को आजाद करने में करेंगे। यह तो इतिहास का एक संयोग है कि हिन्द स्वराज्य में जिन लक्षणों की चर्चा हुई थी, उसकी क्रियान्विति हिन्दुस्तान के स्वतन्त्रता संघर्ष में हुआ। जबकि हिन्द स्वराज्य में हिन्द देश के अंग्रेजी राज्य से समाप्त करने का किसी ऐसे एजेण्डे का उल्लेख नहीं था, बल्कि उसके पन्नों पर अंकित था– युगों–युगों की ऋषियों की तपस्या से प्राप्त प्रज्ञा की अन्विति। पुस्तक के प्रस्तावना में ही गांधी ने लिखा है "मैंने जो विचार यहाँ रखे हैं, वे मेरे हैं और मेरे नहीं भी हैं। वे मेरे हैं, क्योंकि मैं उनके मुताबिक बरतने की उम्मीद करता हूँ, वे मेरी आत्मा में गढ़े–जड़े से हैं। वे मेरे नहीं हैं, क्योंकि सिर्फ मैंने सोचा ऐसी बात नहीं। प्रस्तावना की इन पंक्तियों से परिलक्षित होता है कि 1909 के पहले ही गांधी के जीवन में धर्म तत्त्व का प्रवेश हो गया था, और उनकी चेतना विश्व की सम्पूर्ण सत्ता से एकाकार हो गयी थी।

आध्यात्मिक अनुभूति वाले व्यक्तियों के जीवन–तथ्यों की किसी अस्पष्टता का लाभ उठाकर विश्लेषण करने वाले आलोचक बुद्धि वालों का यह प्रयत्न मुझे एक ऐसे बच्चे का निरर्थक बकवास लगता है, जो अपनी अभ्यासगत धारणाओं के बीच बड़ों का जीवन ढालने का कोशिश करता है। या फिर ये अज्ञानी मन की भारी भूले हैं, जो एक महान व्यक्ति के परिश्रमों का एक विरोधी के रूप में आलोचना करना अपना कर्तव्य समझते हैं। इस निरर्थक चेष्टा से कोई वास्तविक अर्थ प्राप्त नहीं होता, और उसका आन्तरिक सार भी छूट जाता है।

गांधी अपने स्वराज्य में पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति के बदले भारतीय पद्धति को प्रस्तावित करते हैं। संभवतः इसके उद्देश्य–"स्वास्थस्यऽस्वथ्य कारणं च निवारणं च" के कारण। 'ए गाइड टु हेल्थ' नामक पुस्तक में भारतीय चिकित्सीय औषधि प्रयोग की प्राकृतिक विधि की चर्चा किये हैं। लेकिन मैं गांधीजी द्वारा पाश्चात्य परम्परा के सफल औषधियों को भी हठ पूर्वक अस्वीकृत करने के आग्रह को उचित नहीं मानता, क्योंकि इस तरीके से स्वराज्य द्वारा पुरानी सरलता की ओर लौटने का आह्वान सामान्य लोगों में प्रगति को अस्वीकार करने के भाव और विज्ञान को नकारने की इच्छा जगा देती है।

अतः हिन्द स्वराज्य संसार को पुनःनिर्मित करने की स्वप्न–कथा नहीं है। ये तो हम हैं जो आज न तो स्वराज्य न हीं पर्रराज्य, न सत्याग्रह और न हीं दुराग्रह की जरूरत मानते हैं। क्योंकि हम भ्रमाग्रह में जी रहे हैं। हमारे पास वह दृष्टि अभी भी नहीं आयी है, कि जिसे गांधी अंग्रेजियत कहते थे। उसे हम मायावी संस्कृति मानकर अस्वीकार कर सकें। क्योंकि हम खुद ही छद्म अंग्रेज हो गये है। अभी तक मुक्ति तो हमें सिर्फ राजनीतिक दासता से ही मिली है। इसीलिए स्वराज्य की लड़ाई आज भी जारी है, और ऐसे में जो लोग आत्म–अन्वेषण में अपनी रूचि रखते हैं, उन्हें हिन्द स्वराज्य की पुस्तक सदैव प्रेरणा प्रदान करती रहेगी। ✦✦✦

*शोध–छात्र
दर्शनशास्त्र एवं धर्म विभाग
का.हि.वि.वि., वाराणसी

विमर्श-५

महमूद गजनवी और रोमिला थापर

शंकर शरण*

"रोमिला थापर की इस असमाप्त खोज की नवीनतम कड़ी है उनकी पिछली पुस्तकः 'सोमनाथः मेनी वॉयसेज ऑफ ए हिस्ट्री। इसमें थापर ने अनेक अनुमानों, संभावनाओं, किंवदंतियों को इकट्ठा किया है। ताकि महमूद के माथे से सोमनाथ विध्वंस का कलंक (या शोहरत) हटाने का उपाय हो।"

विश्व प्रसिद्ध लेखक सर विद्याधर नायपॉल ने इस्लामी समाजों और इतिहास का विशेष अध्ययन किया है। उन्होंने भी ब्रिटिश भारतीय लेखक फारूख ढोंढी को एक इंटरव्यू में कहा था कि रोमिला थापर जैसे इतिहासकार भारत में मुस्लिम आक्रमणकारियों के कारनामों पर "राजनीतिक उद्देश्यों से झूठ लिखते रहे हैं" (द एसियन एज, 9 अगस्त 2001)।

सर नायपॉल यह देखने वाले अकेले नहीं। बहुत पहले, डॉ. कर्ण सिंह जब इंदिरा गांधी की कैबिनेट में मंत्री थे, तब एक बार उन्होंने अपने मित्र रोमेश थापर से इसकी शिकायत की थी कि उनकी बहन रोमिला थापर "अपने इतिहासलेखन से भारत को नष्ट कर रही हैं"। इस पर उनकी रोमेश से तकरार भी हो गई। यह 1980 की बात है और एक प्रत्यक्षदर्शी वर्णन है, जिसे स्वयं रोमिला थापर की भाभी और अत्यंत विदुषी पत्रकार, अंग्रेजी विचार पत्रिका सेमिनार की संस्थापक, संपादक व समाजसेवी राज थापर ने अपनी आत्मकथा में लिखा है (ऑल दीज इयर्स, पृ. 46–63)। ध्यान देने की बात यह है कि यह वर्णन लिखते हुए राज थापर ने रोमिला थापर का बचाव नहीं किया है। उलटे इस प्रसंग में उन्होंने अपने पति रोमेश को ही कमजोर पाया जो कर्ण सिंह के तर्कों का उत्तर देने के बजाए "केवल भाई" के रूप में उनसे उलझ पड़े थे। इससे संकेत यही निकलता है कि कर्ण सिंह की बात राज थापर को बिलकुल अनुचित नहीं लगी थी। यह तो रोमिला थापर के लेखन पर दो बड़ी हस्तियों के विचार हैं, जिन्हें केवल विषय की गंभीरता को देखते हुए हमने रखा है। किन्तु वास्तव में हम स्वयं परीक्षण कर सकते हैं कि भारत में मार्क्सवादी इतिहासकारों ने मनमानी धाँधली की है। उसका एक मात्र या मुख्य लक्ष्य हिन्दू–विरोध रहा है। हमारे देश के शिक्षा–जगत् को इसे समझना अत्यंत आवश्यक है।

अनेक लेखकों के प्रिय विषय या खब्त भी हुआ करते हैं, जिनके प्रति वे विशेष आग्रही या संवेदनशील होते हैं। हमारे मार्क्सवादी इतिहासकारों के लिए यह और सही है। डी.एन. झा को गोमांस भक्षण विषय पसंद हैं। बिपनचंद्र 'हिन्दू राष्ट्रवाद' सुनते ही भड़क उठते हैं। उन्हें ये शब्द नागवार हैं! उसके बदले 'हिन्दू सांप्रदायिकता' बोलिए तो वे प्रसन्न होंगे। हरबंस मुखिया को इस्लाम से ऐसी मुहब्बत है कि उनसे भारत के बारे में पूछिए, वे आपको इस्लाम की खूबियाँ बताने लगेंगे। ऐसी–ऐसी, जो अरब वाले भी नहीं जानते!

इसी तरह रोमिला थापर को गजनी के महमूद से विचित्र मुहब्बत है। दसवीं–ग्यारहवीं सदी का महमूद तारीख में भारत पर सत्रह हमले और सोमनाथ मंदिर के विध्वंस के लिए मशहूर या बदनाम हुआ। पिछले चालीस साल से (रोमिला जी) की पाठ्य–पुस्तक, या इतिहासलेखन, सांप्रदायिकता, हिन्दुत्व आदि पर उनका कोई भाषण, लेख ढूँढना कठिन है जिसमें महमूद का हसरत भरा जिक्र न हो, कि किस तरह उसके साथ नाइंसाफी हुई। थापर को शुरु से ही, शायद जब से उसका नाम सुना तभी से, पक्का विश्वास है कि महमूद को भारतवासियों ने, विशेषकर मूढ़ हिन्दुओं ने गलत समझा। अलबरूनी से लेकर मीनाक्षी जैन तक, हजार साल से इतिहासकारों ने उसका मिथ्या चित्रण किया। महमूद हिन्दुओं का उत्पीड़क, कत्लो–गारत मचाने वाला, मंदिरों–मूर्तियों का विध्वंसक और इस्लामी गाजी नहीं था–इस पर रोमिला जी को कभी संदेह न रहा। किन्तु तब वह था क्या? अलबत्ता इस खोज में थापर जरूर लगी रही हैं।

रोमिला थापर की इस असमाप्त खोज की नवीनतम कड़ी है उनकी पिछली पुस्तकः 'सोमनाथः मेनी वॉयसेज ऑफ ए हिस्ट्री। इसमें थापर ने अनेक अनुमानों, संभावनाओं, किंवदंतियों को इकट्ठा किया है। ताकि महमूद के माथे से सोमनाथ विध्वंस का कलंक (या शोहरत) हटाने का उपाय हो। अपने मिशन में थापर ने ऐतिहासिक तथ्यों की भी परवाह नहीं की। वैसे भी, हजार साल बाद आप किसी तथ्य के बारे में पक्के तौर पर कह ही कैसे सकते हैं? इसलिए थापर के लिए 'सबसे महत्वपूर्ण सवाल' इस प्रकार है। "ठीक–ठीक किस वर्ग ने (सोमनाथ) मंदिर का विध्वंस किया था और कौन वर्ग इससे प्रभावित हुए थे? इन वर्गों के बीच क्या संबंध थे और क्या यह हर ऐसी क्रिया से बदले भी थे? क्या यह मुसलमानों द्वारा हिन्दू मंदिर अपवित्र करने का मामला था या कोई और उद्देश्य था? क्या मजहबी वाहवाही पाने के अलावा किन्हीं और मकसद से ऐसी घटनाओं को जान–बूझकर बढ़ा–चढ़ाकर दिखाया गया?"

इन सवालों को ध्यान से पढ़ें। सवाल रखने के इस तरीके में मनचाहा उत्तर निहित होता है। इसमें अपनी तयशुदा धारणा को 'उत्तर' के रूप में पेश करने के लिए तदनुरूप प्रश्न गढ़े जाते हैं। एक चतुर बौद्धिक किले–बंदी, ताकि सुनिश्चित हो कि उन उत्तरों से बाहर किन्हीं तथ्यों का अस्तित्व नहीं। सो, जाहिर है, महमूद ने अकेले तो सोमनाथ का ध्वंस किया न होगा, वह जरूर कोई वर्ग होगा। तो वह कौन था–उसे सामने लाना चाहिए। महमूद को दोषी बताने की क्या जरूरत? सोमनाथ विध्वंस को मामूली घटना बताने, उसमें महमूद की भूमिका कम करने, यहाँ तक कि उसे अच्छे उद्देश्यों से प्रेरित बताने की गरज से थापर ने बेपर–की को भी ऊँचा स्थान दिया है। इसमें गल्प–लेखन और इतिहास का भेद मिट गया है। थापर ने महमूद के बारे में अंतर्विरोधी कथाओं को भी समान आदर से रखा है। कौन जाने, हिन्दू पाठक किससे कायल हो जाए!

जैसे, यह कि महमूद कोई हिन्दू मंदिर तोड़ने थोड़े ही

आया था। वह तो किसी पूर्व–इस्लामी अरब देवी की मूर्ति ढूँढ़ता आया था जिसे खुद पैगंबर साहब ने नष्ट करने का हुक्म दिया था। जब कहीं वह सोमनाथ मंदिर में रही हो, तो महमूद क्या करता! किसी पाक मुसलमान के लिए हमले का यह कितना बड़ा और उचित कारण है। फिर भी सांप्रदायिक हिन्दू इतिहासकार महमूद को दोषी बताते हैं। कैसे अधम लोग हैं। अब दूसरी कथा सुनिए। महमूद केवल धन लूटने आया था, क्योंकि उसे साम्राज्य–विस्तार करना था। इसके लिए फौज चाहिए थी। फौज के लिए धन चाहिए था। अतः राज्य विस्तार, न कि मंदिर ध्वंस उसका उद्देश्य था। फिर भारत की लूट से उसने गजनी में मस्जिद, और हाँ, लाइब्रेरी भी बनवाई! क्या अब भी कोई उसे दोषी मानेगा? बल्कि हुआ यह हो सकता है कि महमूद के जरखरीद सिपाहियों में हिन्दू भी रहे होंगे। संभवतः सोमनाथ ध्वंस में उन्हीं का मुख्य हाथ हो। यानी, कुछ भी हुआ हो सकता है। अंततः रोमिला जी का निष्कर्ष है कि अगर महमूद ने सोमनाथ मंदिर तोड़ा भी, तो उसके पास इसके ''बहुत बड़े कारण थे''।

"तब तो सचमुच महमूद के प्रति यहाँ भारी अन्याय हुआ! रोमिला जी का हिसाब है कि उसके द्वारा भारत पर चढ़ाई के बाद की सदियों में भारत की बड़ी तरक्की हुई। इससे क्या संकेत नहीं मिलता कि महमूद की शरारतों (अगर उसने किया भी) को बहुत बढ़ा–चढ़ाकर दिखाया जाता रहा है? नहीं तो, डेढ़ ही सदी बाद लिखे गए चंद बरदाई के 'पृथ्वीराज रासो' में सोमनाथ विध्वंस का जिक्र क्यों नहीं मिलता?"

तब तो सचमुच महमूद के प्रति यहाँ भारी अन्याय हुआ! रोमिला जी का हिसाब है कि उसके द्वारा भारत पर चढ़ाई के बाद की सदियों में भारत की बड़ी तरक्की हुई। इससे क्या संकेत नहीं मिलता कि महमूद की शरारतों (अगर उसने किया भी) को बहुत बढ़ा–चढ़ाकर दिखाया जाता रहा है? नहीं तो, डेढ़ ही सदी बाद लिखे गए चंद बरदाई के 'पृथ्वीराज रासो' में सोमनाथ विध्वंस का जिक्र क्यों नहीं मिलता? जैन पुराणों और संस्कृत अभिलेखों में भी इसका मामूली ही जिक्र क्यों है? इसके माने कि सोमनाथ विध्वंस कोई उल्लेखनीय घटना न रही होगी। हो सकता है उसका बार–बार ध्वंस होता रहा हो, स्वयं हिन्दुओं ने भी उसका कई बार ध्वंस किया हो। वैसे भी, हिन्दुओं द्वारा मंदिर तोड़ने की पुरानी परंपरा रही है (इसका प्रमाण मत माँगिए। मार्क्सवादी इतिहासकारों से जानकारी का स्रोत पूछना उनकी तौहीन करना है। सीताराम गोयल और अरुण शौरी को रोमिला थापर यह साफ जता चुकी हैं)। अतः महमूद के ध्वंस के विशेष जिक्र की क्या जरूरत है? बल्कि यह सोचिए कि महमूद के बार में कटु बोलने से आज मुसलमानों को बुरा लग सकता है।

फिर महमूद लड़ाका और सुलतान था। जब लड़ाका और सुलतान था तो जाहिर है, यहाँ–वहाँ चढ़ाई करना, देश जीतना और मनमानी करना उसका स्वाभाविक धर्म था। उस जमाने की नैतिकता न भूलिए! आखिर कोई अपने समय के चलन से बाहर थोड़े होता है! फिर महमूद इस्लाम का पक्का बंदा था। उसे मस्जिद बनवाने के लिए दौलत चाहिए थी। अब यदि गजनी में दौलत नहीं थी, तो कहीं से उसे लाना ही था। वैसे भी, सोमनाथ की दौलत तो उच्च–जातीय हिन्दुओं ने दलितों का खून चूसकर ही इकट्ठा किया होगा (इन तथ्यों के लिए भी क्या शोध की जरूरत है?) तब लूटे माल को फिर किसी ने लूट लिया तो कौन सी बड़ी बात हो गई।

मगर यह सब न तो प्रथम राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद, न कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, न सरदार पटेल जैसे सांप्रदायिक हिन्दुओं ने सोचने का कष्ट किया और सन् 47 के बाद सोमनाथ जीर्णोद्धार का गलत काम कर डाला। यदि वह न हुआ होता, तो 1991 में लालकृष्ण आडवाणी ने यहाँ से रथयात्रा न की होती, न सेक्यूलरिज्म को सबसे बड़ी चोट पहुँची होती। अब समझे आप? महमूद के बारे में बढ़ा–चढ़ा कर लिखने–बोलने के कितने खराब नतीजे हुए! इस प्रकार रोमिला जी ने सन् 1010 से लेकर 1991 तक इतनी चीजों को जोड़ कर सोमनाथ और महमूद गजनवी पर लिखा है। जरा सोचिए। मामला ऐतिहासिक तथ्यों का नहीं, सेक्यूलरिज्य के भविष्य का है। तब आप समझ सकेंगे कि 'अपने देश से कटे हुए पश्चिमी भारतविदों और 'हिन्दू सांप्रदायिक' इतिहासकारों ने महमूद गजनवी के साथ कितनी नाइंसाफी की।

पर मुश्किल यह है कि महमूद के बारे में उसके अपने विद्वान् अल बरूनी से लेकर बीसवीं सदी में मुहम्मद हबीब तक अनगिनत इतिहासकारों ने ही ढेर सारी गड़बड़ बातें लिख छोड़ी हैं। जैसे, अल बरूनीः ''महमूद ने (भारत की) उन्नति को तहस–नहस कर दिया और ऐसे लाजबाव कारनामे किए जिससे हिन्दू धूल–कणों की तरह हर दिशा में बिखर गए और उनकी कहानियाँ ही बच गई। तब से इन बिखरे लोगों में सभी मुसलमानों के प्रति तीव्र घृणा भर गई''। अल बरूनी को पता न था कि ऐसा लिखने से हजार साल बाद भाजपा को लाभ हो सकता है।

मगर हबीब साहब का क्या करें! इन्होंने बीसवीं सदी में लिखाः ''न कोई ईमानदार इतिहासकार, न कोई मुसलमान जो अपने मजहब से वाकिफ है, मंदिरों का वह मनमाना विध्वंस छिपाने की कोशिश करेगा जो गजनवी की फौजों ने किया था..... लोगों को जो सबसे प्रिय हो उसे लूटकर मित्रवत नहीं बनाया जा सकता, न ही लोग ऐसे मजहब को पसंद करेंगे जो लुटेरी फौजों के रूप में आए और खेतों को बर्बाद व शहरों को तबाह करके छोड़ दे.....महमूद की नीति ने (हिन्दुओं द्वारा) इस्लाम को जाने बिना ही खारिज कर देना पक्का कर दिया।'' क्या बुजुर्गवार को सब कुछ लिखना जरूरी था? जरा तो होशियारी बरतनी थी। अफसोस, उनके निकट कोई रोमिला जी जैसा दूरंदेश मौजूद न था। ✦✦✦

*प्राध्यापक
एन.सी.ई. आर.टी., नई दिल्ली

पुस्तक अंश

लोकतंत्र के मंच पर विसंगतियों का ड्रामा

डॉ. रघुवंश*

" गांधी की मूल दृष्टि से लोकतंत्र असफल हुआ है, वह न अपना दायित्व वहन कर सका है और न लोकतांत्रिक मूल्यों को उपलब्ध कराने में समर्थ हुआ है। वस्तुतः राजतंत्र जिनमें लोकतंत्र के साथ साम्यवादी तंत्र भी आते हैं, के स्थान पर अर्थतंत्र की शक्ति और आधिपत्य की प्रतिष्ठा हुई है। "

आज से कुछ साल पहले एक अमरीकी लेखक के एक व्यंग्य दृष्टि से गुजरा, ऐसा है 'हमारे सीनेट का निजीकरण तो हो सा चुका है, न हो अब न्यायपालिका का भी कर दिया जाए। फिर तो हमारे राजनेताओं का सारा सिरदर्द खत्म हो जायेगा।' शैली आकर्षक थी और रोचक लगती है। आज के अर्थतंत्र की क्षमता समझने लगा हूँ और अमरीका के प्रभुत्व से अपरिचित नहीं रहा। पर उस समय इस व्यंग्य के पूरे संदर्भ को एकाएक समझ नहीं सका। यह तो है कि मैं अर्थशास्त्री नहीं हूँ और न ही इस क्षेत्र का बौद्धिक। हाँ अपने जनसामान्य के हित अहित के बारे में सोचने समझने का दायित्व बोध मानकर चलता हूँ। हवालाकांड को लेकर चुनाव के महीनों पहले से इस प्रकार देश के रंगमंच पर ड्रामा खेला जा रहा है कि बुद्धिजीवी समाज में अच्छा खासा बेतुकी उत्सुकता चमत्कार का वातावरण बन रहा है। यह ड्रामा अवसर विशेष पर आकस्मिक रूप से शुरु हुआ और तेजी से उसके दृश्य बदलते गए हैं। इस कारण दीर्घा के सामाजिक दर्शकों के मन का सस्पेंस, द्विविधा से आंदोलित होना सहज रहा है। यह लेख चल रहा है और न्यायपालिका की सक्रियता पर सभी पक्षों के दर्शक उल्लास के साथ ताली बजाकर स्वागत कर रहे हैं। इसमें निश्चय ही हमारे संचार माध्यमों, विशेषकर पत्र–पत्रिकाओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। ड्रामा के प्रयोग की अतिरंजना पर बहुत कम प्रश्नचिह्न लगाने वालों और प्रतिवाद करने वालों के स्वर मैं सुन रहा हूँ। गहराई से उन्हें पहचान रहा हूँ, पर इस विचारहीन उत्साह, उत्तेजना में सब कुछ डूब गया है। लग रहा है, उस बुद्धिजीवी समाज को भारी चिंता और द्विविधा के बीच एक सहारा मिल गया है। सदा लगता रहा है, यह देश का काफी बड़ा बुद्धिजीवी समाज है जो अपनी, परिवार और सीमित परिवेश के बाहर आगे कुछ सोचने की अपेक्षा नहीं रखता। आज देश की परिस्थिति के घेराव में वह आकुल है जैसे किसी तरह छुटकारा चाहता हो। न व्यापक समाज से वह जुड़ पाया है और न वह पूरे संदर्भों में अपनी परिस्थिति पर विचार करना चाहता है। उसके लिए यह ड्रामा आकर्षक और सार्थक है।

सोचता हूँ हवालाकांड कुछ ऐसी बात नहीं है जिसके लिए इतनी सरगर्मी दिखाई जाए। हमारे लोकतंत्र के प्रचलित होने के बाद से इस तरह के कांडों की शुरुआत होने लगी थी धीरे–धीरे पिछले डेढ़ दो दशक से इनमें वृद्धि हुई है। ऐसा नहीं इनकी चर्चा न हुई हो, जाँच पड़ताल न हुई हों, केन्द्रीय ब्यूरो, जाँच आयोग, समितियाँ और कुछ रिर्पोट भी फाइल में हैं और काम भी चलता रहा है। दल रहे हैं, नेता रहे हैं, आपस में आरोप प्रत्यारोप भी लगाये जाते रहे हैं। फिर उच्च और सुप्रीम कोर्ट भी ज्यों के त्यों फैसला करते रहे हैं और यह कहिए, हवालाकांड का संबंध नई अर्थव्यवस्था के प्रयोग से है, लेकिन यह प्रयोग भी इधर पाँच वर्षों से अधिकाधिक गति पकड़ता गया है। उसमें हमारे प्रधानमंत्री का प्रभावी नेतृत्व है। तब तक क्या इस बीच हवाला के अलावा और काण्ड नहीं हुए हैं, जिनका भ्रष्टाचार की दृष्टि से कम महत्त्व नहीं है। इस कांड का विशेष मुद्दा अकस्मात् क्यों सदा से अधिक सामने लाया गया है। अगर भ्रष्टाचार की बात पैसों को लेकर ही प्रमुख है, तो अपने देश में जहाँ भी जाइये, उठिए, बैठिए बातचीत कीजिए यह भ्रष्टाचार सबसे अधिक चर्चित विषय है। छोटा बिल देने का हो या बड़ा कर के भुगतान का सवाल हो, सुविधा भी पैसे से मिलती है और लाभ भी पैसों से होता है। सोचा जा सकता है, इस भ्रष्टाचार के मुद्दे को उठाने से सारे समाज को भ्रष्टाचार मुक्त करने की बात हो सकती है। फिर भी यह लम्बे अर्से से चलती आ रही परिस्थिति को सुधारने का दायित्व बोध एकाएक कैसे जाग गया है। उसमें सुप्रीम कोर्ट का अकस्मात् सक्रिय होना और इससे कम महत्त्व की बात नहीं है कि इस बीच सामाजिक न्याय के प्रहरी एकाएक तत्परता के साथ सचेत हो गए। अन्यथा अपनी ओर से उसे इस चुनौती को स्वीकार करने में असुविधा हो सकती थी।

आकस्मिक ही कहा जायेगा, क्रमशः चुनाव घोषणा का समय निकट आता गया और साथ ही ड्रामा गति पकड़ता गया। गैलरी के दर्शकों का ध्यान अधिक आकर्षित होता गया प्रदर्शन उत्तेजक लग रहा है। चित्रपट पर उस काण्ड के दृश्यों के फोकस में आने के पहले न्यायपालिका की विशेष सक्रियता की ओर ध्यान लोगों का गया था। कुछ राजनेताओं ने भी हल्का प्रतिवाद किया लोकतंत्र के क्षेत्र

तथा न्यायपालिका की मर्यादा का उल्लेख किया, विधिवेत्ताओं की बहसें भी पत्र पत्रिकाओं में आई। सामाजिक न्याय, भ्रष्टाचार के नियंत्रण के उत्साह आवेग में उस 'सक्रियता' को जोरदार समर्थन सभी ओर से मिलता रहा। जैसा कहा गया, पूरी परिस्थिति पर सोचने का मौका ही नहीं मिला या कहो कि दिया ही नहीं गया। ड्रामा के कुशल निर्देशन में चलने वाले इस भ्रष्टाचार के खिलाफ अभियान के बारे में कुछ भी टिप्पणी करने का साहस भला कौन करता। उसको इस उत्साह के आवेश में तुरंत भ्रष्टाचारी माना जा सकता था। सुप्रीम कोर्ट के सामने जिस प्रकार आकस्मिक रूप से शासक दल के साथ प्रायः सभी दलों के महत्वपूर्ण नेताओं के नाम उद्घाटित हो रहे हैं, वह नाटकीय है। दर्शक सामाजिकों को इन सबके प्रति पहले ही सहानुभूति कहाँ रही है। इनके चरित्र के उद्घाटन से सबको खीझ भरा संतोष मिल रहा है। चित्रपट के ड्रामा के आगे बढ़ते हुए दृश्यों के साथ नाटकीय सस्पेंस उत्सुक व्यग्रता के साथ चरम पर आ जाता हैं। सभी के मन में यही है, देखते हैं आज भी चुनाव में भ्रष्टाचार के मुद्दे का क्या होता है, पहले तो प्रायः सभी दलों का इस पर बहुत आग्रह रहा है। प्रमुख शासक दल के विपक्षी दल का तो इस पर भारी भरोसा रहा है।

> "इस सवाल पर यदाकदा की बहसों के आगे नहीं बढ़ा या गया और व्यापक समाज के प्रति लोकतंत्र के दायित्व की बात उठाई ही नहीं गई। यह ऐसा नहीं है, इस सवाल के उठाने वाले बौद्धिक विचारक रहे अवश्य हैं, पर पश्चिम के अर्थतंत्र के गहरे दबाव में अकेले पड़ गए, उनकी आवाज हम सबको अधिक साफ सुनाई नहीं पड़ती।"

हम दीर्घा में सबके साथ–संग हैं, खासकर सामान्य बुद्धिजीवी समाज के बीच। बाक्स में बैठे उच्च वर्ग और उनके साथ के बौद्धिक समाज की बात ही अलग है। वे सब तो देश के अर्थतंत्रीय विकास के केन्द्र में हैं। उनके लिए यह सारा मन बहलाने का साधन हैं। उनके वर्तमान संभ्रात संस्कार के लिए तो यह खेल देश ही है। 'भ्रष्टाचार' उनकी नैतिक आचरण संहिता में इस रूप में इस प्रकार है ही कहाँ! हमारे साथ के व्यक्ति प्रसन्न होते, उत्साहित भी होते और खीजते भी हैं। वास्तव में वे सब अधर लम्बे अर्से से भ्रष्टाचार और उसकी चर्चाओं से परेशान और ऊब रहे हैं। जल्दी से जल्दी इन दोनों से राहत पाने के लिए बेचैन है और सब इसी दृष्टि से इस ड्रामा को लेकर उत्सुक भी हैं। जैसा कहा गया है, उनको अपने वृत्त के बाहर देखने सोचने की आदत नहीं है। उनकी खुशी है कि न्यायपालिका सामाजिक न्याय को लेकर प्रभावी रूप से सक्रिय है। देश के प्रधानमंत्री ड्रामा के सूत्रधार हैं और हीरो नायक भी। उन्होंने अपनी भूमिका उदात्त संत भाव की रखी है। ऐसा नहीं आरोप नहीं लगाए जा रहे हैं, दोषी नहीं कहा जा रहा है। पर वह शांत भाव से मौन रहते है अथवा 'न्यायपालिका' के निर्णय पर अपने को पूरी तरह समर्पित मानते हैं। बिल्कुल भक्त की छवि में प्रस्तुत रहते हैं। उन्होंने तो सामाजिक न्याय का दायित्व न्यायपालिका का स्वीकार कर लिया है। न्यायपालिका का आदेश हुआ केन्द्रीय जाँच ब्यूरो पर फिलहाल आप अपना प्रभाव नहीं रखेंगे और उन्होंने कह दिया एवमस्तु ऐसा ही होगा। न्यायाधीशों ने विचार व्यक्त किया केन्द्रीय जाँच ब्यूरो को स्वाधीन स्वायत्त होना चाहिए। इस बात को लेकर पत्रकारों बौद्धिकों में बहस चली कि केन्द्रीय जाँच ब्यूरो को स्वायत्त होना चाहिए, शासन से मुक्त रहना चाहिए। इधर हमारे बीच बौद्धिकों पत्रकारों के विचारों, वक्तव्यों को लेकर उत्साह के साथ चर्चा हुई।

हमारे बुद्धिजीवी समाज को इन प्रस्तावों से बहुत सहारा मिल रहा था। जैसे उनको लगा कि इस प्रकार हमारा समाज सब प्रकार से अन्यायों और भ्रष्टाचारों से मुक्त हो सकेगा। किसी ने कहा न्यायपालिका स्वतंत्र है, उसकी धाक कैसी सब ओर सब पर जम गई है। केन्द्रीय जाँच ब्यूरो को स्वायतत्ता मिल जाए तो न्याय करने में आसानी और शीघ्रता होगी। अन्य ने जोड़ दिया, उधर चुनाव आयोग के शेषन साहब न्यायपालिका से अनुशासित होकर भी चुनावों को साफ सुथरे ढंग से संचालित कर भ्रष्टाचार से मुक्त कर ही रहे थे। तब एक बिगड़े दिमाग ने टोक दिया भाई साहब! यह सब हो जाता है, चल जाता है, तब से लग रहा है हम सुख चैन से हाथ पर हाथ धरे बैठे रह सकेंगे। लेकिन क्या आप की न्यायपालिका डिक्टेटर है? एक ने चौंक कर कहा–वाह! यह भी खूब रही। न्यायपालिका और डिक्टेटर क्या मतलब! वह साहब दबंगई से बोल उठे– क्यों साहब! आप सब साहबान का ही तो कहना था। डिक्टेटर का माने भी तो यही होता है जो किसी के प्रति जिम्मेदार न हो, मनमानी कर सके। समझाते हुए पहले ने बात संभाली–यह खूब कही। न्यायपालिका के सामने कानून जो है, वह हँसता हुआ कह देता और यह कानून बनाता कौन है? फिर बदल भी देता। नए भी बना लेता है। भाई कौन है वह! और वह भी फरमाएँ आखिर उसके बाद घूम फिर न्यायाधीशों की नियुक्तियाँ कौन करता है, किस प्रकार करता, किन लोगों में से करता है? और वह आयेंगे कहाँ से? एक साहब जो शुरू में उत्साहित से लग रहे थे, अंततः बोल उठते हैं–भाई, मैं तो समझता हूँ अब हमको लोकतंत्र नहीं, तानाशाही चाहिए। तब मैं बीच में

बोलता हूँ–भाई साहब! वह तानाशाह आएगा कहाँ से। वह तो बनाया नहीं खुद बन जाता है। हमारे साथी ने कुछ गहरे व्यंग से कहा, अब तो हमको लोकतंत्र के किसी नए प्रयोग के बारे में सोचना पड़ेगा।

सोचता हूँ, हम अपने सामने चलने वाले घटनाक्रम को लेकर कैसे अर्थ लगाते हैं, किस प्रकार तर्क–वितर्क करते हैं, कैसी–कैसी बातों पर सोचते हैं और कैसे किसी प्रकार के निष्कर्ष निकालने लगते हैं। यही नहीं उसको परिचालित करने वाले तत्त्वों, कारणों तथा व्यक्तित्वों के संबंध में भी इसी प्रकार धारणाएँ बनाते हैं और फिर इस सारे सोच विचार को हमारी तत्कालीन मानसिक स्थिति भी प्रभावित कर सकती है। परन्तु यदि तटस्थ भाव से किसी व्यापक परिस्थिति पर उसके घटनाक्रम के साथ विचार करना है, तो उसे सही परिप्रेक्ष्य में ग्रहण करना होगा। परंपरा के साथ सारे संदर्भों की समग्रता में उस पर सोच विचार करने से यह परिप्रेक्ष्य भी विकसित होगा और सही निष्कर्षों तक पहुँचना भी संभव हो सकेगा। अब हमारे सामने यह एक परिस्थिति है हवालाकांड, जो एक ड्रामा जैसा देश के चित्रपट पर घटित हुआ है। हम इस पर सोचना चाहते हैं। हम अपनी स्थिति कैफियत दिए बिना अपनी दृष्टि अथवा अपने परिप्रेक्ष्य को सामने साफ रख नहीं सकते। स्वाधीन होने के समय ही हमारा ध्यान अपने देश के लोकतंत्र की प्रकृति और उसके प्रयोग पर रही है। गाँधी की मूल परिकल्पना को सही रूप में न समझ कर भी यह लग रहा था कि यह सत्तात्मक लोकतंत्र उसके विरूद्ध है। गांधी की मूल दृष्टि से लोकतंत्र असफल हुआ है, वह न अपना दायित्व वहन कर सका है और न लोकतांत्रिक मूल्यों को उपलब्ध कराने में समर्थ हुआ है। वस्तुतः राजतंत्र जिनमें लोकतंत्र के साथ साम्यवादी तंत्र भी आते हैं, के स्थान पर अर्थतंत्र की शक्ति और आधिपत्य की प्रतिष्ठा हुई है। यह विशेष बात है, व्यापक समाज संबंधी सारी नीतियों का संचालन, नियोजन लोकतंत्र के माध्यम से हो रहा है। अर्थतंत्र की अपेक्षा भी अच्छा शासन भर है।

इस मनोभूमि पर हमारा ध्यान लंबे अरसे से अर्थतंत्र और लोकतंत्र के गहरे संबंधों पर रहा है। अमरीका से इसके बारे में स्थिति का अंदाज पाने का भाव रहना स्वाभाविक है। इधर कुछ वर्षों से अपने देश में हमारे लोकतंत्र ने इस अर्थतंत्र की नीतियों का प्रयोग स्वीकार किया है। हम सभी के सामने देश में इस प्रयोग का गति पकड़ता हुआ दृश्य विधान सामने से गुजरता रहा है। अपनी पत्र पत्रिकाओं में हर प्रकार के समाचारों के साथ पत्रकारों तथा विशेषज्ञों के विभिन्न पक्षों पर विचार तथा विश्लेषण विवेचन सामने आते रहे हैं। यह भी हम अनुभव कर रहे हैं कि आज की पत्रकारिता में पाठकों को आकर्षित करने की दृष्टि से हर प्रकार के समाचारों को छाप देने की रोचक, आकर्षक, रोमांचक, उत्तेजक शैलियाँ विकसित हुई हैं, परन्तु इतना ही हमारे सोचने समझने के लिए पर्याप्त नहीं है। अपने व्यापक जन जीन के गहरे संदर्भ के आधार पर ही अर्थतंत्र के इस प्रयोग के साथ अपने लोकतंत्र की आज की परिस्थिति पर सही ढंग से सोच पाना संभव हो सकता है और अपने परिप्रेक्ष्य को सही रखने के लिए अमरीका में लोकतंत्र और अर्थतंत्र के विकसित हुए प्रयोजन में पारस्परिक व्यावसायिक संबंधों को ध्यान में रखना होगा। हम जानते हैं, अमरीका में इस प्रकार के संबंध सहज ही स्वीकृत विकसित हुई हैं। अमरीका में 'धन और राजनीति' के संबंध को लेकर तेज और गहरी बहस नहीं हो सकी। आर्थिक क्षेत्र में उद्योग धंधों तथा व्यापार व्यवसाय की संरचना और कार्य पद्धति की अपनी संहिता है। उसमें प्रचलित आर्थिक लेन–देन की विधि एवं मानदण्ड सामान्य समाज में प्रचलित नैतिकता से भिन्न है, विशेषकर आधुनिक अर्थतंत्र के उदारीकरण, निजीकरण और भौगोलिक औद्योगिकरण के युग में इस नैतिक निरपेक्षता का भाव अधिक गहराया है।

हम जानते हैं। अमारीका में बड़े–बड़े उद्योगपति, उद्योग व्यापार के निगम भारी भारी रकमें विभिन्न दलों को उनके कार्यकलाप, प्रचार और चुनाव के लिए देते हैं। इसके एवज में उनमें अनेक प्रकार की सुविधाएँ पाते हैं। भिन्न रूपों में लाभ उठाते रहे हैं। पुराने ईमानदारी के मानदंड से इसे घूस कह सकते हैं, लेकिन सामान्य एवं स्वीकृत होने से हम मान लेते हैं यह लेन–देन व्यवसाय का मान्य प्रचलन है और लोकतंत्र को चलाने के लिए यह अर्थतंत्र का अनुदान है। वहाँ भी प्रश्न उठाने वाले और समस्याओं की ओर ध्यान दिलाने वालों का कहना रहा है कि इस लोकतंत्र में प्रतिनिधि तो जनता के होते हैं, परन्तु चुनावों में लड़ पाने के लिए धनी वर्ग की सहायता ली जाती है। ऐसा नहीं जनमत संग्रह करने वाली सूचियों के अनुसार अमरीका के समाज का बड़ा बहुमत बनता गया है, हमारा आज का राजतंत्र नाम का लोकतंत्र रह गया है, उसको परिचालित करने वाले तो निहित स्वार्थी हैं। दोनों तंत्रों के अंतःसंबंध के विकास और उसकी–सापेक्षता में 'मनुष्य' यह हमारे सोचने का प्रस्तुत संदर्भ नहीं है। हमारे सामने तो 'हवालाकांड' को लेकर देश के व्यापक चित्रपट पर चल रही 'भ्रष्टाचार की कथा' है। चुनाव की घोषणा के महीनों पहले 'भ्रष्टचार' के मुद्दों को लेकर सामाजिक न्याय का जो माहौल बनाया जा रहा है, बनता दिखाई दे रहा है, प्रस्तुत तो हम इसी पार सोचने की कोशिश कर रहे हैं। शुरु से कह चुके हैं हम न विशेषज्ञ हैं

और न ही बौद्धिक। हमारी कुल मिलाकर पूँजी समझ है। आज की परिस्थिति पर तटस्थ भाव से सोचने समझने के लिए सही परिप्रेक्ष्य पाने की कोशिश इस प्रकार कर रहे हैं।

यहाँ यह भी समझने की बात है, अमरीका के शास्त्रियों, बौद्धिकों की आठवें दशक से 'सहकारी दायित्व' को लेकर चलने वाली चर्चाओं, बहसों की सीमा क्या रही है। इस बीच उसका अर्थतंत्र अधिकाधिक समर्थ हुआ, उसका प्रभुत्व संसार भर में प्रतिष्ठित हुआ। अपनी इस क्षमता से वह अविकसित, विकासशील देशों के आर्थिक विकास के लिए प्रेरक एवं सहायक बना। हम देखते हैं, यह सब पूरे उत्साह के साथ प्रभावी ढंग से चल रहा है, चलाया जा रहा है। यह स्पष्ट है, यह इस दौर की अमरीका की शक्ति और प्रभुता लोकतंत्र को अनुशासित परिचालित करके ही स्थापित हुई है। इस परिस्थिति में 'सहकारी दायित्व' की लोकतांत्रिक परिकल्पनाओं का विचार सही दिशा में संभव नहीं हो सका। जन सामान्य के बिना उचित नेतृत्व और उसके प्रति दायित्व–बोध के ऐसी बहसों का कोई मतलब नहीं होता। उनमें सहज प्रकृत भाव से किसी प्रकार के शासन द्वारा निर्देशित नियंत्रित 'सहकारी निगम' में इस दायित्वबोध को मान लिया जाता है और राजनीति के पंडित अपनी बारीक ख्याली में इस सवाल को व्यर्थ करार देते हैं। हर प्रकार के निगमों और संस्थानों में, यानी चाहे अर्थतंत्र के उद्योग व्यापार के हों, यह दायित्व भाव निहित माना जा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं, इस सवाल पर यदाकदा की बहसों के आगे नहीं बढ़ा या गया और व्यापक समाज के प्रति लोकतंत्र के दायित्व की बात उठाई ही नहीं गई। यह ऐसा नहीं है, इस सवाल के उठाने वाले बौद्धिक विचारक रहे अवश्य हैं, पर पश्चिम के अर्थतंत्र के गहरे दबाव में अकेले पड़ गए, उनकी आवाज हम सबको अधिक साफ सुनाई नहीं पड़ती।

अपनी वर्तमान प्रस्तुत समस्या के संदर्भ में हम अमरीका को लेकर फिर कुछ समझ सकते हैं। यह 'सहकारी दायित्व' संबंधी बहस वहाँ एक दूसरा मोड़ ले लेती है। अब वह इस चिंता को लेकर चल रही है कि राजनीतिक सारी व्यवस्था क्रमशः भ्रष्टाचार से इस प्रकार घुलती–मिलती जा रही है और निहित स्वार्थों से संचालित हो रही है कि नैतिक मर्यादाओं दायित्वों की सुरक्षा किस प्रकार हो सके। इस चिंता और बहश के अलावा कुछ 'ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य' के बौद्धिक विशेषज्ञों ने इस ओर भी ध्यान आकर्षित किया कि लोकतांत्रिक सहकारी संस्थाएँ अपनी चुनौती के साथ स्वीकार किए दायित्व को भुला चुकी हैं। उनका मानना है, अमरीकी राजनीति पर धन के भ्रष्ट करने वाले प्रभाव से राजनेता स्वार्थी हो चुके हैं, शासन भ्रष्ट हो गया है और गोटी बैठाने वालों की चल रही है। निश्चय ही इस दिशा में नए अर्थतंत्र पर बहस का खतरा है और रोचक बात है कि यहाँ मानव मूल्यों की बात ही क्या नैतिक मूल्य मर्यादाओं के सवाल को दरकिनार कर 'भ्रष्टाचार' से मुक्त करने के लिए दलों के प्रतियोगी नेताओं को खच की सीमा स्वीकार करने के लिए प्रोत्साहित किया जा रहा है और सहायता देने पर विचार विनिमय चल रहा है।

पूर्व संदर्भ के दृश्य चित्र तेजी से हमारे सामने से निकट गए हैं। इन चित्रों से स्पष्ट है कि सांप्रदायिकता, जातिवाद और 'वादों के धोखे' जैसे आरोप कुछ साफ नहीं हैं कि किस पर लगते हैं, और किस पर नहीं लगते हैं। समझदार दर्शक के मन उन विभिन्न दल के नेताओं की अब तक की भूमिकाओं से विभ्रमित से अधिक क्षुब्ध होते हैं। यह भी राजनीति का ढ़ंग है? इन राजनेताओं की समझ स्पष्ट कितनी हो पाता है, किसके खिलाफ जाते हैं और कौन इन से बच जाता है। मन में सोच कर कि जब मूलभूत नीतियों के बारे में अपनी मान्यता और उनके प्रयोग की विधि के बारे में दलों और नेताओं के पास कुछ रह ही नहीं गया है, तो करें भी क्या? वर्षों से राजीव हत्याकांड का जाँच हो रही है, एनरॉन और हवाला जैसे घोटाला कांडों की जाँच की चर्चा हो रही है, अयोध्या का मामला न्यायालय में फैसले को है, न जाने कितने और क्या। प्रधानमंत्री तो स्थिर भाव से सभी कामों को देख रहे हैं। शायद उनकी मान्यता है, धीरे–धीरे निपटना अच्छा होता है। हाँ, देश का विकास प्रमुख है, उसके लिए आर्थिक नीतियों का प्रयोग तेजी से होना अपेक्षित है और ठीक भी है। कई वर्ष बीत रहे हैं, अन्य दलों का ध्यान धीरे–धीरे इन मामलों की ओर जाता है और शायद कि पहले उनके सामने अधिक प्रभावी मुद्दे आरोप प्रत्यारोप के लिए रहे हैं, हम दर्शकों को इन संदर्भों से जरूर लगता है, यह ऐसा भी हो सकता है कि इन मुद्दों को उठाने के वक्त का भी इंतजार हो या कौन छेड़े इन जटिल मामलों को।

देखते हैं सूत्रधार वस्तु को नाटकीय चरम तक ले गए बिना अपने अर्थसूत्रों को खींचता बिखेरता जा रहा है। हम दर्शकों को कुछ निराशा सी है, शायद मन में रहा है, नायक फँसते–फँसते रह गया या फँसकर कौशल से निकल गया पर कुछ भी नहीं यह कैसा नायक, एक न्याय के प्रति समर्पित व्यक्ति। खैर चित्रपट से दृश्यों का क्रम समाप्त होता है नाटक का अंत हो चुका है। हम सब सोचते हैं, यह क्या है? कैसा नाटक है, संगत, असंगत, विसंगत कुछ भी तो नहीं, खीजते हैं हम सभी। यह कोई बात है, घोषित होता है 'विसंगतियों का ड्रामा' और ड्रामा अर्थहीन भी नहीं निरर्थक समझिए। हम अपने स्थानों पर उठ चुके हैं, सामने चित्रपट पर चमकते अक्षरों में उभरता आता है 'भ्रष्टाचार दूर करना है' राजनीति से, दलों को चुनाव अभियान के लिए धन चाहिए, यह राशि सरकार की ओर से दी जाने की अपेक्षा की जाती है। इस माँग के प्रस्ताव का जोरदार समर्थन....।

वापसी में चलते–चलते सोचता हूँ, कुछ भी हो, अर्थतंत्र को अपने उपयोग के लिए लोकतंत्र का ढाँचा तो चाहिए ही। तभी मन में उभर आता है सच ही यह 'लोकतंत्र की विसंगतियों का ड्रामा है।'

✦✦✦

*(''लोकतंत्र की विसंगतियों का ड्रामा'' से साभार)

शोध-१

गाँधी की आर्थिक परिकल्पना

डॉ0 अजय कुमार सिंह*

"गांधीजी को जिस संकट का सामना करना पड़ा था वह संकट स्पष्टतः अभी समाप्त नहीं हुआ है, बल्कि और भयावह हो गया है और उन्होंने जो समाधान सुझाये थे वे अभी पुराने नहीं हुए हैं, न केवल अपने बल्कि विश्व के समस्त देशों में आर्थिक विचारधारा आयोजन और कार्य के क्षेत्र में गांधीजी अब भी एक जबर्दस्त चुनौती प्रस्तुत करते हैं।"

महात्मा गांधीजी भारतीय पुनर्जागरण के पुरोधा थे। वे युग पुरूष नहीं अपितु युग प्रवर्तक थे। सत्य, अहिंसा और सत्याग्रह उनके अमोघ अस्त्र थे, जिनका प्रयोग कर उन्होंने देश को स्वतंत्र कराया। गांधीजी के सिद्धान्त आज भी हर दृष्टि से मूल्यवान है, क्योंकि उनमें सभी धर्मों तथा जीवन के हितों को समाहित किया गया है। किन्तु आज हमारा देश गांधीवादी मूल्यों का त्याग करके हर प्रकार की कठिनाई का अनुभव कर रहा है। गांधीजी की स्मृति आधुनिक भारत का निर्माण करने में खो गई है। हमारे देश में प्रतिवर्ष राष्ट्रपिता महात्मा गांधी को दो अवसरों पर याद किया जाता है एक बार जयंती पर, दूसरी बार पुण्यतिथि पर। बड़ा आश्चर्य है कि गांधी जी जैसे महान् ऐतिहासिक विभूति का नाम उनके निधन के मात्र 50 वर्ष बाद समाप्त होता नजर आ रहा है। गांधीजी द्वारा समय–समय पर व्यक्त किये गये विभिन्न विचारों को प्रत्येक विषय से सम्बन्धित किया जाता रहा है। समाजशास्त्री उनके समाज सम्बन्धी विचारों को समाजशास्त्र में सम्मिलित करने का प्रयास करता है। उनके द्वारा व्यक्त इतिहास सम्बन्धी विचार निश्चित रूप से मौलिक, पाश्चात्य विचारों से भिन्न तथा भारतीय संस्कृति एवं परिवेश से मेल खाते हैं। जो इतिहासकार एवं इतिहास लेखन दोनों के लिए एक नया प्रकाश प्रस्फुटित करता है। उनके अर्थ सम्बन्धी विचार जो कि वर्तमान या पाश्चात्य अर्थशास्त्र की परिसीमा में आते हैं का अध्ययन अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र के अन्तर्गत करता है। गांधी जी ने सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था के सम्बन्ध में जो बुनियादी विचार दिये थे उन्हें हम भूलते जा रहे हैं।

गांधीवादी विचारधारा आधुनिक युग के अनुरूप है, "गांधीजी को जिस संकट का सामना करना पड़ा था वह संकट स्पष्टतः अभी समाप्त नहीं हुआ है, बल्कि और भयावह हो गया है और उन्होंने जो समाधान सुझाये थे वे अभी पुराने नहीं हुए हैं, न केवल अपने बल्कि विश्व के समस्त देशों में आर्थिक विचारधारा आयोजन और कार्य के क्षेत्र में गांधीजी अब भी एक जबर्दस्त चुनौती प्रस्तुत करते हैं।"

आर्थिक स्वतन्त्रता:–

वास्तविक आर्थिक स्वतन्त्रता तो स्वदेशी वस्तुओं को अपनाने से ही मिलेगी। अर्थशास्त्री भी मानते हैं कि आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना स्वराज्य व्यर्थ है। मेरा विश्वास है कि स्वदेशी में विस्तृत और व्यापक आर्थिक स्वतन्त्रता का समावेश हो जाता है और यह आर्थिक स्वतन्त्रता ठीक वैसी ही है जैसा हम चाहते हैं।[1]

भारत को जिन वास्तविक सुधार की अपेक्षा है वह है सच्चे मानो में स्वदेशी का पालन। हमने 1918 में वस्त्र खरीदने के लिए 60 करोड़ रूपये बाहर भेजे थे। यदि हम इसी रफ्तार से विदेशी वस्त्र खरीदते जायें तो हम भारतीय बुनकरों और कताई करने वालों के प्रतिवर्ष इतनी राशि से वंचित करते रहेंगे और "इसके बदले उनके लिए लगभग कोई भी काम नहीं जुटायेंगे।"[2] स्वदेशी एक सनातन सिद्धान्त है, जिसके प्रति असावधानी दिखाने से मनुष्य जाति को अकथनीय कष्ट भोगने पड़ते हैं। स्वदेशी के माने है अपने ही देश में तैयार माल का उत्पादन और वितरण। अपने वर्तमान समुचित अर्थ में इसका मतलब होगा किसान जनता के लिए काम जुटाकर प्रतिवर्ष 60 करोड़ रूपयों की बचत। इसका मतलब देश की 72% जनसंख्या के लिए एक आवश्यक अनुपूरक उद्योग जुटाना भी है।[3]

कुटीर उद्योग के अभाव में भारतीय किसान का भविष्य अन्धकारमय है। भूमि की उपज पर ही उसका गुजारा नहीं हो सकता। उसके लिए एक अनुपूरक उद्योग जरूरी है और कताई–बुनाई ही उसके लिए सबसे सुलभ, सस्ता और सर्वोत्तम उद्योग है। मीलों की संख्या बढ़ाने से समस्या हल नहीं होगी। जो रूपया देश से बाहर जाता हे उसकी पूर्ति करने में उनको काफी अधिक समय लग जायेगा और वे हमारे घरों के लिए 60 करोड़ रूपये की राशि सुलभ नहीं बना सकेंगी। वे तो चन्द उद्योगपतियों के हाथों में ही धन और श्रम को केन्द्रीत कर देंगी और उससे समस्या और भी लाइलाज हो जायेगी।[4]

जिनके भी आँख है वे खुद देख सकते हैं कि "मध्य वर्ग के लोगों को जरूरत से बहुत कम भोजन मिल पाता है और हमारे बच्चों को पर्याप्त मात्रा में दूध भी नहीं मिल पाता।" यह सुधार योजना कितनी ही उदारतापूर्वक क्यों न हो, वह निकट भविष्य में समस्या का समाधान करने में समर्थ नहीं हो सकती, परन्तु स्वदेशी से "अभी इसी समय" यह समस्या हल हो सकती है।[5]

मैं चाहता हूँ ऐसी छोटी–छोटी सुन्दर–सी मीले देश के घर–घर में दिखने लगे, परन्तु देश में कृषि के किसी एक अनुपूरक उद्योग के बिना किसानों का काम नहीं चल सकता

और भारत में तो कृषि का दारोमदार ही अनुकूल वर्षा पर होती है। इसलिए यहाँ तो चरखा और हथकरघा कामधेनुओं के समान है, इस प्रकार यह आन्दोलन भारत के गांवों और जन–जन को आर्थिक रूप से मजबूती और आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान करेगी।[6]

> "भौतिकता, विदेशी तकनीक, भोग विलासयुक्त उपभोक्ता संस्कृति में पड़कर हम रामराज्य के लक्ष्य को ढुठलाकर न जाने किस भौतिक मकड़ीजाल में जा रहे हैं, अंधी विकास की दौड़ में हमने बापू को भुला दिया, याद रखा है तो केवल २ अक्टूबर।"

मैं भारत के जरूरतमंद करोड़ों निर्धनों द्वारा काते और बुने गए कपड़े को खरीदने से इन्कार करना और विदेशी कपड़े को खरीदना पाप समझता हूँ, भले ही वह भारत के हाथ से कते कपड़े की तुलना में कितने ही बढ़िया किस्म का हो। इस प्रकार, मेरे स्वदेशी का केन्द्रबिन्दु हाथ की कती खादी है और स्वदेशी की इस भावना में वे सभी वस्तुएं समाहित हैं, जिनका भारत में उत्पादन होता है या किया जा सकता है।[7]

"हे प्रभु! तू हिन्दुस्तान को सत्य के मार्ग पर ही अग्रसर करना, वैसा करते हुए उन्हें स्वदेशी धर्म (का पालन करना) सिखाना।[8]

गांधीजी ने एक ऐसे आदर्श ग्राम की कल्पना की जिसमें जीवन की न्यूनतम आवश्यकतायें, जैसे–भोजन, पेयजल, वस्त्र, आवास, औपचारिक शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वच्छता इत्यादि की पूर्ति हो। गांधीजी ने ग्राम आत्मनिर्भरता के लक्ष्य के रूप में खादी व ग्रामोद्योगों पर निर्भरता की वकालत की, क्योंकि ये न केवल आर्थिक स्वतन्त्रता एवं समानता को बढ़ाते हैं, वरन् रोजगार उत्पन्न करते हैं तथा गरीबी दूर करते हैं। एक ऐसे देश में जहाँ 73.4 प्रतिशत जनसंख्या गांवों में निवास करती हो, इन विचारों की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

आर्थिक समानता:–

बुद्धि और अवसर की भी असमानता हमेशा बनी रहेगी। नदी के किनारे पर रहने वाले व्यक्ति को शुष्क मरूस्थल में रहने वाले व्यक्ति की तुलना में फसल उगाने में निश्चित रूप से अधिक सुविधा है। लेकिन अगर इस तरह की असमानताएं स्पष्ट रूप से विद्यमान है तो बुनियादी समानताएं भी उसी प्रकार स्पष्ट परिलक्षित है।[9]

समाज की मेरी संकल्पना:–

समाज की मेरी संकल्पना यह है कि यद्यपि हम समकक्ष पैदा हुए हैं अर्थात् हमें बराबर अवसर पाने का अधिकार है, पर हम सबकी क्षमता एक जैसी नहीं होती। यह स्वभावतया असम्भव है। उदाहरण के लिए, सबका एक्र जैसा कद, रंग या बुद्धि की मात्रा आदि नहीं हो सकता, इसलिए यह स्वाभाविक है कि कुछ लोगों में ज्यादा पैसा कमाने की योग्यता होगी और कुछ में कम।

प्रतिभाशाली व्यक्ति ज्यादा योग्य होंगे और वे अपनी योग्यता का इस्तेमाल ज्यादा पैसा कमाने में करेंगे। यदि वे अपनी प्रतिभा का इस्तेमाल भद्रतापूर्वक करेंगे तो वे राज्य के हित में कार्य करेंगे। ऐसे लोग न्यासी बनकर ही रह सकते हैं, अन्यथा नहीं।

मैं बुद्धिमान व्यक्ति को अधिक कमाई करने का अवसर दूंगा, मैं उसकी प्रतिभा का गला नहीं घोटूंगा। लेकिन उसकी अतिरिक्त कमाई का ज्यादा हिस्सा राज्य की भलाई के लिए इस्तेमाल किया जाना चाहिए, ठीक उसी प्रकार जैसे कि एक पिता के सभी कमाऊ लड़कों की आमदनी परिवार के साझे कोष में जाती है। ऐसे लोग केवल कमाऊ के रूप में अपनी कमाई करेंगे।[10]

बात यह है कि मैं सबकी हैसियत बराबर कर देना चाहता हूँ। विगत शताब्दियों में श्रमिक वर्गों को अलग–थलग करके निचला दर्जा दे दिया गया है। मैं बुनकर, कृषक और स्कूल अध्यापक के बच्चों में कोई भेद नहीं रहने देना चाहता।[11]

असमता का निवारण:–

आर्थिक समानता से मेरा आशय यह नहीं है कि सब आदमियों के पास बिल्कुल एक बराबर पैसा होगा। इसका आशय केवल यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के पास अपनी जरूरतों के लायक पैसा होना चाहिए आर्थिक समानता का वास्तविक अर्थ है 'प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार'। यही मार्क्स की परिभाषा है। अगर अकेला आदमी भी उतने की मांग करे जितना कि चार बच्चों वाला विवाहित व्यक्ति करे तो आर्थिक समानता का उल्लंघन होगा।[12]

मेरी योजना के तहत् राज्य का कर्त्तव्य होगा कि वह जनता की इच्छा को कार्यान्वित करे, यह नहीं कि जनता पर हुकुम चलाए या उससे बलपूर्वक अपनी इच्छा का पालन कराए। मैं घृणा के स्थान पर प्रेम की शक्तियों का इस्तेमाल करते हुए लोगों को अपने दृष्टि से सहमत करूँगा और इस प्रकार अहिंसा के जरिए आर्थिक समानता लाऊँगा। मैं तब तक प्रतीक्षा नहीं करूंगा जब तक कि सारा समाज मेरे दृष्टिकोण से सहमत न हो जाए, बल्कि मैं तत्काल अपने से शुरूआत कर दूंगा। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि अगर खुद मेरे ही पास पचास मोटरकारें या दस बीघा जमीन हो तो मैं देश में आर्थिक समानता लाने की आशा नहीं कर सकता। इसके लिए मुझे अपने आपको देश के निर्धनतम् व्यक्ति के स्तर तक उतारना होगा।[12]

निजी व्यक्तियों द्वारा पूंजी का संचय हिंसक तरीकों को अपनाएं बिना सम्भव नहीं है, लेकिन किसी अहिंसक समाज में राज्य द्वारा पूंजी का संचय न केवल सम्भव अपितु वांछनीय तथा अपरिहार्य भी है। किसी व्यक्ति को समाज के अन्य सदस्यों की सहायता या सहयोग से भौतिक अथवा आध्यात्मिक पूंजी का संचय करके उसे अपने निजी लाभ के लिए इस्तेमाल करने का नैतिक अधिकार नहीं है।[13]

आठवीं पंचवर्षीय योजना में विकास दर का लक्ष्य 5.6% वार्षिक रखा गया था जबकि योजना के प्रारम्भिक वर्ष

1992–93 में विकास दर मात्र 3.5 प्रतिशत रही है। भारत की जनसंख्या में औसतन 2.1 प्रतिशत वार्षिक दर से वृद्धि होती जा रही है, अतः प्रति व्यक्ति आय मात्र 1.8 प्रतिशत दर से ही बढ़ पाई है। आर्थिक विकास का कितना हिस्सा वास्तव में जनसाधारण तक पहुँच पाया, यह इस तथ्य से ही स्पष्ट हो जाता है कि देश की लगभग आधी जनसंख्या की आय 5 प्रतिशत सुविधासम्पन्न लोगों के बराबर है। राष्ट्रीय सम्पत्ति के लगभग आधे के मालिक वे लोग हैं, जिनकी संख्या मात्र 10 प्रतिशत है जबकि सबसे गरीब 10 प्रतिशत लोगों के पास राष्ट्रीय सम्पत्ति का 0.1 प्रतिशत भाग है। देश की आबादी का लगभग आधा हिस्सा केवल 6.8 प्रतिशत राष्ट्रीय सम्पत्ति का मालिक है, जबकि 1 प्रतिशत सम्पन्न लोगों के पास राष्ट्रीय सम्पत्ति का 15% भाग है। यह हमारी आर्थिक असमता का चित्र है जो यह बतलाता है कि गरीब को और गरीब एवं अमीर को और अधिक अमीर बनाया है। इस चित्र से यह स्पष्ट है कि गांधीजी की चिन्तन की प्रासंगिकता आज कितनी महत्त्वपूर्ण है।

आज घोर आर्थिक असमानता विद्यमान है। समाजवाद का आधार आर्थिक समानता है। अन्यायपूर्ण असमानताओं की इस वर्तमान स्थिति में जिसमें मुट्ठी भर लोग ऐश्वर्य भोग रहे हैं और आम आदमी के पास पेट भरने तक का पैसा नहीं है, रामराज्य की स्थापना नहीं की जा सकती।[14]

विकेन्द्रित अर्थव्यवस्थाः-

गांधीजी के आर्थिक विचारों का आधार विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था का सिद्धान्त है। उनका विश्वास था कि केन्द्रित अर्थव्यवस्था की नींव हिंसा पर आधारित है अतः विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था को वे लोकतंत्र का जीवन रक्त समझते थे। गांधीजी का मानना था कि आर्थिक समृद्धि के लिए यह आवश्यक कि इसकी बागडोर गांवों के अधीन होनी चाहिए। यदि गांव समृद्ध लोगों से परिपूर्ण होंगे तो देश स्वयं ही समृद्ध हो जाएगा। गांधीजी ने सुझाव दिया है, "यदि भारत को अहिंसा के आधार पर अपना नवनिर्माण करना है तो विकेन्द्रीयकरण का मार्ग अपनाना होगा।"[15]

हम अपनी राष्ट्रीय शक्ति को संगठित करना चाहते हैं। यह उत्पादन की सर्वोत्तम विधि को ही नहीं, बल्कि उत्पादन और वितरण दोनों की सर्वोत्तम विधि को अपनाकर ही किया जा सकता है।[16]

भारत को मुट्ठीभर लोगों के हाथों में पूंजी के केन्द्रीकरण की जरूरत नहीं है, बल्कि उसके इस प्रकार वितरण की जरूरत है कि वह 1900 मील लम्बे और 1500 मील चौड़े इस देश के साढ़े सात लाख गांवों को सहज प्राप्त हो सके।[17]

मेरा आदर्श समान वितरण है पर जहाँ तक मैं देख पाता हूँ, इसे हासिल करना सम्भव नहीं है। इसीलिए मैं न्यायोचित वितरण का प्रयास कर रहा हूँ।[18]

समान वितरण का वास्तवित निहितार्थ यह है कि प्रत्येक के पास अपनी सभी स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन हों और बस, इससे अधिक कुछ न हो, उदाहरण के लिए, अगर किसी आदमी का हाजमा कमजोर है और उसे अपना पेट भरने के लिए सिर्फ आधा पाव आटा चाहिए और दूसरे आदमी को आधा सेर चाहिए, तो दोनों को अपनी–अपनी जरूरतों के मुताबिक आटा उपलब्ध होना चाहिए।

गांधीजी के जिन आर्थिक विचारों का हमने अवलोकन किया है, यदि हम देखें तो बापू का आत्मनिर्भरता, कृषि को प्राथमिकता देने, कुटीर धन्धों का विकास, मानव–श्रम को महत्त्व देने, उत्पादन एवं वितरण प्रणाली को कुछ हाथों में केन्द्रित न होने देने का विचार, सभी गांवों को आत्मनिर्भर इकाई के रूप में विकसित करने, आर्थिक विषमता समाप्त करने सम्बन्धी विचार, ऐसे विचार बिन्दु हैं, जिसे कोई भी ऐसा व्यकित जो भारतीय परिवेश एवं विकास के आभास को समझता होगा, इन्कार नहीं करेगा।

भौतिकता, विदेशी तकनीक, भोग विलासयुक्त उपभोक्ता संस्कृति में पड़कर हम रामराज्य के लक्ष्य को झुठलाकर न जाने किस भौतिक मकड़ीजाल में जा रहे हैं, अंधी विकास की दौड़ में हमने बापू को भुला दिया, याद रखा है तो केवल 2 अक्टूबर। जबकि जरूरत इसके आगे सोचने की है। विशेषतः हमारे राष्ट्र के कर्णधारों को जो बापू के बलिदान की बदौलत राज सुख भोग रहे हैं, बापू के चिन्तन से प्रेरणा लेकर उन्हें कुछ करना चाहिए। नहीं तो गांधी चिन्तन मात्र संगोष्ठियों तक ही सीमित होकर रह जायेंगा।

सन्दर्भ ग्रन्थ–

1. गाँधी वाङमय, 2001, खण्ड 18, पृ0 261
2. गाँधी वाङमय, 2001, खण्ड 19, पृ0 178
3. गाँधी वाङमय, 2001, खण्ड 19, पृ0 353.
4. गाँधी वाङमय, 2001, खण्ड 19, पृ0 180.
5. गाँधी वाङमय, 2001, खण्ड 19, पृ0 179.
6. गाँधी वाङमय, 2001, खण्ड 18, पृ0 421.
7. यंग इंडिया, 12–3–1925, पृ0 88.
8. गाँधी वाङमय, 2001, खण्ड 19, पृ0 86.
9. यंग इंडिया, 26–3–1931, पृ0 49
10. यंग इंडिया, 26–11–1931, पृ0 368
11. हरिजन सेवक 15–1–1938 पृ0 416
12. हरिजन सेवक 31–03–1946 पृ0 63.
13. हरिजन सेवक 16–02–1947 पृ0 25.
14. हरिजन सेवक 01–06–1947 पृ0 172.
15. हरिजन सेवक 24–04–1939
16. यंग इंडिया 28–07–1920 पृ0 5
17. यंग इंडिया 23–03–1921 पृ0 93
18. यंग इंडिया 17–03–1927 पृ0 86

✦✦✦

*प्रवक्ता (इतिहास)
श्री हरि महाविद्यालय
लहंगपुर बेला, जौनपुर

शोध-२

नेहरू युग में भारत–चीन संबंध : एक विश्लेषण

सुनील कुमार गौतम*

प्राचीन काल से ही भारत–चीन के बीच धर्मिक–सांस्कृतिक और व्यापारिक संबंध घनिष्ट रहे हैं। भारत और चीन के राजाओं ने राजदूतों के स्तर पर भी संबंध विकसित किया। आजादी बाद भारत अपने सभी पड़ोसी देशों के साथ संबंधों को नए ढंग से पुनर्स्थापित करना चाहता था। चीन की भौगोलिक निकटता, चीन के साथ दुर्गम लेकिन सबसे लम्बी सीमा रेखा, चीन के साथ धार्मिक–सांस्कृतिक निकटता, चीन की विशालता और भारत को निकटस्थ पड़ोसी की आवश्यकता के कारण नेहरू ने चीन से बेहतर संबंध स्थापित करने का प्रयत्न किया। लेकिन चीन की बढ़ती हुई महत्वाकांक्षा, विस्तारवादी नीति, अफ्रो–एशिया का नेतृत्व हथियाने के उतावलापन और 1959 के बाद चीन के आक्रामक रूख ने नेहरू के मंसूबों पर पानी फेर दिया। 1962 में चीन ने भारत पर अचानक आक्रमण कर पराजित कर दिया। इससे भारत के स्वाभिमान को गहरी ठेस लगी और उसके अन्तर्राष्ट्रीय महत्व में भारी गिरावट आई। भारत की नजर में चीन की छवि एक धोखेबाज पड़ोसी की बन गई। अतः नेहरू युग में भारत–चीन संबंधों का विश्लेषण जरूरी है।

1947 ई. में भारत को राजनैतिक स्वतंत्रता तो मिली किन्तु सामाजिक एवं आर्थिक चुनौतियां अत्यन्त गहरी एवं गम्भीर थी। वहीं चीन में अक्टूबर 1949 में साम्यवादी क्रांति की सफलता के बाद एक स्थाई सरकार की स्थापना हुई। इसी वृहत्तर संदर्भ में भारत की विदेश नीति को और भारत चीन संबंधों को भी समझा जाना चाहिए।

आजादी के बाद भारत ने जिस विदेश नीति को अपनाया उसकी जड़े भारत के इतिहास–संस्कृति और परम्परा में है। वही भारत ने यथार्थपरक दृष्टिकोण अपनाया। आजादी के बाद सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में वृहत् स्तर पर पुनर्निमाण की जरूरत थी और इसके लिए शांतिवादी नीति ही ज्यादा उपयुक्त थी।

1950 के दशक में लगातार और बड़े जोर–शोर से 'हिन्दी–चीनी भाई–भाई' का नारा मुखर किया गया था और बारम्बार भारत और चीन के बीच हजारों वर्ष पुराने सांस्कृतिक संबंधों का उल्लेख होता रहता था। भारत पहला जनतांत्रिक देश था जिसने जनवादी चीन को मान्यता दी थी। पंडित नेहरू ने अपने मित्र सहयोगी इतिहासकार सरदार के.एम. पणिक्कर को भारतीय राजदूत के रूप में माओ के चीन में भेजा था और भारत सरकार ने चीन को सुरक्षा परिषद् में उसकी स्थाई सीट दिलाने की मुहिम में बढ़–चढ़ कर हिस्सा लिया था। नेहरू और कृष्णमेनन के प्रयासों से ही बान्डुंग शिखर सम्मेलन में चीन को आमंत्रित किया गया था। जब तिब्बत के मसले पर भारत ने इस क्षेत्र में चीन की सम्प्रभुता स्वीकार कर पंचशील समझौते पर हस्ताक्षर किए थे, तब यह लगने लगा था कि मानचित्रों के बारे में मतभेद के बावजूद इन दो देशों के संबंध सद्भावपूर्ण बने रहेंगे।[1]

भारत–चीन सीमा विवाद – जिस सीमा को लेकर विवाद है, उसका निरूपण औपनिवेशिक शासनकाल में अंग्रेज साम्राज्यवादियों द्वारा किया गया था। इस बारे में एक टिप्पणी बेहद विचारोत्तेजक है, 'सारा झगड़ा इस बात से पैदा हुआ है कि एक छोटे से नक्शे पर एक बहुत मोटी कूची से, दो देशों के बीच सरहद तय करने वाली रेखा खींची गई है।'[2] यह काम मैकमोहन नाम के एक सर्वेक्षक अफसर ने उस वक्त किया जब चीन बेहद खस्ता हाल था और अंग्रेजों की मनमानी का प्रतिरोध नहीं कर सकता था। यह याद रखने लायक है कि 1913 के शिमला समझौते में जहाँ दोनों पक्षों ने इस सीमा को मान्यता दे दी थी, चीन ने इसे स्वीकार नहीं किया था। यह भी नहीं भुलाया जा सकता कि वायसराय लार्ड कर्जन के शासनकाल में सर फ्रांसिस यंग हसबेंड ने जिस तरह के दुस्साहसिक सैनिक अभियान से तिब्बत के दरवाजे जर्बदस्ती खोले थे, उसने चीन को अपनी सुरक्षा और स्वाधीनता के बारे में बुरी तरह आशांकित कर दिया था। जनवादी चीन को यह आशा थी कि आजादी के बाद भारत की सरकार का आचरण ब्रिटिश औपनिवेशिक सरकार के उत्तराधिकारी जैसा नहीं रहेगा और तिब्बत तथा हिमालयी सीमांत में वह चीनी दावों को आसानी से स्वीकार कर लेंगे। उम्मीद इसलिए भी बढ़ी थी कि अपनी आजादी की लड़ाई के दौरान ही भारत की कांग्रेस पार्टी ने चीन के मुक्ति संग्राम के साथ अपनी सहानुभूति प्रदर्शित करने के लिए डॉ. कोटनीश के नेतृत्व में एक चिकित्सा मिशन भेजा था। स्वयं नेहरू ने मेनन की प्रेरणा से चीन के उन इलाकों का दौरा भी किया था जहाँ छापामार मुक्ति संघर्ष जारी था।[3]

सत्ता ग्रहण करने के बाद नेहरू इस बात के प्रति सचेत हुए कि हिमालयी सीमांत में और तिब्बत के क्षेत्र में सभी चीनी दावों को बिना शर्त स्वीकार करना भारत के लिए बेहद नुकसान देह हो सकता है। एक तरह से सामरिक संदर्भ में वह ब्रिटिश औपनिवेशिक सोच से पूरी तरह सहमत नजर आते है। उनकी समझ में भी तमाम मैत्रीपूर्ण संबंधों की परम्परा के बावजूद चीन और भारत के बीच एक भू–भाग का, मध्यस्थ पट्टी के रूप में होना आवश्यक था। नेपाल को एक 'बफर' राज्य के रूप में महत्वपूर्ण समझा गया और

तिब्बत की भी ऐसी ही सामरिक उपयोगिता थी। अनेक विद्वानों का मानना है कि 1950 में चीन द्वारा तिब्बत को मुक्त कराने ने नेहरू की चिंताओं को बढ़ाया था और पंचशील वाली रणनीति चीन के साथ विवादों के शांतिपूर्ण समाधान के लिए विशेष रूप से सोची गई थीं।[4] 1950 में जब किशोर दलाई लामा भारत यात्रा पर आए और उन्होंने तिब्बत लौटने में अनिच्छा दिखलाई तब नेहरू ने समझा–बुझाकर वापस भेज दिया ताकि चीन नाराज न हो जाए। किन्तु चीन के बढ़ते अत्याचारों के त्रस्त दलाई लामा ने 1959 में शरणार्थी के रूप में भारत पहुँचे, तब नेहरू को इस मेहमान के स्वागत के लिए विवश होना पड़ा। इस कार्य को चीन ने शत्रुतापूर्ण कार्यवाही समझा। इससे पूर्व 1954 में ही नेहरू ने अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों को ध्यान में रखते हुए विशेषकर चीन को ध्यान में रखते हुए पंचशील के सिद्धान्त प्रस्तुत किया और चीन के साथ पंचशील समझौता किया।

पंचशील सिद्धांत के जरिए विभिन्न देशों के बीच संबंधों का नियमन होगा। ये पाँच सिद्धान्त थे –

1.एक–दूसरे की भौगोलिक अखण्डता और सार्वभौमिकता के लिए सम्मान,

2.हमले की नीति का त्याग,

3.एक–दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना,

4.समानता और आपसी लाभ तथा

5.शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व

1959 और इसके बाद भारत–चीन संबंधों में बढ़ते तनावों को पंचशील के सिद्धान्त भी नहीं रोक पाई।

8 सितंबर 1962 को चीनी फौजों ने थागला पहाड़ी पर हमला कर दिया भारतीय फौजों को हटा दिया, लेकिन इसे एक छोटी सी घटना मानकर छोड़ दिया गया। नेहरू एक सम्मेलन के लिए लंदन चले गए, और देश लौटने के बाद फिर 12 अक्टूबर को कोलंबो रवाना हो गए। एक सप्ताह बाद चीनी फौज ने बड़े पैमाने पर हमला बोल दिया और पूर्वी सेक्टर नेफा, जिसे अरूणाचल प्रदेश कहा जाने लगा, में भारतीय चौकियों पर कब्जा कर लिया। नेफा का भारतीय कमांडर बिना किसी प्रतिरोध के भाग निकला और चीनियों के प्रवेश के लिए रास्ता खुला छोड़ दिया। पश्चिमी मोर्चे पर 20 अक्टूबर को चीनियों ने गल्वान घाटी में तेरह सीमावर्ती चौकियों पर कब्जा कर लिया। चूशूल हवाई पट्टी पर खतरा बढ़ गया। सारे देश में गुस्से की लहर दौड़ पड़ी और चीनियों के इरादों पर प्रश्नचिह्न लग गया। सभी सोचने लगे कि चीनी मैदान में आकर आसाम पर कब्जा कर लेंगे और शायद दूसरे क्षेत्रों पर भी कब्जा कर लें। नेहरू ने राष्ट्रपति केनेडी को 9 नवम्बर को दो पत्र लिखे। उनमें उन्होंने परिस्थिति को 'संकटग्रस्त' बताया और व्यापक सैनिक सहायता की मांग की। उन्होंने ब्रिटेन से भी सहायता मांगी। चौबीस घंटों बाद चीनियों ने वापस जाने की एकतरफा घोषणा कर दी। 'चीनी राक्षस जितने अप्रत्याशित तरीके से उदित हुआ था, उसी प्रकार लुप्त भी हो गया, और अपने पीछे टूटे–दिल वाला दोस्त और गडमड और दिशाहीन मनःस्थिति वाला जनता छोड़ गया।'[5]

राष्ट्रीय राजनीति में नेहरू के विदेश नीति की आलोचना की जाने लगी। नेहरू पराजय के चोट से कभी उबर नहीं सके और मई 1964 में उनकी मृत्यु हो गई। जिस आत्मविश्वास के साथ भारत राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय चुनौतियों का सामना कर रहा था उसे गहरा धक्का लगा। भारत का आत्मविश्वास हिल गया और समस्त नीतियों पर पुनर्विचार करना पड़ा। राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर नेहरू सरकार के महत्व में भारी गिरावट देखने को मिली। विरोधियों ने मौके का फायदा उठाकर भूमि हदबंदी कानून संबंधी एक संवैधनिक संशोधन रोक दिया। तीसरी योजना पर बुरा प्रभाव पड़ा और संसाधनों को प्रतिरक्षा की ओर मोड़ दिया। परिणामस्वरूप कांग्रेस तीन संसदीय उपचुनावों में लगातार हार गई। अगस्त 1963 में नेहरू को अपने जीवन में पहली बार अविश्वास प्रस्ताव का सामना करना पड़ा।

विदेश नीति पर 'चीनी कारक' की छाया पड़ गई। इस संकट में अमरीका और इंग्लैंड ने सकारात्मक रूख अपनाया था लेकिन पाकिस्तान के कहने पर भारत की कमजोरी का फायदा उठाकर उससे कश्मीर के प्रश्न पर आत्मसमर्पण करने पर जोर दिया। इन सबके बावजूद भी नेहरू किसी प्रकार के दबाव का सामना करने में सफल रहे। ये देश गुटनिरपेक्षता का त्याग करने पर भी बल दे रहे थे। किन्तु नेहरू ने ऐसा नहीं किया फिर भी अमरिकी प्रभाव में काफी वृद्धि हुई, विशेषकर सैनिक मामलों में। नेहरू ने सोवियतों के साथ भी सैनिक समझौते करना जारी रखा। अमरीका के मुकाबले सोवियत लंबी अवधि की सैनिक सहायता देने को अधिक तैयार थे। पाकिस्तान के साथ संबंध तो आजादी के समय से ही तनावपूर्ण था। पाकिस्तान चीन की ओर झुकने लगा, और यह सोचकर कि भारत सचमुच कमजोर हो गया है, उसने 1965 का युद्ध छेड़ दिया।

कुछ मूलभूत प्रश्न सामने मौजूद हैं जिनसे हम बच नहीं सकते। पंचशील समझौते के बावजूद भी चीन ने भारत पर हमला क्यों किया? क्या भारत की गुटनिरपेक्षता की नीति गलत थी? क्या नेहरू भावनाओं में अंधे हो गए थे? क्या भारत की पराजय प्रतिरक्षा कमजोरी के कारण हुई थी? क्या तिब्बत के प्रति भारत की नीति गलत थी? क्या भारत चीनी हमले का सशक्त प्रतिरोध करने में असमर्थ था? क्या सूचना तंत्र एवं खुफिया व्यवस्था के कमजोरी की परिणिति थी भारत का पराजय? क्या भारत को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की समझ नहीं थी? चीन हमले के बाद चौबीस घंटे में ही अपने कदम वापस क्यों उठा लिया? इत्यादि अनेक सवाल है जिनसे हम आज भी पीछा नहीं छुड़ा सकते।

चीनी हमले और भारत की पराजय ने हमें गहरी सीख दी। और हमने राष्ट्रीय स्वाभिमान को पाने के लिए सुनियोजित प्रयत्न किए। हमने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और वैदेशिक संबंधों में फूंक–फूंककर कदम उठाए। 1965 में चीन एवं अमरीका के समर्थन के बावजूद पाकिस्तान को पराजित किया। 1971 में भारत को भारी सामरिक एवं कूटनीतिक लाभ मिला। 1972 का शिमला समझौता,

भारत–पाक संबंधें में मील का पत्थर साबित हुआ। 1974 का पोखरण परमाणु परीक्षण भारतीय स्वाभिमान को नई ऊँचाई दिया। अब तक भारत पराजय के अपराध बोध से उबर चुका था।

1962 से पहले ही नेहरू को चीनी हमले की आशंका थी, उन्होंने 7 दिसंबर 1961 को लोकसभा में कहा था – "एक देशी–रूप विशाल हाथी हमारी सीमा पर बैठा है, और इस वास्तविकता की हम उपेक्षा नहीं कर सकते।" उन्होंने आगे कहा कि चीनी क्रांति के तुरंत बाद ही वह "इस नतीजे पर पहुंच चुके थे कि हमारी सीमा को किसी न किसी रूप में खतरा पैदा होगा।" नेहरू ने 3 सितम्बर 1963 को राज्यसभा में विस्तृत बयान दिया। इसमें उन्होंने सेना पर अत्यधिक खर्च न करने और अपनी ही ताकत पर रक्षा के लिए भरोसा करने के बारे में बयान दिया। "जो देश आज औद्योगीकृत नहीं है वह सैनिक दृष्टि से भी मजबूत नहीं होता।" "हमारे सामने मुख्य बात भारत को औद्योगिक तौर पर मजबूत करना है, न कि सतही तौर पर कोई पुरानी बंदूक या बेकार पड़े हवाई जहाज लेकर।"[6] पाकिस्तान के साथ संबंध पहले से ही शत्रुतापूर्ण था इसलिए भारत चीन के साथ शांतिपूर्ण संबंध बनाना चाहता था और तनाव को न्यूनतम करने और युद्ध को यथा–संभव टालने का प्रयत्न कर रहा था। क्योंकि 'दो मोर्चे पर युद्ध का मतलब था, विकास का अन्त'[7] अतः भारत सदैव चीन को खुश करने के प्रयत्न में लगा रहा ताकि चीन का सीमा विवाद से ध्यान हटे अथवा उदासीन बना रहे और चीन के साथ संबंध प्रगाढ़ बने।

भारत की पराजय, नेहरू की चीन में 'बचकाना आस्था' और यूरोपियाई शांतिवाद में उनका विश्वास तथा इसके फलस्वरूप भारतीय प्रतिरक्षा की कमजोरी के कारण नहीं हुई थी। बल्कि पराजय राजनीतिक नेतृत्व एवं सैनिक नेतृत्व द्वारा चीनी हमले के स्वरूप को न समझ पाने के कारण हुआ। अथवा चीन को लेकर कुछ गलतफहमियों के कारण पराजय हुई। चीफ ऑफ स्टाफ जनरल थिमैया का विचार था कि चीन के साथ व्यापक लड़ाई नहीं की जा सकती थी क्योंकि उसे पूरा सोवियत समर्थन मिलता। लगता है, वे तथा अन्य वरिष्ठ अफसर सोवियत–चीन मतभेदों से अवगत नहीं थे। न ही वे हवाई सेना की भूमिका के बारे में कुछ सोच सके। वह भी "ऐसे समय जब भारतीय हवाई सेना अरूणाचल प्रदेश तथा तिब्बत पर बिना किसी चीनी विरोध के आकाश में छा जाती।"[8] (नेहरू ने बिना हवाई सेना से सलाह किए ही अमरिका से हवाई सुरक्षा की मांग की थी।)

निष्कर्ष – भारत चीन से पराजय के बाद भी अपने वैदेशिक नीति में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं लाया। गुटनिरपेक्षता, पंचशील की नीति जारी रही यही नहीं नेहरू ने संयुक्त राष्ट्र संघ में चीन को सीट के लिए वकालत नहीं छोड़ी। यह बात बिल्कुल सही है कि चीन युद्ध के समय भारत न तो राजनयिक कुशलता का परिचय दे सका और न ही सामरिक बहादुरी का। युद्ध में पराजय के बाद भारतीयों में गहरा क्षोभ एवं निराशा का वातावरण व्याप्त था। भारतीय स्वाभिमान को गहरी चोट आई थी। भारत शांति चाहता था किन्तु उसे युद्ध और पराजय मिली। इसके लिए नेहरू की विदेश नीति को जिम्मेवार नहीं ठहराया जा सकता है क्योंकि वही विदेश नीति हमारी वर्तमान की विदेश नीति का आधार है। इतना ही नहीं आज वैश्विक संदर्भ में भी उन नीतियों की प्रासंगिकता है। भारत सदैव अपने पड़ोसी देशों के साथ बेहतर रिश्ते रखना चाहता है लेकिन आपसी समझदारी के अभाव, कुछ गलतफहमियों और सीमा विवाद आदि के कारण तनाव की स्थिति बनती रहती है। 1962 के युद्ध के बाद भारत की नजर में चीन की छवि एक धोखेबाज पड़ोसी की बनी। लम्बे अन्तराल के बाद राजीव गाँधी ने चीन के साथ बेहतर संबंध स्थापित करने का प्रयास किया और उसके बाद नीतियों में निरंतरता है। लेकिन अविश्वास की जो रेखाएं हैं, आज तक नहीं मिटी हैं। भारत की प्रतिरक्षा नीति बहुत हद तक चीन को ध्यान में रखकर तैयार की गई। वर्तमान उदारीकरण और भूमंडलीकरण के युग में भारत–चीन संबंधो को नया आयाम मिला है और अब भारत और चीन के बीच कई मुद्दों पर सहमति बनी है।

चर्चिल ने नेहरू को एक पत्र में लिखा था – "हमारे बीच संबंधों में कटुता पर विचार करते हुए आपकी ओर से शांति की भावना तथा शत्रुता का भाव न होना; मैंने हमेशा सराहा है। आपकी जिम्मेदारी बहुत भारी है, क्योंकि आपको अपने करोड़ों लोगों का भविष्य संवारना है, और साथ विश्व मामलों में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करनी है। मैं आपके कार्य में आपको शुभकामनाएं देता हूँ। याद रखें, 'एशिया के प्रकाश'।"[9]

सन्दर्भ ग्रन्थ–

1. पुष्पेश पंत – 21वीं शताब्दी में अंतर्राष्ट्रीय संबंध, पृ. 38.
2. वही, पृ. 39.
3. वही, पृ. 39.
4. वही, पृ. 40.
5. विपिन चंद्र, आजादी के बाद का भारत, अध्याय–12, विदेश नीति नेहरू युग, पृ. 224.
6. लोकसभा में भाषण, 27 नवंबर 1959, बी.पी. दत्त, इंडियन एंड द वर्ल्ड में उद्धृत, पृ. 42–48.
7. विपिन चन्द्र, आजादी के बाद का भारत, अध्याय–12, पृ. 226.
8. के. सुब्रह्मणियम, 'इवोल्यूशन ऑफ इंडियन डिफेंस पॉलिसी' (1947–1964) बी.एन. पांडे द्वारा संपादित ए सेंटीनरी हिस्ट्री ऑफ द इंडियन नेशनल कांग्रेस, खंड IV, नई दिल्ली, 1990, पृ. 516.
9. ए.के. दामोदरन, 'फॉरेन पॉलिसी इन एक्शन' में उद्धृत, पांडे द्वारा संपादित ए सेंटीनरी हिस्ट्री में, पृ. 469.

✦✦✦

*शोध–छात्र
इतिहास विभाग
पटना विश्वविद्यालय, पटना

शोध-३

आधुनिक शिक्षा पद्धति में मालवीय जी का योगदान

डॉ. सन्ध्या श्रीवास्तव*

शिक्षा जीवन पर्यन्त चलने वाली एक विचारपूर्ण प्रक्रिया है, जिसके द्वारा व्यक्तित्व के आन्तरिक और वाह्य सभी पक्षों का विकास होता है। शिक्षा के फलस्वरूप ही व्यक्ति अपने को परिस्थितियों से समायोजन करने योग्य बनाता है। अपने व्यवहार में परिमार्जन लाता है और अन्त में समाज और राष्ट्र का एक सजग प्रहरी होता है। ऐसे सजग प्रहरी के निर्माण में मालवीय जी के शिक्षा पद्धति का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

पंडित मदन मोहन मालवीय का जन्म 25 दिसम्बर 1961 ई. को इलाहाबाद के लालडिंगी मोहल्ले (भारतीय भवन) में हुआ था। पिता पंडित ब्रजनाथ व्यास तथा माता श्रीमती मूना देवी के धार्मिक परिवार का प्रत्यक्ष इन पर पड़ना स्वाभाविक था। 20 वर्ष की उम्र में ही इनका विवाह कुन्दन देवी से हुआ। हिन्दी और संस्कृत की शिक्षा इन्होंने घर पर ही प्राप्त की। आर्थिक स्थिति खराब होने के कारण बी.ए. पास करने के बाद ही इन्होंने राजकीय विद्यालय में 40 रु. मासिक वेतन पर अध्यापन कार्य कर लिया। इसी समय से वे कुशल और आदर्श शिक्षक के रूप में पहचाने जाने लगे। इनका सम्पूर्ण जीवन मानवता, आध्यात्मिकता, सामाजिकता एवं कर्त्तव्य परायणता में ही व्यतीत हुआ। ये हिन्दू धर्मावलम्बी थे, सनातन धर्म में विश्वास करते थे, गीता का कर्मवाद इनके जीवन का आदर्श था, श्रीमद्भागवत पुराण के अनुयाई थे, ईश्वर को सत्य ज्ञान रूप तथा आनन्द रूप मानते थे। मालवीय जी को अपने तथा अपनी शक्तियों पर विश्वास था। उनकी सोच थी कि आत्मा विभिन्न शक्तियों का निकेतन है। आत्मविश्वास मानव–जीवन का महत्त्वपूर्ण पहलू है। उत्साह को व्यक्ति की सफलता का प्रतीक और कर्तव्य को अपना धर्म मानने वाले महापुरुष का शैक्षिक विचार पूर्ण–रूपेण उनके जीवन दर्पण पर आधारित है। उनके अनुसार जीवन का आधार धर्म, समाज, संस्कृति और शिक्षा है। इसी से राष्ट्र का उत्थान सम्भव है। शिक्षा के अर्थ को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक, चारित्रिक, धार्मिक पक्ष यदि साध्य है तो उनके विकास के लिए शिक्षा साधन के रूप में कार्य करती है। उनका मानना है कि विद्या मुक्ति प्राप्ति का पथ प्रदर्शक है, 'सा विद्या विमुक्तेय'। पंडित जी हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुस्तान के प्रबल समर्थक थे। साहित्य और देश की उन्नति अपने देश की भाषा के द्वारा ही हो सकती है। ऐसा उनका मानना था। हिन्दी को राष्ट्र भाषा का गौरव दिलाने का श्रेय पंडित जी को ही है। अध्यापक के लिए उनकी सोच सादा जीवन उच्च विचार का था। उनकी कल्पना में गुरु के अन्दर पिता भाव की प्रवृत्ति तथा पवित्र विचार होने चाहिए। मानवीय जी विनय एवं अनुशासन की जीती–जागती प्रतिमा थे। विनय का स्रोत है–संयम, संयम उनके जीवन का प्रमुख अंग था। 'विद्या ददाति विनयम' के मूल मंत्र में उनका विश्वास था। मालवीय जी आधुनिक समाज के दोषों का परिष्कार बहत बड़ी सीमा तक स्त्री शिक्षा को मानते थे। सफल राजनेता, समाज सुधारक, भारतीय धर्म के पोषक, संत, कवि, पत्रकार एवं शिक्षा विचारक महापुरुष ने शिक्षा जगत को जो कुछ भी समर्पित किया है, वह आज भारत तक ही नहीं अपितु, पूरे विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय भावना के विकास हेतु अद्वितीय है। महामना मदन मोहन मालवीय के व्यक्तित्व और कृतित्व को देखने से उनका योगदान स्वतः प्रमाणित होता है। सनातन धर्मावलम्बी, कार्य के प्रति ईश्वर की कृपा को स्वीकारने वाले पंडित जी ने भारतीयों को 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय' सौंप कर शिक्षा क्षेत्र में अपना अमर योग प्रदान किया है।

विश्वविद्यालय स्थापना का उद्देश्य भारतीय संस्कृति को सदा–सदा के लिए संरक्षित रखना था, जिसके लिए उन्होंने विभिन्न प्रकार के विषयों को ज्ञान के रूप में पाठ्यक्रम के रूप में निर्धारित किया। विश्वविद्यालय की स्थापना से उन्होंने धार्मिक भाषाओं को भी अग्रिम पंक्ति में लाने का सुझाव दिया।

हिन्दू संस्कृति की सुरक्षा के लिए मालवीय जी अथक प्रयास करते रहें, किन्तु 'हिन्दू' शब्द का अर्थ उनके लिए संकुचित न रहकर व्यापक रहा। शिक्षा जगत में 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय' की स्थापना करके व्यावहारिक शिक्षाविद् होने का गौरव प्राप्त किया।

मालवीय जी ने सभी धर्मावलम्बियों को अपने–अपने धर्म को मानते हुए अन्य धर्मों के प्रति सम्मान भाव की चेतना जगाई। राष्ट्रीयता की भावना हेतु उन्होंने सभी के लिए शिक्षा की व्यवस्था की। आज भी सभी प्रकार की नूतन ज्ञान–विज्ञान के शिक्षा का केन्द्र यह विश्वविद्यालय है। विदेशी भाषाओं की शिक्षा की व्यवस्था देकर यह संस्था लोगों में राष्ट्रयता ही नहीं अपितु अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना जगाने में सफल है। संस्कृतियों का आदान–प्रदान इसका महत्त्वपूर्ण कार्य है। लगभग 200–250 विदेशी छात्र आज भी यहाँ अध्ययन करके सांस्कृतिक सामन्जस्य बनाने में सफल हैं।

शिक्षा जगत में बहुमूल्य योगदान हेतु (काशी) बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय सदा–सदा के लिए स्मरणीय रहेगा। शिक्षा जगत में मालवीय जी का योगदान राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने निम्न पंक्तियों में व्यक्त किया है–

"भारत को अभिमान तुम्हारा, देश भारत के अभिमानी।
पूज्य पुरोहित थे हम सबके, रहे सदैव समाधानी।
तुम्हें कुशल याचक कहते हैं, किन्तु कौन तुम सा दानी।
अक्षय शिक्षा–सत्र तुम्हारा, हे ब्राह्मण ब्रह्मज्ञानी।

✦✦✦

*प्रवक्ता (हिन्दी)
बाबा डोमनदेव महाविद्यालय
कपिसा, कटेहर, दानगंज, वाराणसी

शोध-४

शिक्षा पर मैकालियन प्रभावः समस्या से समाधान की ओर

डॉ. आलोक गार्डिया*
डॉ. दीपा मेहता*

यह एक सर्वमान्य सत्य है कि शिक्षा किसी भी व्यक्ति समाज और राष्ट्र के विकास का पैमाना मानी जाती है। भारतीय चिंतन में शिक्षा को 'ज्ञानम् तृतीयम् मनुषस्य नेत्रम्' अर्थात् शिक्षा को वह प्रकाश माना गया है जो हमे असत्य से सत्य की ओर, अंधकार से ज्योति की ओर एवं मृत्यु से अमरता की आरे ले जाता है। इसीलिए विद्वानों ने शिक्षा को तीसरा नेत्र भी कहा है।

शिक्षा वस्तुतः जीवन का संपूर्ण शास्त्र है। शिक्षा सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति का एक सामाजिक साधन है जिससे समाज में बेहतर मनुष्य का निर्माण होता है जो स्वयं में ऐसी योग्यता पैदा करता है जिससे वह अपने और समाज के हित के बारे में निर्णय ले सके। अतः शिक्षा व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के साथ–साथ व्यक्ति में आत्मनिर्भरता, आत्मिक ऊर्जा और अपने अस्तित्व का एहसास बोध भी कराती है। शिक्षा के द्वारा ही किसी देश के नागरिकों में नागरिकता के गुणों, मानवीय आदर्शों एवं मूल्यों का संचार होता है।

शिक्षा पर मैकालियन प्रभाव : तब –

ब्रिटिश शिक्षा नीति का खुलासा करते हुए गर्वनर जनरल बैंटिक के काल में ब्रिटिश विधिवेत्ता लार्ड मैकाले का मानना था कि ब्रिटिश शिक्षा पद्धति ऐसे लोगों को तैयार करेगी जो रक्त एवं मांस से तो भारतीय होंगे पर सोच एवं दिमाग से अंग्रेज होंगे। इसीलिए प्राच्य ब्रिटिश विद्वानों ने भारतीय भाषा में शिक्षा का माध्यम निहित करने के तर्क को नकारते हुए पाश्चात्यवादी मैकाले ने ब्रिटिश भारत में आधुनिक शिक्षा देने का माध्यम में केवल 'अंग्रेजी' की वकालत की।

मैकाले ने भारतीय दर्शन एवं साहित्य की महत्ता को नकारते हुए यूरोपीय पुस्तकों की महत्ता पर बल दिया।

ब्रिटिश सरकार एवं ब्रिटिश कंपनी ने मैकाले की सिफारिशों को स्वीकृत करते हुए अंग्रेजी भाषा में ही आधुनिक शिक्षा देने की व्यवस्था की। इस कारण सरकारी अनुदान एवं प्रबुद्ध वर्गों के सहयोग से अंग्रेजी माध्यम के स्कूल खुलने लगे। अतः 1835 के घोषणा पत्र के जरिए लोकशिक्षा की उपेक्षा करते हुए अंग्रेजी को स्कूलो और कालेजो में शिक्षा का माध्यम बनाया गया और अधोमुखी निस्यंदन को सिद्धांत में विश्वास व्यक्त किया गया जिसके अनुसार शिक्षा समाज के उच्च वर्ग को दी जाए और इस वर्ग से छन–छन कर शिक्षा का प्रभाव जनसाधारण तक पहुँच

लेकिन 1854 के वुड डिस्पैच (भारतीय शिक्षा का मैग्नाकाती) के जरिए अधोमुखी निस्यंदन के सिद्धांत को त्यागते हुए स्थानीय भाषा को भी आधुनिक शिक्षा देने का माध्यम बनाया गया। इसके तहत कालेज स्तर पर अंग्रेजी माध्यम एवं माध्यमिक स्तर पर भारतीय भाषा एवं अंग्रेजी भाषा देानो ही माध्यम बनाए गए। इस प्रकार स्वतंत्र पूर्व भारत में कमोबेश यही शिक्षा नीति चलती रही। हांलांकि ब्रिटिश शिक्षा नीति ने भारत में आधुनिक शिक्षा देने की आधारशिला निर्मित की लेकिन इसी आधारशिला द्वारा शिक्षित भारतीय वर्ग का अभ्युदय हुआ जिसने ब्रिटिश सत्ता को उनकी ही शिक्षा से शिक्षित करके भारत में राष्ट्रवाद की भावना उत्पन्न कर दी। इसीलिए ऐसा माना जाता है कि भारत ने पश्चिमी हथौड़े से ही अपनी स्वतंत्रता की बेड़ियाँ काट डाली।

शिक्षा पर मैकालियन प्रभावः अब–

जिस प्रकार नेपोलियन बोनापार्ट की उग्र राष्ट्रवाद की नीति 19वीं एवं 20वीं सदी के पुरातन राजतंत्र एवं यूरोप को आतंमिक करती रही उसी प्रकार 15 अगस्त 1947 को ब्रिटेन के पलायन के बाद भी अंग्रेजी द्वारा प्रदत्त जीवन शैली भारतीय शैक्षिक, प्रशासनिक, सामाजिक एवं वैयक्तिक जीवन शैली को प्रभावित करती रही है। कहने का आशय यह है कि मैकाले द्वारा व्यक्त ब्रिटिश नीतियाँ, भारतीय जीवन शैली पर गहरे रूप से जड़ जमा चुकी हैं। जो मैकाले के 100 साल बाद भी भारतीय नीति निर्माण एवं संघ को प्रभावित कर रही हैं।

जैसा कि हम देखते है कि आज वैश्विक दबाव में भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का जितनी तेजी से पश्चिमीकरण हो रहा है वह कही न कहीं मैकाले के अस्तित्व का एहसास करा रही है। आज नव सम्राज्यवाद के रूप में मैकाले की पुर्नवापसी भारत में तेजी से हो रही है। प्राचीन काल में यूनानी विद्वान प्लीनी यूरोपीय बाजार के भारतीयकरण को लेकर आंसू बहाया था आज वहीं स्थिति हमारे बीच विद्यमान है। हम भी भारतीय समाज एवं संस्कृति पर बढ़ रहे पश्चिमीकरण का रोना रो रहे हैं।

मैकाले द्वारा सृजित नौकशाह एवं अभिजात्य वर्ग से यह पश्चिमीकरण आम जन समुदाय तक के घर–आंगन में समाहित होती जा रही है। सम्राज्यवाद का आधुनिक

रूपांतरित रूप में नव–सम्राज्यवाद का आगमन, भारतीय समाज में पांव पसार चुका है भारतीय समाज की जीवनशैली यानी रहन–सहन, खान–पान आदि स्वयं को पश्चिमीकृत मॉडल में ढाल रही है।

कारपोरेट संस्कृति के विस्तार और फास्ट फूड शैली के प्रचलन ने भारतीय जीवनशैली को ब्रिटिश जीवन शैली से रंग दिया है। हमारी जीवनशैली चाहे पहनावा हो, खान–पान हो, पसंद हो, मनोरंजन के साधन हो सभी पश्चिमी रस घुला हुआ है। इसी प्रकार सरकारी नीतियाँ भी पश्चिमीकरण से प्रभावित हो रही हैं। भारत का बाजार बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लिए खोलना, सार्वजनिक क्षेत्रों का निजीकरण आदि कार्य वैश्विक नव सम्राज्यवाद की मांग के अनुकूल ही है।

डब्लू टी ओ एवं विश्व बैंक का बढ़ता दबाव, भारतीय अर्थव्यवस्था में नवीन परिवर्तनों को जन्म देने को बाध्य कर रहा है। आज नीम, हल्दी जैसे भारतीय देशी वस्तुओं का पेटेंट कर पश्चिमी देश हमारे देशी उत्पाद पर दावा ठोक रहे है।

विदेशी वस्तुओं की भारतीय बाजार में सशक्त उपस्थिति ने एक बार पुनः स्वतंत्र भारत में विऔद्योगिकरण (Disindrustialisation) का संकट खड़ा कर दिया है।

पश्चिमीकरण की इस नकल से वर्तमान भारतीय शिक्षा व्यवस्था नहीं बच सकी। आज हम जितनी भी लोकतंत्र की बाते कर लें किंतु डेमोक्रेसी की उत्पत्ति लैटिन शब्द से ही बताई जाएगी। आज भारतीय शिक्षा काफी हद तक मैकाले की नीति का ही अनुसरण कर रही है। आज भी भारतीय शिक्षा व्यवस्था ब्रिटिश शिक्षा प्रणाली से अपनी पृथक् पहचान नहीं बना सकी है।

डॉ. एस. राधाकृष्णन का मानना था कि "शिक्षा केवल जीविकोपार्जन का साधन नहीं है। न विचारों की संवर्धन स्थली है और न ही नागरिकता की पाठशाला है यह अध्यात्मिक जीवन में प्रवेश की दीक्षा है। सत्य की खोज में लगी मानव आत्मा का प्रशिक्षण है। लेकिन 1990 के बाद भारत में आर्थिक उदारीकरण एवं प्राद्योगिकी युग की शुरुआत से ही शिक्षा के स्वरूप में भी परिवर्तन दिख रहे हैं। पहले शिक्षा ज्ञान की प्राप्ति एवं सत्य की खोज का साधन थी, किन्तु आज युवाओं का नारा है–'शिक्षा नहीं रोजगार चाहिए। राष्ट्र की दीवारें भूमंडलीकरण के आगे ढहती जा रही हैं, इस कारण बदलते वैश्विक परिवेश में भारत की बढ़ती शिक्षित बेरोजगारी के सामने यह नारा उनकी विवशता को भी व्यक्त करता है।

स्वयं को असुरक्षित एवं पिछड़ेपन का बोध, छात्रो को अपने भविष्य के प्रति सोचने को विवश किया जिससे शिक्षा का जुड़ाव सत्य की खोज न होकर व्यवसायीकरण या रोजगारीकरण से हुआ है। शिक्षा में निजीकरण या वाणिज्यीकरण ने शिक्षा को बाजार में बिकने वाली वस्तु बना दिया है। विद्यालय या शैक्षिक संस्थान बाजारो में बिकने वाले उत्पाद तैयार कर रहे है। IIM, III एवं उनके संस्थानो से विकसित उत्कृष्ट भारतीय मस्तिष्क को खरीदने के लिए पश्चिमी संस्थान पांव पसारे खड़ी है। भारत में तैयार गुणवत्तापूर्ण कौशल का प्रयोग भारत के विकास में न लगाकर भारत के बाहर विकसित देशों के विकास में लग रहा है। यह स्थिति मैकाले के सस्ते नौकर प्राप्त करने की ब्रिटिश नीति का ही अंग प्रतीत होता है।

शिक्षा के वाणिज्यीकरण एवं पश्चिमी तंत्र से रूझान मैकाले के अस्तित्व का भान कराता है। अतः आवश्यकता है 1835 के उस विख्यात दस्तावेज के उस परिकल्पना से बाहर आने की जिसमें भारतीयों को अंग्रेजीयत में ढालने की साजिश रची गई थी जो वर्तमान संदर्भ में भी निरंतर जारी है।

समाधान– वर्तमान भारतीय शिक्षा प्रणाली में मैकाले अस्तित्व की खोज को मात्र पश्चिमीकरण की नकल के रूप में देखे जाने की जरूरत नहीं है, वरन् बदलते वैश्विक परिवर्तन के रूप में देखने की जरूरत है। विरोध के नाम पर सिर्फ विरोध करना तर्क संगत नहीं अपितु समय के अनुरूप स्वयं को परिवर्तनशील करना ही न्यायसंगत एवं विवेकपूर्ण समझदारी पूर्वक कदम माना जा सकता हैं वरना इसका दुष्परिणाम सभी क्षेत्रों में पिछड़ापन के रूप में उद्घाटित हो सकता है। इसका विघटन एवं अफगानिस्तान में तालिबानी शासन की समाप्ति इसके जवलंत उदाहरण है।

पश्चिमीकरण के नाम पर विदेशी भाषा का विरोध तर्क संगत नहीं है समाजसुधारक राजा राम मोहन राय एवं महात्मा गांधी का भी मत था कि विदेशी भाषा सीखना गलत नहीं किन्तु अपनी भाषा को भी सम्मान देना आवश्यक है।

अर्थात् 'अतिथि देवो भवः' उचित संस्कृति है किन्तु अतिथि सम्मान हेतु अपनी माँ को घर से निकालना सर्वथा अनुचित एवं भारतीय संस्कृति के विपरीत है।

वर्तमान संदर्भ में पाश्चात्य उपभोक्तावादी संस्कृति का अनुपालन भारतीय जीवन शैली के लिए कितना अनूकुल है। इस प्रश्न का उत्तर ढूढ़ने की आवश्यकता है जो शिक्षा के माध्यम से ही संभव है। पड़ोसी देश चीन को उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है। अंग्रेजी के बढ़ते प्रभाव के बीच चीन अपनी मेडारिन भाषा के साथ 21वीं सदी में मजबूती के साथ अंतर्राष्ट्रीय मंच पर अपनी उपस्थिति दर्ज करा रहा है। जबकि हम अंग्रेजी के बढ़ते प्रभाव पर घड़ियाली आंसू बहा रहे हैं। आवश्यकता है अपनी आंतरिक शैक्षणिक एवं सामाजिक कमजोरियों को दूर करने की, जरूरत है अपनी शैक्षिक गुणवत्ता बढ़ाने की। जरूरत है कोठारी आयोग (1964–66) के उस सुझाव पर अमल करने की जिसमें शिक्षा को आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को तीव्र करने का साधन बनाने की बात कही गई थी। आवश्यकता है उन शिक्षित ग्रामीण युवकों के मन में नगरों के रहन–सहन के प्रति अनावश्यक आकर्षण को रोकने की, जो आज 21वीं सदी में

शोध-५

कश्मीर समस्या एवं सम्भव समाधान

अरविन्द कुमार*

अपने प्राकृतिक सौन्दर्य, सुरम्य भौगोलिक स्थिति, सुन्दर–शालीन लोगों तथा झील–झरनों के कारण जम्मू–कश्मीर का भू–भाग "A Garden of Ethereal Spring" के रूप में जाना जाता है और साथ ही जम्मू–कश्मीर के पर्यटन केन्द्र होने के कारण यह देश–विदेश में हमेशा चर्चा का विषय रहा है। आज यह हिंसा–प्रतिहिंसा और आतंकवाद के कारण सुर्खियों में बना हुआ है। एक समय था जब कश्मीर घाटी पहुँचना देश–विदेश के पर्यटकों और अध्येताओं का सुन्दर सपना होता था। पहलगाम, सोनमर्ग, गुलमर्ग और श्रीनगर गर्मी के महीनों में पर्यटकों से भर जाते थे। लेकिन सन् 1988–89 के बाद हालात् कुछ ऐसे बदले कि श्रीनगर के हाऊसवोट गर्मियों में भी सूनसान पड़े रहने लगे। जम्मू–कश्मीर का क्षेत्रफल (2,22,236 वर्ग किमी.) लगभग सवा दो लाख वर्ग किमी. है। इसका एक हिस्सा (क्षेत्रफल 78,114 वर्ग किमी.) पाकिस्तान के कब्जे में है। इसका मुख्य शहर मुजफ्फराबाद है। सामाजिक, सांस्कृतिक और प्रशासनिक दृष्टि से जम्मू–कश्मीर के प्रमुख तीन संभाग हैं–जम्मू कश्मीर घाटी और लद्दाख। विशुद्ध भौगोलिक दृष्टि से सूबे को चार क्षेत्रों में बांटा गया है–

1. कांडी क्षेत्र। 2. शिवालिक श्रृंखला। 3. कश्मीर घाटी एवं पीरपंजाल श्रृंखला। 4. लद्दाख।

कश्मीर नदियों, पहाड़ों घाटियों, झीलों और झरनों का इलाका है। कश्मीर के इस अनुपम प्राकृतिक सौन्दर्य के कारण ही इसे 'पृथ्वी का स्वर्ग' कहा जाता है। जम्मू–कश्मीर के उत्तर–पश्चिम में अफगानिस्तान उत्तर–पूर्व में चीन (सिक्यांग प्रान्त) और पूर्व में तिब्बत स्थित है। कश्मीर हिमालयी पर्वतीय व्यवस्था द्वारा दो भागों में बहुत ही विषय रूप से क्षेत्रफल, जलवायु तथा जनसंख्या में विभाजित है। चारों तरफ से हिमाच्छादित उत्तुंग शिखरों से घिरी झेलम की सुन्दर घाटी कश्मीर की आत्मा है। राजधानी श्रीनगर एक प्राचीन और प्रख्यात नगर है। जिसके बीच से झेलम नदी बहती है। कश्मीर को झेलम की घाटी भी कहा जाता है। कश्मीर के लिए झेलम महज एक नदी ही नहीं है। यह इसके सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन की सबसे खूबसूरत और प्रवाहमान धरोहर भी है। यह वेरिनाग से होकर निकलती है। प्राचीन काल में इसे हिदास्पस कहा जाता था। हिन्दू शासन काल में इसका नाम वेदस्ता था। कश्मीरियों के बीच यह वेथ नाम से लोकप्रिय रही है। वारामूला के बाद इसे काशूरदरिया कहते रहे हैं। जब किशन गंगा से मिलकर आगे प्रवाहित हुई तो इसका नाम झेलम पड़ा।

कश्मीर घाटी में तीन बड़ी झीलें डल, वुलर और मनसावल है। कश्मीर घाटी के लोगों की आय और जीविका का प्रमुख साधन कृषि, पर्यटन और फल उत्पादन है। ग्रामीण आबादी का लगभग 80 फीसदी हिस्सा कृषि ओर उससे जुड़े व्यवसायों पर निर्भर है। जम्मू–कश्मीर राज्य की कुल आय में कृषि क्षेत्र की हिस्सेदारी 37 प्रतिशत है। जम्मू कश्मीर के लगभग 7,50,000 हेक्टेयर क्षेत्र कृषि हेतु उपयोग में लायी जाती है। यहाँ की प्रमुख फसल चावल, बाजरा, ज्वार, जौ और गेंहू है। फलों में सेव, अखरोट, बादाम, नाशपाती, बब्बूगोशा और खूबानी यहाँ विशेष रूप से पैदा होता है। कश्मीर घाटी के कुछ इलाकों में केसर की खेती व्यापक पैमाने पर होती है। पम्पोर इसका मुख्य केन्द्र है। झीलों, झरनों और नदियों की अप्रतिम घाटी की तरह ही कश्मीरी लोग भी बेहद काव्यात्मक, सुन्दर, सभ्य, भालीन और सहिष्णु रहे हैं। प्राचीन समय से ही यहाँ कई धर्मों के मतावलंबी एक साथ रहते रहे हैं। जम्मू डिवीजन में पहाड़, मैदान और पथरीले पठार हर तरह के क्षेत्र हैं। जम्मू शहर के आसपास के इलाकों में हिन्दू आबादी अधिक है तो राजौरी, पुँछ और डोडा जिले में मुसलमान आबादी अधिक है। जम्मू डोगराओं का मुख्य राजनीतिक और भाषकीय केन्द्र रहा है। इसे प्राचीन काल में रघुवंशी राजा जाम्बुलोचन ने बसाया था। उसी के नाम पर इसका नाम जम्बू और बाद में जम्मू पड़ा। तवी नदी के किनारे पर अवस्थित होने के कारण इसे जम्मू तवी भी कहा जाता है। जम्मू को मंदिरों का शहर भी कहा जाता है। वैष्णव देवी मंदिर जम्मू के कटरा पहाड़ियों पर बना है। अपने प्राकृतिक सौन्दर्य, चीड़, देवदार के घने जंगल, नदियों और झरनों के कारण इस क्षेत्र को 'मिनी कश्मीर' कहा जाता है। जम्मू–कश्मीर राज्य का तीसरा सम्भाग लद्दाख है। 'दुनिया की छत' कहे जाने वाले लद्दाख में कारगिल, लेह और जंसकार के इलाके अपने अप्रतिम सौन्दर्य और भौगोलिक व सामरिक महत्व के कारण अत्यन्त महत्वपूर्ण माने जाते हैं, इनकी एक सरहद चीन और दूसरी पाकिस्तन से मिलती है। ऊँची और हिमाच्छादित पर्वत श्रृंखलाओं, दुर्गम दर्रों और अपनी बहुरंगी संस्कृति के कारण यह इलाका देशी–विदेशी पर्यटकों, शोधार्थियों और पर्वतारोहियों के आकर्षण का प्रमुख केन्द्र रहा है। इसका प्रमुख नगर केन्द्र लेह है। सन् 1991 की जनगणना के अनुसार यहाँ की आबादी 77,18,000 थी। 2001 की जनगणना के अनुसार जम्मू–कश्मीर राज्य की आबादी 10,1,43,700 (53,60926 पुरुष आबादी और 47,82,774 महिला आबादी है) बताई गयी है। प्रति एक हजार पर महिलाओं की संख्या 892 है। जनसंख्या घनत्व 100 प्रतिवर्ग किमी. है। जम्मू और लेह के मुकाबले कश्मीर घाटी के जिलों की साक्षरता दर अभी भी बहुत ही कम है। कश्मीर घाटी में मुस्लिम आबादी लगभग 94 प्रतिशत है। सन् 1981 की

जनगणना के अनुसार यहाँ हिन्दुओं की आबादी 4.42 प्रतिशत और सिखों की 1.20 प्रतिशत थी। जम्मू में मुस्लिम आबादी 33.31 प्रतिशत और हिन्दू आबादी 62.06 प्रतिशत रही है। सिखों की आबादी यहाँ 3.67 प्रतिशत दर्ज की गई है, जम्मू कश्मीर में मुस्लिम आबादी 65.84 प्रतिशत, हिन्दू आबादी 30.41 प्रतिशत तथा सिख 1.06 और बौद्ध 1.27 प्रतिशत है।

सन् 1989 के अंत के पाकिस्तान द्वारा समर्थित हिंसा के साथ आतंकवाद और अलगावाद में गुणात्मक वृद्धि 1991 के दौरान अपने चरम पर थी। विदेश मंत्रालय को मूल रूप से जम्मू एवं कश्मीर से सम्बन्धित समस्याओं के सम्बन्ध में तीन कार्य निपटाते थे।

1. इस मुद्दे का क्रियात्मक या संस्थागत अंतर्राष्ट्रीयकरण को रोकना अतः इसके कारण कश्मीर भारत से अलग हो सकता है।

2. कश्मीर पर भारत के पक्ष को अंतर्राष्ट्रीय समुदाय और अंतर्राष्ट्रीय मंच जैसे संयुक्त राष्ट्र (UNO) के सामने द्विपक्षीय स्तर पर प्रस्तुत करना।

3. गृह मंत्री और जम्मू–कश्मीर सरकार के साथ सम्पर्क में रहना ताकि वे अंतर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियों और प्रतिक्रियाओं से अवगत रहें और प्रामाणिक सूचनाओं द्वारा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भारतीय पक्ष पर जोर डाला जा सके।

सन् 1991 से 1999 की अवधि के दौरान कश्मीर मुद्दे पर अंतर्राष्ट्रीय समुदाय की प्रवृत्ति को इस प्रकार देखा जा सकता है–

1. जम्मू एवं कश्मीर पर भारत के भौगोलिक दावों की ऐतिहासिक और कानूनी वैधता को नजर अंदाज करते हुए अधिकांश विश्व ने इस राज्य को भारत और पाकिस्तान के बीच एक विवादित क्षेत्र माना है।

2. अंतर्राष्ट्रीय समुदाय की रूचि भारत के मामले में औचित्य या जम्मू एवं कश्मीर के नागरिकों के कल्याण में बिल्कुल भी नहीं थी। उनकी मुख्य चिंता यह थी कि यह विवाद के द्वारा भारत–पाकिस्तान की टक्कर सैन्य संघर्ष के साथ परमाणु विनाश में न बदले।

3. अधिकांश इस्लामी देशों (सउदी अरब और तुर्की को छोड़कर) ने इस मुद्दे पर पाकिस्तान के हस्तक्षेप और अलगाववादी संगठनों को सहयोग देने की बात स्वीकार की।

सन् 1991 से कश्मीर मुद्दे पर पाकिस्तानी नीतियों में एक दिलचस्प परिवर्तन आया है। यह महसूस करते हुए कि जातीय–धार्मिक आधार पर कश्मीर को भारत से अलग करने की नीति अंतर्राष्ट्रीय समुदाय में स्वीकार नहीं की जायेगी, पाकिस्तान ने आत्मनिर्णय के सिद्धान्तों के आधार पर जम्मू–कश्मीर को भारत से अलग करने की वकालत की। ऐसा अलगाव, राज्य में मानवाधिकार के उल्लंघन के एक सुधार के रूप में प्रस्तावित किया गया। पाकिस्तान ने दावा किया कि राज्य का भारत में विलय अप्रमाणिक व अवैधानिक रूप से किया गया है जो कि भारत के विभाजन के समय लोगों के निर्णय को महत्व देने की बात को स्वीकार किया गया था। भारतीय संसद और जनमत दोनों इस समस्या को राष्ट्रीय स्तर पर निपटाने के सम्बन्ध में भिन्न–भिन्न विचार रखते है। इनमें से एक विचारधारा यह थी कि भारतीय संविधान के अनुच्छेद 370 को निरस्त कर दिया जाए, जिनके आधार पर कश्मीर को कुछ विशेष अधिकार मिले हुए हैं। साथ ही घाटी के संयोजन को परिवर्तित किया जाए। अन्य विचारधारा के लोग जम्मू एवं कश्मीर हेतु और अधिक स्वायत्तता चाहते हैं।

भारत की कश्मीर समस्या के प्रति इस प्रकार के अनिश्चितता पूर्ण स्थिति का लाभ पाकिस्तान के अलावा अन्य देशों ने भी पूर्णरूपेण उठाया और विशेषकर बाहरी सहयोग तथा मध्यस्थता स्वीकार करने के लिये मानवाधिकार को लेकर दबाव डालें। इसके साथ ही जम्मू एवं कश्मीर में अलगावादी व आतंकवादी तत्वों को पाकिस्तानी सहयोग समाप्त करने सम्बन्धी उपायों के सन्दर्भ में भिन्न–भिन्न मत रखते थे। इसके अतिरिक्त एक बुद्धिजीवी वर्ग ऐसा भी था जो इस विवाद के सन्दर्भ में एक सुरक्षात्मक और क्रियात्मक भूमिका की वकालत कर रहा था। एक वर्ग ऐसा भी था जो युद्ध को पाक अधिकृत कश्मीर तक ले जाने की वकालत कर रहा था और आवश्यकता पड़ने पर आतंकवादी शिविरों को नष्ट करने हेतु पाकिस्तानी क्षेत्र पर भी आक्रमण करने से उन्हें कोई परहेज नहीं था। भारतीय विदेश मंत्रालय कश्मीर नीति से सम्बन्धित स्थायी उत्तरदायित्वों के बजाए कृत्रिम प्रयासों में अधिक रुचि रखता था। विशेषरूप से केन्द्र सरकार का मुख्य उद्देश्यों में से एक एद्देश्य भारत के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण रखने वाले तीसरे पक्ष के हस्तक्षेप को यथासम्भव रोकना था। विदेश मंत्रालय का एक विशेष उद्देश्य पाकिस्तान प्रचार का प्रतिरोध करना था। इस कार्य को भारत विभिन्न देशों की सरकारों को अपने पक्ष की वैधता पर विश्वास दिलाना एवं विभाजन के धार्मिक–जातीय आधार सम्बन्धी विकृतियों को सामने रखना जो कि कश्मीर राज्य के अलग होने की स्थिति में दक्षिण एशिया के राष्ट्रों को प्रभावित कर सकते हैं।

तत्कालीन पाकिस्तान राष्ट्रपति परवेज मुशर्रफ ने अपनी आत्मकथा In the line of fire (London Simon & Schuster UK Ltd., 2006) में लिखा है कि हमारे द्विपक्षीय सम्बन्ध पहले की अपेक्षा काफी मधुर हुए है, और मैं इस बात को पुनः दुहराता हूँ कि (Conflict Management) संघर्ष प्रबन्धन का समय समाप्त हो चुका है और अब संघर्ष निवारण (Conflict Resolution) या समाधान का समय आ चुका है। वर्तमान में हम दो समानान्तर पथ पर अग्रसर हैं। प्रथम Confidence buildings Measures (CBMs) और दूसरा Conflict Resolution (संघर्ष निवारण)। मुशर्रफ के के अतिरिक्त एक अन्य सुझाव यह दिया जाता है कि जिस प्रकार से भारत–चीन सीमा विवाद के सम्बन्ध में चीनी नेता देंगश्यावो पिंग ने कहा था कि, "भारत और चीन को पहले अन्य क्षेत्रों में रिश्ते सुधारने चाहिए और जब आपसी विश्वास पैदा हो जाए तो सीमा विवाद का प्रश्न लेना चाहिए।" अतः भारत सरकार चाहती है कि वे दोनों देश भारत और पाकिस्तान सर्वप्रथम अन्य क्षेत्रों में रिश्ते सामान्य बनाये तत्पश्चात् कश्मीर विवाद

को सामने लाये।

कश्मीर समस्या के समाधान के सम्बन्ध में वरिष्ठ पत्रकार एवं विश्लेषक प्रेम शंकर झा (नवभारत टाइम्स 11 जनवरी 2004, विश्वास से मुमकिन है टाइरोल जैसा हल') का विचार है कि जहाँ तक कश्मीर समस्या के समाधान की सम्भावित शक्ल का सवाल है पहले यह देखना आवश्यक है किस तरह के समाधान अब तक सुझाए गये हैं? दोनों सरकारों की मौजूदा आधिकारिक परिस्थितियाँ ऐसी है कि उनके रहते किसी भी समाधान की आशा करना ही निरर्थक होगा। पाकिस्तान कश्मीर को वर्ष 1947 से अधूरा पड़ा काम मानता है और वहाँ जनमत और कि सन् 1947 के बाद बहुत लम्बा वक्त गुजर चुका है और वास्तव में आजाद कश्मीर भी उसी का अंग है क्योंकि महाराजा हरिसिंह ने Indian independence act 1947 के तहत भारत के साथ रहना कबूल किया था।

प्रेम शंकर झा के अनुसार कश्मीर समस्या के समाधान हेतु सर्वप्रथम मुश्किल मुद्दों को पीछे रखकर आसान व सरल मुद्दों को सुलझाना शुरु किया जाये तथा दोस्ती का एक–एक कदम बढ़ाया जाये। इसके पश्चात् 'टाइरोल' की तर्ज पर आगे बढ़ा जाए। 'टाइरोल' जर्मन भाषी लोगों का एक ट्रांस–अल्पाइन इलाका है जिसका एक हिस्सा आस्ट्रिया और दूसरा इटली में पड़ता है। वर्ष 1918 में 'आस्ट्रो–हंगारी साम्राज्य' के पतन के बाद 'दक्षिणी–टाइरोल' इटली के कब्जे में आ गया और तब से आस्ट्रिया का इटली के साथ विवाद है। परन्तु यूरोपीय समुदाय के गठन से काफी पहले ही आस्ट्रिया और इटली ने अपने 'टाइरोल' नामक इस नासूर को अपनी ताकत के रूप में तब्दील कर लिया था। वर्तमान में 'दक्षिणी–टाइरोल' इटली में रहते हुए काफी हद तक स्वायत्त है। जिसके अपने चुनाव होते हैं, अपने कानून है। 'उत्तरी–टाइरोल' से कम्यूनिकेशन की उसे पूरी सुविधा है। उसकी आसाधारण टैक्स रियायतें उसे उद्योगों का केन्द्र बना चुकी है। सारे यूरोप के लोग वहाँ बेरोक–टोक आ जा सकते हैं इस तरह से आस्ट्रिया की खुश है और इटली भी और साथ ही 'उत्तरी–टाइटोल' आस्ट्रिया का और 'दक्षिणी'टाइरोल' इटली का अंग भी बना हुआ है। अतः सर्वप्रथम इन्हें (भारत एवं पाकिस्तान को) आपसी विश्वास कायम करना होगा तत्पश्चात् मुक्त व्यापार को बढ़ावा देना होगा तभी इस प्रकार के समाधान उभर सकेंगे।

अतः भारत का कश्मीर मुद्दे के समाधान पर यह विचार है कि कश्मीर मुद्दे के स्थायी समाधान हेतु पाकिस्तान में राजनीतिक स्थायित्व अपरिहार्य है। पाकिस्तान में राजनीतिक स्थिरता पाकिस्तान की राष्ट्रीय सुरक्षा हितों के साथ ही साथ भारत की राष्ट्रीय सुरक्षा हितों के हेतु सहायक होगी। इसके साथ ही पाकिस्तान को अपने सम्बन्ध विशेषकर अफगानिस्तान एवं भारत के साथ मधुर बनाने का वातावरण तैयार करना होगा तथा इन दोनों देशों में प्रयोजित छद्मयुद्ध को बन्द करना होगा। पाकिस्तानी सेना को अपनी व्यक्तित्व जो कि स्वयं घरेलू स्तर पर भी खराब हो चुका को सुधारना होगा। अंत में भारत और पाकिस्तान द्वारा कश्मीर मुद्दे पर प्रस्तुत विचारों के आधार पर एक यथार्थवादी समाधान यही हो सकता है कि दोनों देशों को स्थापित नियंत्रण की सीमा (Line of control) को अंतर्राष्ट्रीय सीमा के रूप में स्वीकार करना होगा तत्पश्चात् दोनों देशों को अपने–अपने अधिकृत जम्मू–कश्मीर भाग को स्वायत्तता प्रदान करनी होगी। कश्मीर के दोनों भागों को एक दूसरे के साथ (कम्युनिकेशन) संचार की पूर्ण सुविधा देनी होगी। दोनों क्षेत्रों को कर मुक्त सुविधा देकर वहाँ उद्योगों एवं पर्यटन को आकर्षित करना होगा जिससे कि उसका पूर्णरूपेण विकास हो सके। परिणामस्वरूप एक महत्वपूर्ण लक्ष्य जो कश्मीरियों को सुखी और समृद्ध तथा भय मुक्त बनाने का है पूर्ण हो सकेगा।

सन्दर्भ ग्रन्थ–

1. उर्मिलेश, ''कश्मीरः रियासत एवं सियासत'', नई दिल्ली, ज्ञान पब्लिशिंग हाउस, 2007।
2. Musharraf, Pervez, "In the line of fire", London, Simons & Schuster, UK, Ltd. 2006
3. झां प्रेम शंकर ''विश्वास से मुमकिन है टाइरोल जैसा हल'', नई दिल्ली, नवभारत टाइम्स, (डेली) 11 जनवरी 2004
4. Census of Indian, 2001
5. Singh, Rajkumar, "Past, Present and Future of Kashmir", New Delhi, Gyan Publishing House, 2008
6. लारेंस, वाल्टर आर., ''द वैली ऑफ कश्मीर'',
7. सरकार, सुमित, ''आधुनिक भारत'', नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 2006
8. Singh, Sheo Bran & J.P. Bansal, "Kashmir and Other Related Matters", Agra, Oriental Publication house, 1967.
9. Bains, J.S. India's International Disputes: A Legal Study, London Asia Publishing House, 1962.
10. Menon, V.N.] "The transfer of power in India"] New Delhi] Orient Longmans Ltd., 1968.
11. Burke S.M. "Pakistan Foreign Policy: As Historical Analysis", London, Oxford University Press, 1973.
12. Rizvi, Gowher, "South Asia in Changing International order", New Delhi, Sage Publication, 1993.
13. Lamb Alastair, 'Crisis in Kashmir : 1947-1966", London, Routiedge and Kegam Paul 1966.
14. Dixit. J.N., "India Pakistan Relation (In wor and peace)", New Delhi, Prabhat Publication, 2004
15. मधुसूदन, आनन्द, ''यही समाधान हो सकता है'', नई दिल्ली, (निहितार्थ) नवभारत टाइम्स (डेली) 11 जनवरी 2004,

✦✦✦

*शोध–छात्र
राजनीति विज्ञान विभाग
का.हि.वि.वि., वाराणसी

शोध-६

नक्सलवाद की समस्या तथा समाधान : एक मनोवैज्ञानिक समालोचना

गौरव कुमार राय*

किसी भी समस्या का सार्वकालिक समाधान उसके मूल में निहित होता है। नक्सलवाद, असंतोष तथा कालिक विकास की कमी के कारण जन्मी एक ऐसी उग्रवादी विचारधारा है, जो आज भारत की आन्तरिक सुरक्षा के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती है। भारत सरकार द्वारा इस समस्या से निपटने के लिए किये गये प्रयास या तो सीमित समय तक ही अपना प्रभाव दिखा सके या इनका प्रभाव क्षेत्र विशेष तक ही सिमट कर रह गया। प्रस्तुत शोध–पत्र में भारत सरकार द्वारा जारी प्रयासों तथा नक्सलवाद की समस्या का मनोवैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण किया गया है, तथा साथ में इस समस्या का सार्वकालिक हल भी खोजने का प्रयास किया गया है।

भारत सरकार द्वारा नक्सलवाद की समस्या को सुलझाने हेतु तमाम मानवीय अमानवीय सृजनात्मक तथा दण्डात्मक तरीके अपनाये गये हैं। इतिहास साक्षी है कि जब–जब नक्सलवादी विचारधारा को अमानवीय अथवा दण्डात्मक तरीके से समाप्त करने की कोशिश की गई तो हमेशा परिणाम अल्पकालिक ही रहे हैं। सुधारात्मक अथवा मानवीय तरीकों का प्रयोग भले ही तात्कालिक न हो परन्तु ऐसे उपाय दूरगामी अथवा स्थिर होंगे। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से नक्सलवाद असंतोष तथा निस्सहायता की उपस्थिति में जन्मा एक विचार है, जिसमें कुण्ठा और आक्रामकता के सामन्जस्य से एक हिंसात्मक क्रान्ति तथा विरोध की भावना का जन्म होता है। इस प्रकार उक्त समस्या का निराकरण उनके प्रति व्यवहारात्मक सुधारों के साथ–साथ उनमें असंतोष उत्पन्न करने वाले स्रोतों में कमीं करने में निहित है। असहायता की भावना का अन्त संसाधनो की उपलब्धता में वृद्धि करके किया जा सकता है। किसान तथा मजदूर, जिनके बल पर नक्सलवाद फलता – फूलता है, को आम जनता के साथ–2 उनके जनप्रतिनिधियों का समर्थन न प्राप्त होना भी इस समस्या का मूल कारण है। इन सबके लिये जरूरत है तो सिर्फ इन्हें सुने जाने की।

किसी भी प्रकार की समस्या की अपनी एक अलग सृष्टि होती है। अर्थात प्रत्येक समस्या का प्रभाव क्षेत्र तथा प्रत्यक्षण अलग–अलग होता है। मूलतः समस्या एक मानसिक गोचर है और इसी कारण से इसके प्रत्यक्ष में भिन्नता दिखायी देती है। जिस प्रकार से एक दृश्य वस्तु को उसकी अलग–अलग दिशाओं से देखने पर उस वस्तु की अलग–अलग प्रतिमा हमारे अक्षिपटल पर बनती है, वैसे ही समस्या का प्रत्यक्षण भी उसकी अलग–अलग दिशाओं से देखने पर अलग–अलग होता है। इसी वैयक्तिक प्रत्यक्षण के कारण ही कोई समस्याओं को 'जीवन की बाधा' कहता है तो कोई 'जीवन शैली', किसी के लिये समस्या 'चुनौती' है तो किसी के लिये 'जीवन का संकट'। इस प्रकार समस्याओं की प्रकृति उससे जुड़े लोगों की मानसिकता द्वारा निर्धारित होती है। यद्यपि समस्या के प्रमुख निर्धारकों में असंतोष, अविश्वास, संचारहीनता, पूर्वाग्रह, विभेदन आदि आते हैं। गीता के अनुसार समस्या अथवा दुःख का मूल कारण अपेक्षायें हैं। एक तरह से देखा जाय तो मनुष्य की अपेक्षायें ही उसे हिंसक बनने पर मजबूर करती हैं। व्यक्तिगत तथा वर्ग विशेष की समस्या में मूलभूत अंतर हितों की मात्रा अथवा प्रकृति को लेकर है। व्यक्तिगत समस्या किसी भी सीमा तक अधिकतम हित के रूप में सामाधान चाहती है, जबकि वर्ग समस्या अधिकतम सामान्य हित के रूप में समाधान चाहती है।

नक्सलवाद की समस्या एक वर्ग की समस्या है जो अपने सदस्यों (किसानों तथा मजदूरों) के अधिकतम सामान्य हितों की माँग करती है। इस समस्या को भी जिसने जिस नजरियें से देखा उसी प्रकार से इसका मूल्यांकन कर दिया। मुख्य रूप से देखा जाये तो इस समस्या के मूल्यांकन के दो स्वरूप ही नजर आतें हैं। पहला, वो जो नक्सलवाद को चरम सीमा तक पहुँचाना चाहते हैं, क्योंकि उन्हें लगता है कि उनकी सारी समस्याओं का अंत इसी में निहित है। दूसरा स्वरूप वो जो नक्सलवाद को समाप्त कर देना चाहते हैं, क्योंकि इन्हें लगता है कि नक्सलवाद का जन्म उनके खात्में के लिए हुआ है।

प्रथम विमा, अर्थात वे समूह जो अपने वर्ग हित को बनाये रखने अथवा उसमें वृद्धि के लिए नक्सलवाद को उसके चरम तक पहुँचाकर सर्वहारा वर्ग की स्थापना करना चाहते हैं, के समस्याओं का विश्लेषण अनिवार्य है। एक तटस्थ रूप में यदि इस आंदोलन के इतिहास का विश्लेषण किया जाय तो यह मूल रूप से किसानों तथा मजदूरों का आंदोलन दिखायी देता है। इस वर्ग में चुंकि समस्याओं और हितों की समरूपता है, इसलिए इनमें वर्गहित से जुड़ा आत्महित सर्वोपरि होता है। संसाधनहीनता, जो इनकी प्रमुख समस्या है, के कारण ही इनमें वर्ग संशक्तिशीलता अधिक पायी जाती है। संशक्तिशीलता का तात्पर्य यहाँ ''समूह के आदर्शो में विश्वास'' से है। आदि काल अर्थात जब शक्ति का शासन था, तब से लेकर आजतक इनका दोहन निरन्तर किया गया। चुंकि ये उत्पादक वर्ग की श्रेणी में आते थे इसलिए इन्हें बार–बार अधिकार विहीन कर्तव्यों की

घुट्टी पिलायी गयी। जब कभी भी ये अधिकारों की माँग करते तो उसे बलात् दबाकर सिर्फ कर्तव्य का रास्ता दिखा दिया जाता। जो थोड़े–बहुत अधिकार यथा परिवार संबंधी अथवा अन्य स्वास्थ्य संबंधी अधिकार इन्हें प्राप्त थे, वो भी इनके कर्तव्यों के आगे अपना अस्तित्व खो देते थे। जब किसी शारीरिक अथवा मानसिक रोग को बलात् दबा दिया जाता है तो वह कुछ समय बाद और भी बड़ी विकृति अथवा विकार के रूप में दिखायी देने लगता है। ऐसा ही कुछ किसान आंदोलन के साथ भी हुआ। इनकी मानवीय आकाक्षायें अधिकारों के माँग के रूप में दिखायी देने लगीं। हाँलाकि राजा –महाराजाओं, सामंतों और यहाँ तक की मुगलों और अंग्रेजों ने इसे अपने शक्ति से दबा दिया। परन्तु इस वर्ग में व्याप्त असंतोष ने बार–बार समय–समय पर छोटे–मोटे आंदोलन के रूप में अपनी उपस्थिति दर्ज करायी। इन पर लगाये गये कर एवं उसमें वृद्धि तथा भूमिहीन कर देने की घटनाओं ने इन्हें निस्सहायता की स्थिति में पहुँचा दिया। 'निस्सहायता' अर्थात वह स्थिति जिसमें व्यक्ति चाह कर भी कुछ नहीं कर पाता और वर्तमान अनचाही या दुःख भरी स्थिति में रहने को मजबूर होता है। थोड़े बहुत संघर्ष, जो प्रायः उन्हें और पीड़ादायी स्थिती में ला देते थे, से उनमें असंतोष की स्थिति जन्मी और यहीं असंतोष उनमें संघर्ष खत्म करने के बजाय आत्मबल देता रहा। परिणाम स्वरूप इनका संघर्ष हिंसा का रूप लेने लगा। धीरे–धीरे उन्होंने संगठन की शक्ति को भी पहचाना। यही वह समय था जब देश के विभिन्न भागों में इस वर्ग के लोगों के संगठन खड़े होने लगे। पश्चिम बंगाल, महाराष्ट्र, पंजाब आदि राज्यों में ऐसे कई संगठन बने। परन्तु सही नेतृत्व की कमी, अज्ञानता तथा अनुभवहीनता ने इन्हें फिर से विकल्पहीनता वाली स्थिति में ला दिया। लेकिन इस बार विकल्पहीनता में एक बात अवश्य थी, वह यह कि इस बार इन्हें क्या करना है, यह तो पता था, परन्तु कैसे करना है यह समस्या थी। अर्थात भाषा की अनुपस्थिति में भावों व संवेगों का जो हश्र होता है वही इस समय इनका था। इस विकल्पहीनता की स्थिति में खासकर कि जब अस्तित्व पर खतरा हो तब मानव हो अथवा पशु कुछ भी करने को तैयार हो जाता है। ऐसे समय में इनके साथ एक और वर्ग आ जुटा, जो बौद्धिक रूप से मजबूत था। इस वर्ग का किसान और मजदूरों से जुड़ाव का सबसे प्रमुख कारण मानवीयता था। इसी हमदर्दी के कारण ही किसानों ओर मजदूरों का विश्वास इन पर स्थापित हो गया। अब संघर्ष की कमान इस बौद्धिक वर्ग के हाथों में थी। यह बौद्धिक वर्ग इन किसानों और मजदूरों की भाषा के रूप में कार्य करने लगा। अर्थात इनके माध्यम से किसानों और श्रमिकों की संवेदना को समझा जाने लगा। अब मूल समस्या इनके आंदोलन में तीक्ष्णता लाने की थी। निश्चित रूप से इस बौद्धिक वर्ग ने इसमें महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। इस संघर्ष में अब हिंसा को प्रश्रय मिलने लगा था तथा साथ ही साथ इनके उद्देश्यों का दायरा भी बढ़ने लगा था। इसी का परिणाम यह हुआ कि ये तथाकथित बुर्जुआ अर्थात वर्ग शत्रुओं को समाप्त कर अपनी सत्ता स्थापित करना चाहते थे। चारू मजूमदार ने भी कहा है कि "किसानों का संघर्ष न सिर्फ भूमि व फसल के लिए बल्कि उनका उद्देश्य राज सत्ता होना चाहिए।"

इस प्रकार नक्सलवाद जो देशी रूप में था वह इस बौद्धिक वर्ग के साथ जुड़ने के बाद दूसरे देशों के लेनिन वाद, मार्क्सवाद, माओवाद आदि से भी ऊर्जा लेने लगा। रक्तरंजित विद्रोह उसका साधन और सत्ता प्राप्ति उसका साध्य हो गया। सत्ता प्राप्ति के पीछे मुख्यतः दो उद्देश्य हो सकता है, पहला कुछ लोगों के स्वार्थ का तथा दूसरा उनके मूल समस्याओं का सार्वकालिक सामाधान। इस प्रकार इनकी समस्या यह है कि संघर्ष का कौन सा रूप अपनाया जाय जिससे की उनके उद्देश्यों तथा आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके।

नक्सलवाद की समस्या का दूसरा पक्ष देश की आम जनता, देश के विकास, शान्ति तथा मानवधिकारों से जुड़ा है। नक्सलवादी संघर्ष के शिकार लोगों में व्याप्त डर तथा उनके मानवाधिकारों का प्रश्न एक बड़ी ही चिन्ता का विषय है। आम जनता द्वारा अपने विकास के लिए जुटाये गये संसाधनों पर नक्सलवादियों द्वारा बलात् कब्जा किया जाना कहीं से भी उचित नहीं लगता। यह कुण्ठा की वह दशा है जिसमें किसी का गुस्सा किसी और पर निकाला जाता है। इस प्रकार की सोच और कृत्य ने उन्हें डरने पर मजबूर किया और कहीं न कहीं उनके अन्दर यह भावना भी है कि वो जो कर रहें हैं वो गलत है। इसी कारण से तो उन्हें ऐसा कृत्य करने के बाद छिपते रहना पड़ता है। क्योंकि विकास का आधार सहभागिता है और नक्सलवाद निश्चित रूप से सहभागिता की सोच को अपने कृत्यों से समाप्त कर देता है। ऐसे में वो क्षेत्र जिसमें पारस्परिकता अथवा सहभागिता का अभाव होता है वह क्षेत्र विकास के क्रम में पिछड़ते जाता है। इसके पीछे इनके विचारों में भिन्नता, समानुभूति की कमी आदि कार्य करती है। विकास क्रम में पीछे होने के कारण इनमें हीनता की भावना घर कर जाती है और इससे उत्पन्न असंतोष तथा निस्सहायता की स्थिति एक अलग ही परिदृश्य को जन्म देती है और फिर यह चुनौती एक बड़ी समस्या को जन्म देती है।

इन दोनों ही प्रकार की समस्याओं से निबटने के लिए भारत सरकार ने कई प्रकार के कदम उठाये है। इनमें सुधारात्मक या सृजनात्मक तथा दण्डात्मक अथवा विध्वंसात्मक कदम प्रमुख हैं। सृजनात्मक उपायों में भूमि सुधार, जमींदारी प्रथा का उन्मूलन, शिक्षा व्यवस्था, किसानों को दी गयी सुविधायें, मजदूरी का न्यूनतम मूल्य निर्धारण आदि आते हैं। इन सबके होते हुए भी नक्सलवाद की समस्या का ज्यों का त्यों बना रहना इस बात की पुष्टि करता है कि कहीं न कहीं इन योजनाओं के क्रियान्वयन में त्रुटि है। समाधान के इन उपायों की एक अलग समस्या उनके ठीक प्रकार से लागू करने की है। अगर उन कारणों की खोज की जाय तो क्षेत्रीय जनता का अविश्वास तथा इसके परिणाम स्वरूप जन्मी असहभागिता, क्रियान्वयन नीति की अनुपयुक्तता, क्षेत्र विशेष में जाकर कार्य करने वालों के

जीवन क्षति का डर अर्थात असुरक्षा की भावना आदि प्रमुख रूप से दिखायी देते हैं। जहाँ तक उक्त सृजनात्मक योजनाओं का प्रश्न है, वो इन कारकों के रहते कभी अपना प्रभाव नहीं दिखा सकती। अतः पहले इन कारकों का हल ढूढ़ना पड़ेगा।

सर्वप्रथम कुछ ऐसे कार्य करने होंगे जिससे क्षेत्र विशेष के लोगों में विश्वास उत्पन्न किया जा सके। इसके लिये सर्वप्रथम उनकी आवश्यकता को जानना होगा। अर्थात् पहले चरण में सिर्फ और सिर्फ उन्हें सुनना होगा फिर उस बात का विश्लेषण करके उनकी मूल आवश्यकता तक पहुँचना होगा और अन्त में उन्हें पूरा किये जाने के विकल्पों की तलाश करनी होगी। इसके लिये जासूसों, सामाजिक कार्यकर्ताओं की मदद ली जा सकती। दूसरी समस्या वहाँ जाने वाले अथवा तटस्थ जनता के सुरक्षा की है। इसके लिये दो उपाय किये जा सकते हैं। पहला सीधे सन्धि वार्ता के द्वारा तथा दूसरा सुरक्षा बलों की तैनाती करके। इसके लिये तीसरा उपाय यह हो सकता है कि क्षेत्रीय नागरिक अथवा लोगों का सहयोग लिया जाय। कुल मिलाकर इस प्रकार के समाधानों के प्रयासों से नक्सलवाद को जन्म देने वाले तथा उनका विकास करने वाले कारकों को जड़ से समाप्त किया जा सकता है।

भारत सरकार द्वारा किये गये दूसरे दण्डात्मक उपायों को देखने पर एक बार तो लगता है कि ये अपने उद्देश्य में सफल रहें हैं। परन्तु दण्ड का अन्तिम उद्देश्य अवांछनीय व्यवहार को खत्म करना होता है न कि व्यवहार करने वाले को खत्म करना। वर्तमान परिदृश्य को देखकर ऐसा कही से भी नहीं लगता कि नक्सलवाद समाप्त हो पाया है। जहाँ–जहाँ पर दण्डात्मक कार्यवाहियाँ हुई हैं वहाँ–वहाँ पर कुछ समय के लिये नक्सलवादियों द्वारा जारी हिंसा कुछ समय के लिये जरूर थम गयी है तथा उस क्षेत्र विशेष तक सिमट कर रह गयी। अब प्रश्न यह है कि क्या दण्ड व्यवस्था नक्सलवाद के खात्मे के लिये उपयुक्त है ?अगर दण्ड द्वारा सिखाने के सिद्धान्तों पर गौर किया जा तो संभव है कि दण्ड द्वारा इस समस्या का समाधान ढूंढा जा सकता है। दण्ड देने वाले व्यक्तियों को जिस व्यवहार के लिये दण्ड दिया जा रहा है वह व्यवहार उसे पता होना चाहिए। इसके साथ ही प्रेक्षंण अधिगम सिद्धान्त के अनुसार अन्य व्यक्तियों में भी कम से कम इतना भय अवश्य उत्पन्न हो कि वह व्यवहार करने से पहले उसके हानि लाभ का मूल्यांकन कर सकें। अर्थात् दिया गया दण्ड कम से कम इतना प्रभावी हो कि वह व्यवहार की पुनरावृत्ति पर पूर्णविराम लगा दे। ऐसा व्यवहार में भी हो सकता है यदि मानवीय पक्षों को भुलाकर कार्यवाही की जाये। परन्तु ऐसी व्यवस्था सिर्फ निरंकुश तंत्र में ही सम्भव हो सकती है न कि प्रजातंत्र में। उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि नक्सलवाद की समस्या का हल उसके उत्पत्तियों के कारकों को समाप्त करके ही खोजा जा सकता है। शक्ति से इसे समाप्त करने पर नक्सलवाद के और ज्यादा विकृत हो जाने अथवा अल्पकालिक प्रभाव ही दिखायी पड़ने की ज्यादा सम्भावना है। इसके विपरीत यदि उनकी आवश्यकताओं को दृष्टिगत करते हुए संभावित विकल्पों की तलाश की जाय तो अपेक्षाकृत सुखद् और दीर्घकालिक परिणाम प्राप्त होंगे।

सन्दर्भ ग्रन्थ–

1. राज, वी0 एस0, राज, वी0एस0, चौहान, एस0 तथा रेनूआ के0, आर0 (2006), नक्सलवाद ऐतिहासिक झलक : असमान विकास की अभिव्यक्ति–एक सम्पूर्ण अवलोकन, CST (पेज 14–16) 1
2. मिश्रा, अनुराग, रेणु, राकेश तथा कुमारी, रेमी (संपादक मण्डल) (2007), नक्सलवाद विकास और विक्षोभ, योजना 50 (II)
3. सिंह, प्रकाश (2007), भारत में नक्सलवादी आन्दोलन, योजना, 50 (II), 17–19
4. सिंह, मनमोहन (2007), आंतरिक सुरक्षा : चुनौतियाँ योजना, 50 (II), 17–19
5. दूबे, ए0 के0 (1991), क्रान्ति का आत्मसंघर्ष, विनय प्रकाशन, नई दिल्ली।
6. सिंह, आनन्द कुमार, (2007), नक्सलवाद और आंतरिक सुरक्षा, तृतीय पूर्व छात्र सम्मेलन में प्रस्तुत शोधपत्र, राजनीति विज्ञान विभाग, का0 हि0 वि0 वि0 ।
7. जायसवाल, प्रदीप कुमार (2007), नक्सलवाद और कृषक आन्दोलन की ऐतिहासिक समीक्षा, तृतीय पूर्व छात्र सम्मेलन में प्रस्तुत शोधपत्र, राजनीति विज्ञान विभाग, का0 हि0 वि0 वि0 ।
8. 23 मार्च 2007 को भाकपा (माले) द्वारा दिल्ली में आयोजित रैली के लिये जारी घोषणा पत्र।

✦✦✦

*शोध छात्र,
मनोविज्ञान विभाग,
का0 हि0 वि0 वि0

शोध-6

नेपाल मे महिला सम्पत्ति अधिकार आंदोलन एवं 11वाँ संविधान संशोधन

आफरीन खांन*

नेपाली समाज कठोर सामन्तवादी एवं पितृसत्तात्मक सामाजिक मूल्यों एवं परम्पराओं द्वारा संचालित होता रहा है। नेपाल की कानून व्यवस्था भी सामान्य तौर पर हिन्दू कानून व्यवस्था पर आधारित रही है। हिन्दू कानून व्यवस्था का मूल आदर्श दो विचार सम्प्रदायों (Schools) पर आधारित था– मिताक्षरा एवं दायभाग। मिताक्षरा स्कूल दायभाग की अपेक्षा महिलाओं के अधिकारों के सम्बंध में अधिक रुढ़िवादी था।

1863 में नेपाल में 'मुल्की ऐन' (Code of the Country) को लागू किया गया। यह एक कानून व्यवस्था की बजाय एक धार्मिक किताब अधिक था। सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था जाति पर आधारित थी। यद्यपि मुल्की ऐन मिताक्षरा स्कूल पर आधारित था तथापि इसमें पत्नी एवं पुत्र को सम्पत्ति का उत्तराधिकारी माना गया। पुत्रियों को उत्तराधिकार एवं सम्पत्ति के अधिकार से वंचित रखा गया।

1950 में जब एक वृहद जन आंदोलन द्वारा स्वेच्छाचारी राजाओं के शासन का अंत हुआ तब एक नये मुल्की ऐन का निर्माण हुआ। पहले की अपेक्षा यह मुल्की ऐन बेहतर था परंतु इसमें भी पुत्र की तुलना में पुत्री के उत्तराधिकार एवं सम्पत्ति सम्बंधी अधिकारों की उपेक्षा की गई। नये मुल्की ऐन का प्रचलन सामान्य कानूनों की तरह था। इसे किसी भी समय संशोधित किया जा सकता था।

1975 तक नेपाली महिलाओं के आर्थिक एवं सम्पत्ति सम्बंधी अधिकारों के बारें में किसी प्रकार का स्पष्ट कानून या विधान मौजूद नही था। 1975 के संयुक्त राष्ट्र घोषणा पत्र द्वारा इस वर्ष को अर्न्तराष्ट्रीय महिला वर्ष घोषित करने के बाद, नेपाली सरकार ने भी 8 मार्च को महिला दिवस मनाना प्रारम्भ कर दिया। नेपाल का सामाजिक कानून (मुल्की ऐन) सामाजिक दृष्टि से अत्यंत असमान रहा है। महिला संगठनों द्वारा इस असमानता के विरूद्ध आवाज़ उठाई गयी और उनके प्रयासों के बाद 1977 में पहली बार मुल्की ऐन में छठें संशोधन के जरिए कुछ महिला अधिकारों को शामिल किया गया। महिलाओं के उत्तराधिकार एवं सम्पत्ति सम्बंधी अधिकारों के इस उपबंध के अनुसार यदि कोई स्त्री 35 वर्ष की आयु तक अविवाहित रहती है तो उसे विरासत में सम्पत्ति पाने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। परंतु इस संशोधन को यह कहते हुए सीमित कर दिया गया कि यदि स्त्री सम्पत्ति प्राप्त करने के बाद विवाह कर लेती है तो विवाह का खर्च निकालने के पश्चात उसे अपनी सम्पत्ति अपने भाई को वापस करनी पड़ेगी। यद्यपि इसमें पत्नी को भी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी माना गया तथापि उसे पति की सम्पत्ति पर तभी अधिकार मिल सकता था जब उसके विवाह को 15 वर्ष हो चुका हो तथा उसकी आयु 35 वर्ष की हो और वो अपने इस अधिकार का दावा तभी कर सकती थी जब उसमें उसके पति की सहमति हो।[1]

यद्यपि महिलाओं की आर्थिक स्थिति को मज़बूत करने के लिए सरकार द्वारा उन्हें बैंकों से रोजगार एवं व्यापार हेतु कर्ज पाने का अधिकार दिया गया था, परंतु व्यवहारिक रूप से इसे लागू करना अत्यंत कठिन था क्योंकि कर्ज लेने के समय उन्हें गारंटी के रूप में कुछ सम्पत्ति का विवरण बैंक को देना अनिवार्य था और महिलाओं के सम्पत्ति सम्बंधी अधिकार इतने सीमित थे कि वें इन ऋण सम्बंधी सुविधाओं का कोई लाभ नहीं उठा पाती थीं।[2] आर्थिक रूप से वे पूरी तरह पुरूषों पर आश्रित थी।

महिला संगठनो एवं कार्यकत्ताओं द्वारा लगातार इन असमानताओं के विरूद्ध संघर्ष एवं आंदोलन किए गए और उनके प्रयासों के फलस्वरूप महिला अधिकारों को कानून में शामिल किया गया। परंतु वास्तव में समानता का अधिकार 1990 के संविधान द्वारा ही प्रदान किया गया और इसे मूल अधिकार के रूप में सुरक्षित किया गया। संविधान का अध्याय तीन यह उद्घोषणा करता है कि राज्य किसी भी नागरिक के साथ लिंग, जाति एवं धर्म के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करेगा।[3] इसमें यह भी उद्घोषणा की गई कि संविधान ही नेपाल का मौलिक एवं सर्वोपरि कानून है और दूसरे समस्त कानून खारिज माने जाएगें। इसके बावजूद भी महिलाओं के सम्पत्ति सम्बंधी अधिकारों के मामले में कानून भेदभावपूर्ण बने रहे।

महिलाओं के विरूद्ध शोषण एवं भेदभाव कई रूपों में देखा जा सकता था, उनमें से कुछ निम्नांकित हैः–

क) पुत्रियों को समान उत्तराधिकार एवं सम्पत्ति के अधिकार से वंचित रखा गया।
ख) पुत्रियों को भरण–पोषण के अधिकार से वंचित रखा गया।
ग) उत्तराधिकार के क्रम में विभेद (उत्तराधिकार क्रम में पहले पुत्र एवं पत्नी आती है तत्पश्चात पुत्री का अधिकार आता है।)
घ) विवाहित महिला के सम्पत्ति पाने के अधिकार में भी भेदभाव।
च) तलाकशुदा महिलाओं को सम्पत्ति के अधिकार नहीं (केवल उन्हे सशर्त गुजारा भत्ते पाने का ही अधिकार है)
छ) विधवा महिला के सम्पत्ति पाने के अधिकार में भी भेदभाव।[4]

इस प्रकार महिलाओं को पुरूषों के समान सम्पत्ति पाने के अधिकार नही है, भेदभावकारी कानूनों के कारण महिलाओं को अत्यधिक शोषण का सामना करना पड़ता है।

महिलाओं के प्रति इस प्रकार के भेदभाव एवं शोषण तथा समान उत्तराधिकार एवं सम्पत्ति सम्बंधी अधिकार न मिल पाने के पीछे कई बाधाएं हैं जिनमें से कुछ प्रमुख बाधाएं

इस प्रकार हैं–

- निर्णय निर्माण संरचना में महिलाओं की उपस्थिति नगण्य होना।
- राजनीतिक शक्ति एवं राजनीतिक प्रतिबद्धता का अभाव।
- लैंगिक असमानता की भावना की मूल सामाजिक व्यवस्था में गहरी पैठ।
- महिलाओं एवं लड़कियों के प्रति समाज में व्याप्त अनादरसूचक व्यवहार एवं धारणाएं, जिनमें से कुछ प्रमुख हैं–
  - ढिलो पाए, छोरा पाए (भले ही देर से हो, पर बेटा हो)
  - छोरा पाए स्वर्ग जाने (पुत्र के जन्म लेने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है)
  - छोरीको जनम, हारेको करम (बेटी जन्म से ही दुर्भाग्यशाली होती है)
  - छोरा पाएं खासी, छोरी पाएं फारसी (बेटे के जन्म पर बकरी की बलि देकर उत्सव मनाना चाहिए, बेटी के जन्म पर एक कद्दू ही काफी है)
  - छोरा भए संसार उज्यालो, छोरी भए भन्छा उज्यालो (बेटा तो सारे संसार में उजाला करता है पर बेटी सिर्फ रसोईघर में)
  - श्रीमति भनेको पैतालको धूलो छ (पत्नी तो पैर की धूल के समान है)

इस प्रकार के मूल्य एवं धारणाएं न केवल सामान्य नागरिकों में बल्कि कानून निर्माताओं मे भी पाई जाती है, जो बेटा और बेटी के बीच व्याप्त असमानताओं को दूर करने मे बाधा डालतीं हैं। शिक्षा की कमी के कारण अधिकतर बहुसंख्यक समाज इस प्रकार की असमानताओं को उचित मानता है और समान उत्तराधिकार कानून के निर्माण में बाधा उत्पन्न करते हैं।

22 अप्रेल, 1991 को नेपाल सरकार द्वारा 1978 में संयुक्त राष्ट्र के अधिवेशन में पारित महिलाओं के विरूद्ध सभी प्रकार के भेदभाव एवं शोषण को दूर करने की संविदा (CEDAW) का अनुमोदन कर दिया गया। नेपाल में महिला आंदोलन द्वारा यह मांग की गई कि नेपाली कानून व्यवस्था में विद्यमान असमानताओं को समाप्त किया जाय एवं महिलाओं को समान उत्तराधिकार एवं सम्पत्ति सम्बंधी अधिकार प्रदान किए जाएं। सभी प्रमुख राजनीतिक दलों ने अपने चुनावी घोषणा पत्रों में इस मांग को शामिल किया। प्रमुख विपक्षी दल नेपाल कम्युनिष्ट पार्टी–एमाले द्वारा बार–बार संसद मे यह मुद्दा उठाया गया परंतु सरकार ने इस पर कोई ध्यान नही दिया और ना ही इन विभेदपूर्ण कानूनों में किसी प्रकार के संशोधन का ही प्रयास किया।[6]

महिला अधिकार संगठनों विशेष कर LACC (Legal Aid & Consultancy Centre) एवं FWLD (Forum of Women & Law Development) द्वारा मुल्की ऐन में संशोधन हेतु एक लम्बा संघर्ष किया गया। मुल्की ऐन के विभेदकारी कानूनों के विरूद्ध 31 मई, 1993 में अधिवक्ता मीरा ढुगाना द्वारा सर्वोच्च न्यायालय में एक याचिका दायर की गई जिसमें कहा गया कि मुल्की ऐन 2020 बि॰सं॰ (1963 ई॰) का भाग 16 नेपाली संविधान, 1990 के उपबंध 1 एवं 88 (1) के विरूद्ध है। अतः उसे अवैध घोषित किया जाय। दो साल बाद 1995 में इस याचिका पर सुनवाई करते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने सरकार को आदेश दिया कि एक वर्ष के भीतर उन विभेदकारी कानूनों को 1990 के संविधान के अर्न्तगत संशोधित किया जाए और संसद में एक ऐसा विधेयक लाया जाए जो महिला सम्पत्ति अधिकारों की सुरक्षा की गारंटी प्रदान करे।[7] तत्पश्चात विभिन्न महिला संगठनों विशेषकर LACC, FWLD एवं Women Security Pressure Group द्वारा इस विधेयक को तैयार करने तथा शीघ्रातिशीघ्र पास करवाने के लिए सरकार पर दबाव बनाने का कार्य किया गया।

मुल्की ऐन का 11वें संशोधन विधेयक का पास होना महिलाओं द्वारा किए गए एक लम्बे संघर्ष का परिणाम था। यह बिल महिला अधिकारों की सुरक्षा हेतु एक कानूनी सुरक्षातंत्र के रूप में आया। इस बिल मे मुख्यतः निम्न बिंदुओं का जिक्र है–

• महिलाओं का सम्पत्ति सम्बंधी अधिकार :– पैतृक सम्पत्ति पर पुत्र एवं पुत्री दोनो का जन्म से ही समान अधिकार होगा, परंतु विवाह के बाद महिलाओं को यह सम्पत्ति पिता के परिवार को लौटानी होगी। यह कानून विवाह के तुरंत बाद पति की सम्पत्ति पर पत्नी को समान अधिकार प्रदान करता है। इसके लिए उसे 35 वर्ष की आयु एवं 15 वर्षो के वैवाहिक जीवन की शर्तो को पूरा करना अनिवार्य नही होगा जैसाकि पहले था। पति की मृत्यु के बाद उसकी सम्पत्ति पर पत्नी का पूरा अधिकार होगा और अपनी इच्छानुसार वे सम्पत्ति का प्रयोग कर सकती हैं। पहले की तरह अब उसे दूसरे विवाह के बाद सम्पत्ति लौटानी नहीं होगी।

• महिलाओं का तलाक सम्बंधी अधिकार :– यह कानून महिलाओ को पति द्वारा शारीरिक एवं मानसिक रूप से प्रताड़ित किए जाने के आधार पर तलाक लेने का अधिकार प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त यदि पति किसी दूसरी महिला के साथ विवाहेतर सम्बंध रखता हो; यदि वह नपुंसक हो; अथवा यदि वह STD, HIV/AIDS आदि यौन संक्रमण रोगों से ग्रसित हो, तो भी महिला पति से तलाक की मांग कर सकती है। कानून महिलाओं को तलाक के बाद पाँच वर्षों तक पति से गुजारा भत्ता पाने की भी मांग करने का अधिकार देता है। आज महिलाएं पति की सम्पत्ति पर भी अपने अधिकार का दावा कर सकतीं हैं।

• महिलाओं का गर्भपात करने सम्बंधी अधिकार :– पहले गर्भपात करवाना गैरकानूनी था। जब तक डाक्टर इस बात की पुष्टि न करे कि माँ का जीवन खतरे मे है, तब तक गर्भपात नही करवाया जा सकता था। नेपाल की जेलों में सैकड़ो महिलाएं इस अपराध के लिए कारावास भुगत रहीं थीं। नया कानून कुछ विशेष अवस्थाओं में गर्भपात करवाने का अधिकार प्रदान करता है, परंतु बिना महिला की इच्छा के गर्भपात नही करवाया जा सकता। सामान्य तौर पर पहले 12 हफ्तों मे महिला गर्भ गिराने का निर्णय स्वयं ले सकती है। यदि माँ का जीवन खतरे मे हो अथवा महिला बलात्कार द्वारा

गर्भवती हुई हो तो ऐसी अवस्था मे गर्भ के 18वें सप्ताह तक गर्भपात करा सकती है। दक्षिण एशिया में इस रूप मे गर्भपात को कानूनी रूप से वैध घोषित करने वाला नेपाल पहला राष्ट्र है।

• महिलाओं का गोद लेने सम्बंधी अधिकार :– नेपाल में महिलाओं को बिना पति की आज्ञा के किसी भी बच्चे को गोद लेने का अधिकार नहीं था। परंतु नया कानून महिलाओं को यह अधिकार प्रदान करता है कि वे पति की मृत्यु अथवा तलाक के बाद भी बच्चे को गोद ले सकती हैं।

• यौन शोषण एवं बलात्कार के विरूद्ध अधिकार :– यौन शोषण एवं बलात्कार नेपाली महिला आंदोलन का एक प्रमुख मुद्दा था। मुल्की ऐन मे 11वें संशोधन के द्वारा महिलाओं को यौन शोशण एवं बलात्कार से सुरक्षा दिलाने के लिए इसे दण्डनीय अपराध घोषित किया गया और कड़ी सजा का प्रावधान किया गया। नये कानून के अनुसार बलात्कार के लिए 5 से 16 वर्ष तक की सजा का प्रावधान किया गया।

• विवाह सम्बंधी कानून :– बाल विवाह, असमान विवाह, बहुविवाह जैसी कुप्रथा को रोकने के लिए भी इस कानून में व्यवस्था की गई है। इस कानून द्वारा विवाह की आयु लड़की के लिए 18 वर्ष एवं लड़के के लिए 21वर्ष निर्धारित की गई। बाल विवाह को दण्डनीय अपराध घोषित किया गया, जिसके लिए 1से 3 साल की सजा एवं 10,000 रु॰ जुर्माना निर्धारित किया गया। यद्यपि 1975 में ही बहुविवाह को गैरकानूनी घोषित किया जा चुका था तथापि यह प्रथा खत्म न हो सकी। पहले जो भी इस कानून का उल्लंघन करता था उसे केवल 1 से 3 महीने की सजा या 1000 से 2000 रु॰ का जुर्माना या दोनो ही देना पड़ता था। नये संशोधन में सजा को बढ़ाया गया। अब बहुविवाह करने वाले व्यक्ति को 1 से 3 साल के कारावास की सजा या 5000 से 25,000 रु॰ का जुर्माना या दोनो ही देना पड़ेगा।

यद्यपि इस संशोधन द्वारा कई अधिकार महिलाओं को प्रदान किया गया किंतु इसमे अभी भी बहुत सी कमियाँ हैं जिन्हे दूर करने के लिए महिलाएं संघर्ष कर रही हैं। फिर भी इस बिल ने नेपाल की सामाजिक व्यवस्था में कई क्रान्तिकारी परिवर्तन किए। महिलाओं को आर्थिक एवं सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने तथा नेपाली समाज मे समानता लाने में इसकी भूमिका को नकारा नही जा सकता।

आज नेपाली समाज के रीति रिवाजों मे बहुत परिवर्तन आया हैं। कानूनी रूप से स्त्री–पुरूष को समानता का अधिकार प्राप्त हो गया है। महिलाएं विभिन्न क्षेत्रों यथा आर्थिक, शैक्षिक, राजनीतिक एवं सामाजिक क्षेत्रों मे भी अपनी उपस्थिति दर्ज करा रही हैं। उनका शैक्षिक स्तर तेजी से बढ़ा है, जिसके कारण उन्हे रोजगार प्राप्ति का अवसर भी उपलब्ध हुआ है और वे आर्थिक आत्मनिर्भरता की दिशा मे अग्रसर हुई हैं। परंतु अभी भी नेपाली महिलाओं के समक्ष एक बड़ी चुनौती है। कानून एवं संविधान उन्हे समानता का अधिकार प्रदान कर चुका है, परंतु आज भी ऐसी अनेक महिलाए है जिन्हे अपने अधिकारो का ज्ञान ही नही है और अज्ञानतावश वे आज भी पुरूष सत्तावादी समाज मे घुट–घुट कर जी रही है। अतः इस बात की बेहद जरूरत है कि समाज मे स्त्री–पुरूष दोनो को ही इन कानूनो एव आधुनिक परिवर्तनो के बारे मे जागरूक किया जाए। बिना जागरूक समाज के महिलाओं की स्थिति मे किसी प्रकार का परिवर्तन नही लाया जा सकता ह और बिना महिलाओ को समानता दिए समाज का भी पूर्ण विकास नहीं किया जा सकता।

सरकार को भी इन कानूनो को व्यवहारिकता मे दृढ़ता पूर्वक लागू करवाने का प्रयास करना होगा। महिला संगठनो एवं महिला राजनीतिज्ञों द्वारा लोगों मे जागरूकता लाने का प्रयास करना होगा और साथ ही इस बात पर भी नज़र रखना होगा कि इन कानूनों का क्रियान्वयन सही ढ़ग से हो रहा है या नही। इस प्रकार के कानूनो के निर्माण एवं उनके सफल क्रियान्वयन से समाज में लैंगिक समानता को दृढ़ किया जा सकता है। महिलाओं के इन प्रयासो से नेपाली समाज की रूढ़िवादी सोच मे काफी बदलाव आया है, बेटा–बेटी के बीच भेदभाव काफी हद तक कम हुआ है।

सन्दर्भ ग्रन्थ–

1. नेपाल कानून पत्रिका, 1970, उच्चतम न्यायालय द्वारा प्रकाशित।
2. मीना आचार्या, 2001, 'वुमेन एण्ड द इकॉनमीः द की इश्यू' एल॰ के॰ मनन्धर एवं के॰बी॰ भट्टाचन द्वारा सम्पादित जेण्डर एण्ड डेमोक्रेसी इन नेपाल में, सेन्ट्रल डिपार्टमेंट ऑफ होम साइंस, त्रिभुवन विश्वविद्यालयः काठमांडू।
3. अध्याय III, अनु॰ 11, नेपाल राज्य का संविधान, 1990।
4. मुल्की ऐन, नेपाल कानून पत्रिका, 1963, उच्चतम न्यायालय द्वारा प्रकाशित।
5. सपना प्रधान मल्ल, 2001, 'प्रापर्टी राइट्स ऑफ नेपलीज़ वुमेन' एल॰ के॰ मनन्धर एवं के॰बी॰ भट्टाचन द्वारा सम्पादित जेण्डर एण्ड डेमोक्रेसी इन नेपाल में, सेन्ट्रल डिपार्टमेंट ऑफ होम साइंस, त्रिभुवन विश्वविद्यालयः काठमांडू।
6. जी॰ सांग्रूला, 2001, 'लॉ एण्ड एक्ज़िस्टिंग रिआलिटी ऑफ नेपालीज़ वुमेन' एल॰ के॰ मनन्धर एवं के॰बी॰ भट्टाचन द्वारा सम्पादित जेण्डर एण्ड डेमोक्रेसी इन नेपाल में, सेन्ट्रल डिपार्टमेंट ऑफ होम साइंस, त्रिभुवन विश्वविद्यालयः काठमांडू।
7. मीरा ढुंगाना बनाम कानून एवं न्याय मंत्रालय, नेपाल कानून पत्रिका, 1995, उच्चतम न्यायालय का निर्णय, सं॰ 6013, उच्चतम न्यायालय द्वारा प्रकाशित।

✦✦✦

*शोध अध्येता,
नेपाल अध्ययन केन्द्र,
सामाजिक विज्ञान संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
Email- khan_vns@yahoo.com

शोध-८

आरक्षण की राजनीति का समाजशास्त्रीय विश्लेषण

'डॉ0 जयप्रकाश यादव*

भारतीय राजनीति में आरक्षण का मुद्दा एक आवश्यक बुराई के रूप में प्रकट होने लगा है। यदि लोकसभा, राज्यसभा, सरकारी कार्यालयों तथा निगमों आदि में पिछड़ी जातियों एवं दलितों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाये, तो राजनीतिज्ञों को अपने 'वोट बैंक' का विश्वास नहीं हो पायेगा। आरक्षण की यह गंदी राजनीति कोई नयी नहीं है, बल्कि यह स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय से ही चली आ रही है। प्रत्येक राष्ट्र का यह कर्त्तव्य एवं दायित्व है कि वह अपने सभी नागरिकों को विकास के समान अवसर बिना किसी भेदभाव के प्रदान करे। किन्तु जो शोषित, दलित एवं दमित वर्ग के नागरिक है उन्हे 'आरक्षण' के माध्यम से उन्नति के अवसर प्रदान करे। इसी अवधारणा के अनुरूप 'आरक्षण' को भारतीय संविधान में स्थान दिया गया। आरक्षण का सामान्य अर्थ है– सुरक्षित करना। सरकार द्वारा जब किसी विशेष जाति या वर्ग के लिए सरकारी नौकरियों, शिक्षा संस्थानों या विधायी संस्थाओं में एक निश्चित प्रतिशत में स्थान सुरक्षित कर दिये जाते है तब इस सुविधा को 'आरक्षण की सुविधा' कहा जाता है। संविधान में लोकसभा तथा विधान सभाओं में एक निश्चित प्रतिशत में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए स्थान आरक्षित है। यही नहीं अपितु कुछ संसदीय एवं विधानसभा क्षेत्र इस प्रकार के चिह्नित किये गये हैं, जहाँ केवल अनुसूचित जाति के उम्मीदवार ही खड़े हो सकते है, ऊँची जाति के प्रत्याशी को वहाँ से चुनाव लड़ने का अधिकार प्राप्त नहीं है। इस प्रकार संविधान में कुछ विशेष जातियों को जो समाज में दलित, दमित, शोषित, आर्थिक दृष्टि से कमजोर, सामाजिक दृष्टि से दुर्बल थी, उन्हें संरक्षण प्रदान किया गया और आरक्षण के माध्यम से उस वर्ग के लोगों को विकास के अवसर प्रदान किये गये।

वर्तमान समय में आरक्षण एक प्रमुख राजनीतिक हथियार के रूप में प्रयोग किया जा रहा है। हाल ही में राजस्थान के गुर्जर जाति के आरक्षण को लेकर फैली हिंसा की आग उन सभी राजनीतिक दलों के लिए फिर एक खतरनाक चेतावनी है, जो अपने संकीर्ण स्वार्थो की खातिर राजनीतिक रोटियाँ सेकने से बाज नहीं आते। ताजा हिंसा यह भी रेखांकित करती है कि आरक्षण के जिन्न को एक बार शह देने के बाद वह किस प्रकार भस्मासुर बन जाता है। अकारण मोल ली गई इस समस्या के गंभीर बनने का अंदाजा इससे लगाया जा सकता है कि भरतपुर और दौसा के मात्र कुछ इलाको में भड़की हिंसा को पुलिस रोक नहीं पाई और सेना तथा सीआरपीएफ को बुलाना पड़ा। ओबीसी कोटे में पहले से शामिल होने के कारण राजस्थान में गुर्जरों को आरक्षण प्राप्त था, पर पिछले विधानसभा चुनाव में राज्य के सत्ताधारी भाजपा नेताओं ने उन्हें अनुसूचित जनजाति में लाने के प्रयास का वायदा किया था। गुर्जरों को लगा कि वे एस टी में शामिल होकर अधिक नौकरियाँ पा सकेगे। इस आड़ में जो नेता 'वोट बैंक' की राजनीति का खेल खेल रहे थे, अब यह उन्हीं की सरकार की भारी मुसीबत का सबब बन गया है। दुर्भाग्य यह है कि विगत के इससे मिलते–जुलते उदाहरणों के बावजूद राजनीतिक दल और उनके नेता अपने संकीर्ण स्वार्थो से ऊपर उठकर व्यापक राष्ट्र–हित में नहीं सोचते। इस तरह की माँग को हवा देने से गुर्जरों की आबादी वाले अन्य राज्यों–उत्तर प्रदेश, हरियाणा और दिल्ली में भी आन्दोलन भड़क सकता है। संविधान में आरक्षण के प्रावधान के पीछे मकसद पिछड़े लोगों का उत्थान करना था, पर चुनावी जीत सुनिश्चित बनाने के लिए इसका इस्तेमाल किया जाने लगा। दुष्परिणामस्वरूप जातियों के बीच बैर–वैमनस्य फैला है। राजस्थान में मीणाओं व गुर्जरों के बीच टकरावपूर्ण स्थिति इसकी स्पष्ट सूचक है। कई जातियाँ अपनी हालत में सुधार के लिए शॉर्ट–कट के रूप में आरक्षण की मांग करते हुए हर उचित–अनुचित तरीके अपनाने पर आमादा हैं। बेहतर होगा कि समस्या के बवंडर बनने से पहले ही उसके हल के प्रयास किए जाएँ, वर्ना आरक्षण का मूल मकसद खत्म हो जाएगा और देश के सामाजिक ताने–बाने को नुकसान पहुँचेगा, सो अलग।

हाल ही में आन्ध्र प्रदेश सरकार काफी जल्दबाजी में सरकारी नौकरियों में 4 प्रतिशत मुस्लिम आरक्षण लागू कर डाला। इस तरह उसने पहले से ही विवादो में उलझी आरक्षण नीति को न सिर्फ फिर से बहस के केन्द्र में डाल दिया गया है, हाईकोर्ट व सुप्रीम कोर्ट में यह मामला पहले से ही लंबित पड़ा है। स्वयं आन्ध्र प्रदेश ने जब तीन साल पहले मुस्लिम आरक्षण की घोषणा की थी, तब वहाँ के हाईकोर्ट ने उस पर रोक लगा दी थी। लेकिन सरकार ने यह ठान लिया कि वह यह आरक्षण लागू करके रहेगी। उसने आरक्षण का प्रतिशत 5 से घटाकर 4 कर दिया है और नये सिरे से मुस्लिम समुदाय के भीतर 13 पिछड़ी जातियो को चिह्नित कर उनके लिए 4 प्रतिशत आरक्षण से सम्बन्धित एक अलग अधिनियम बना डाला। हालांकि इसको भी अदालत में चुनौती दी गई है और सरकार के भीतर इसे लेकर मतभेद भी है, फिर भी आन्ध्र सरकार ने 10 लोगों को इंजीनियर की नौकरी दे दी। कहा जरूर यह गया है कि ये जातियाँ पिछड़ी हैं, लेकिन इनमें से एक शायक गुद्दू वली के 5 भाई–बहनों में से पॉचो इंजीनियर हैं, अर्थात् सरकार इस अधिनियम के जरिये भी अपने असली मकसद में कामयाब नहीं रही। क्योंकि इसके जरिये जिन्हे नौकरी मिल रही है, वे साधन–संपन्न है। सवाल यह भी है कि क्या सरकार धर्म

और जाति के आधार पर इस तरह से आरक्षण की व्यवस्था कर सकती है ?संविधान के अनुच्छेद 15 और 16 के मुताबिक जाति, धर्म और वर्ण के आधार पर आरक्षण दिया ही नहीं जा सकता। हालांकि सच्चर कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में यह कहा है कि देश भर में मुसलमानों की आर्थिक सामाजिक दशा अच्छी नहीं है, इसलिए वे आरक्षण के हकदार बनते हैं, लेकिन मुसलमानो के भीतर ही इसको लेकर मतभेद है। क्योंकि जिस तरह अनेक दलित जातियाँ वर्षो से सामाजिक दमन का शिकार रही हैं, उस तरह सभी मुसलमानो को पिछड़े वर्ग की कोटि में नहीं रखा जा सकता। उनका यह भी तर्क रहा है कि जिस तरह से बहुत–सी उच्च हिन्दू जातियां शासक वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है, उसी तरह मुस्लिम इस देश के शासक रहे है। ऐसे नाजुक मसले पर बिना आम राय के और बिना अदालत के निर्णय का इंजतार किये आंध्र सरकार ने जल्दबाजी का प्रदर्शन किया है, तो उसका सीधा–सा मतलब यह है कि वह, इस बहाने अपनी राजनीतिक रोटियां सेकना चाहती है। सुप्रीम कोर्ट ने पिछले दिनों अन्य पिछड़े वर्गो के लिए आरक्षण मामले की सुनवाई करते हुए कहा था कि हमारी सरकारों ने अपने स्वार्थ के लिए आरक्षण को भस्मासुर में तब्दील कर दिया है। राजनेताओं को इससे कोई लेना–देना नहीं होता कि आरक्षण का कार्यान्वयन ठीक से होता है या नहीं, वे तो सिर्फ अपना वोट बैंक तैयार करना चाहते है। अब तक का अनुभव यही है कि आरक्षण ने सामाजिक विषमता मिटाने के बजाय वैमनस्य ही बढ़ाया है। इसलिए आन्ध्र सरकार की तारीफ नहीं की जा सकती।

भारतीय जनता पार्टी आजकल महिलाओं के राजनैतिक सशक्तिकरण में खास दिलचस्पी दिखा रही है। हाल मे इस पार्टी ने संगठन स्तर पर 33 फीसदी आरक्षण देने के लिए पार्टी संविधान में संशोधन किया और पिछले दिनों हिमाचल प्रदेश में विधानसभा चुनाव जीतने के बाद भाजपा मुख्यमंत्री प्रेम कुमार धूमल ने स्थानीय निकायों तथा पंचायतीराज संस्थाओं, में महिलाओं के लिए 50 फीसदी आरक्षण की घोषणा कर राज्य की आधी आबादी को यादगार तोहफा दिया। भाजपा ने इस साल (2008) 9 राज्यों (मेघालय, त्रिपुरा, नागालैण्ड, कश्मीर, मध्यप्रदेश, मिजोरम, कर्नाटक, दिल्ली तथा छत्तीसगढ़) में होने वाले विधानसभा चुनाव व आगामी लोकसभा चुनाव के मद्देनजर महिला आरक्षण का जो कार्ड खेला है, उससे महिलायें राजनैतिक स्तर पर खुद कितनी सशक्त होगी, यह एक बड़ा सवाल है। भाजपा नेता सुषमा स्वराज ने कहा इसे भारतीय महिला सशक्तिकरण के इतिहास में याद किया जायेगा, जबकि हकीकत यह है कि इतनी देरी से उठाये गये ऐसे छोटे कदम किसी मूलगामी परिवर्तन की प्रक्रिया को अपेक्षित तीव्र गति से आगे बढ़ाने में ज्यादा सहायक सिद्ध नहीं होते। वैसे इस तरह की पहल कुछ साल पहले कांग्रेस ने भी की थी और आज तक इस फैसले पर अमल नहीं हुआ है। आजादी के साथ ही अपने देश की महिलाओं को मताधिकार तो मिल गया था, जो कि राजनैतिक सशक्तिकरण की प्रक्रिया की दिशा में उठाया गया एक कदम था, लेकिन दूसरी तरफ आजादी के 60 साल बाद भी सत्ता में हिस्सेदारी के लिए ऐसे छोटे–छोटे फैसलो का असली अर्थ समझने की जरूरत है। जैसे छोटे–छोटे इंसाफ किसी एक बड़ी नाइंसाफी को छुपाने के लिए किये जाते है, ठीक उसी तरह सभी राजनैतिक पार्टियों के ऐसे छोटे कदमों को समझना होगा। भाजपा बेशक एनडीए की सरकार के दौरान महिला आरक्षण बिल पारित कराने के लिए गंभीर प्रयास करने का दावा करती हो, लेकिन हकीकत सब जानते है कि उमा भारती ने किस तरह दलित/पिछड़ा कार्ड के सहारे इस विधेयक का तीखा विरोध किया था और उमा भारती की इस दलील ने पार्टी के आरक्षण विरोधी पुरूषों का काम आसान कर दिया था। वे खामोश रहे, लेकिन उनका मकदस पूरा हो गया। महिलाओ को संसद और राज्य विधानसभाओं में 33 प्रतिशत आरक्षण दिये जाने से सम्बन्धित बिल के मसविदे को 8 मई 2008 को संसद की कानून एवं न्याय समिति को भेज दिया गया था जिसे 7 अगस्त, 2008 तक अपनी रिपोर्ट पेश करने को कहा गया था लेकिन इस विवादास्पद महिला आरक्षण विधेयक पर विचार कर रही संसदीय समिति को अपनी रिपोर्ट तैयार करने के लिए दो महीनो की मोहलत और दी गई है, अब देखना यह है कि समिति की रिपोर्ट आने पर महिला आरक्षण किस करवट घूमता है।

आरक्षण का सिद्धान्त यद्यपि अनुचित नहीं है तथापि इसका आधार 'जातिगत' न होकर 'आर्थिक स्तर' होना चाहिए। जो गरीब हैं उनसे अधिक दलित कोई नहीं है। आर्थिक दृष्टि से विपन्न सवर्ण भी आरक्षण का उतना ही अधिकारी है, जितना पिछड़ी जाति या अनुसूचित जाति का विपन्न व्यक्ति। अतः सरकार को अपनी आरक्षण नीति पर पुनर्विचार करते हुए कुछ विशेष वर्गो एवं जातियों को ही यह सुविधा नहीं देनी चाहिए, अपितु आरक्षण की परिधि में उन सवर्णों को भी लाना चाहिए जो आर्थिक दृष्टि से कमजोर हैं। यही न्याय का तकाजा है और तभी आरक्षण नीति सफल होगी और समाज में आरक्षण के कारण उत्पन्न असंतोष को भी तभी समाप्त किया जा सकेगा। अतः राजनीतिक पार्टियों को आरक्षण का उपयोग अपने राजनीतिक स्वार्थो के लिए नहीं करके समाज हित में किया जाना चाहिए जिससे विषमता की खाई को पाटने में सहायता मिल सके ।

सन्दर्भ ग्रन्थ–

1– निबन्ध–क्रॉनिकल संपादकीय समूह
2– निबन्ध लेखन–संपादक, प्रतियोगिता साहित्य सीरीज
3– अमर उजाला, 5 फरवरी, 2008, मंगलवार
4– दैनिक जागरण, 24 जुलाई, 2008
5– हिन्दुस्तान, 5 फरवरी, 2008
6– हिन्दुस्तान, 9 अगस्त, 2008

✦✦✦

*प्रवक्ता
समाजशास्त्र विभाग,
काशी नरेश राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
ज्ञानपुर, संत रविदास नगर,
भदोही, उत्तर प्रदेश

शोध-9

सामान्य और मूक-बधिर छात्रों की आदतों का तुलनात्मक अध्ययन

दिनेश चन्द*

जिस प्रकार भारत में जनसंख्या वृद्धि हो रही है, उसी क्रम में विकलांगता के क्षेत्र में वृद्धि हो रही है। विश्व के विभिन्न देशों में फैले लगभग 65 करोड़ विकलांगों का 80 प्रतिशत भाग तीसरी दुनिया के देशों में निवास करती है।

सन् 2001 में भारत की जनसंख्या 1028610328 थी जिसमें विकलांगों की जनसंख्या 21906769 थी। ऐसी स्थिति में समाजवादी तथा लोकतांत्रिक राष्ट्र से यह आशा की जाती है कि समाज के सभी वर्गों को आत्मनिर्भर बनाने तथा सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत करने योग्य बनायें। आज समाज का संतुलित एवं पूर्ण विकास करना है तो समाज एवं सरकार को विकलांगों के लिए शिक्षा, उचित देखभाल और प्रभावकारी प्रशिक्षण की व्यवस्था सुनिश्चित करनी होगी, जिसके द्वारा विकलांग वर्ग अपने जीविकोपार्जन का माध्यम स्वयं ढूढ़ सकें तथा आत्मनिर्भर होकर समाज के विकास में अपनी भूमिका निभा सकें।

अध्ययन की आवश्ययकता एवं महत्व– सामान्य एवं मूक-बधिर छात्रों के आदत सम्बन्धित साहित्य के सिंहावलोकन से सामान्यतया निम्नलिखित सामान्य निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं–

1. ऐसे सुदृढ़ संकेत नहीं हैं कि हम दृढ़तापूर्वक कह सकें कि मूक-बधिर छात्र सामान्य छात्रों से भिन्न हैं।
2. यह भी स्पष्ट संकेत नहीं मिलता है कि विशिष्ट प्रकार की विकलांगता किसी विशेष प्रकार की आदत से सम्बन्धित है।
3. यद्यपि विकलांगता से किसी विशेष आदत प्रारुप का संकेत नहीं पाया जाता है, फिर भी कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जो इनमें पायी जाती हैं।
4. कुछ अध्ययन यह दर्शाते हैं कि मूक-बधिर छात्रों की आदतें सामान्य छात्रों से भिन्न नहीं हैं तथा दूसरी ओर कुछ अन्य अध्ययन यह बताते हैं कि इनकी आदतें कुछ सामान्य लोगों से भिन्न हैं।

प्रयुक्त पदों की परिभाषाएँ– सामान्य छात्र– ऐसे छात्र जो देखने, सुनने तथा बोलने में सामान्य स्तर के हैं, उन्हें सामान्य छात्र कहते हैं।

मूक-बधिर छात्र– श्रवण क्षतिग्रस्तता में किसी भी प्रकार के दोष जैसे–मनोवैज्ञानिक, शारीरिक अथवा शारीरिक संरचना या उसके कार्यों में हो सकती है।

आशा 1981 के अनुसार– "श्रवण क्षति एक विचलन या बदलाव है जिसमें श्रवण कार्य अधिक गड़बड़ी के कारण सामान्य श्रेणी से बाहर हो जाता है।"

विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार– "मानव के उसके तरीके तथा विभिन्न प्रकार की क्रियाओं, चाहे वह क्षतिग्रस्तता अथवा अक्षमता हो उसके विभिन्न प्रकार की कमियों के आधार पर निर्धारण की जा सकती है।"

भारतीय पुनर्वास परिषद अधिनियम 1992 के अनुसार– "श्रवण विकलांगता का अर्थ बधिरता के साथ श्रवण क्षतिग्रस्तता है जिसके कान में 70 डेसीबल से अधिक अथवा दोनों कानों में पूर्ण श्रवण दोष होना ही श्रवण अक्षमता है।"

आदत– एच0ई0 गैरेट (1964) के अनुसार– "आदत उस व्यवहार का नाम है जो इतनी अधिक बार दोहराया जाता है कि वह व्यवहार स्वचालित (Automatic) हो जाता है।"

समस्या कथन वर्तमान शोध की समस्या को स्पष्टतया इन शब्दों में उल्लिखित किया गया है– "सामान्य और मूक-बधिर छात्रों के आदतों का तुलनात्मक अध्ययन"

अध्ययन के उद्देश्य– इस शोध हेतु अध्ययन के निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किये गये हैं–

1. सामान्य और मूक-बधिर छात्रों के आदतों का प्रारुप ज्ञात करना।
2. सामान्य और मूक-बधिर छात्रों के आदतों के विभिन्न आयामों में अन्तर ज्ञात करना।

अध्ययन की परिकल्पना– अध्ययन के उद्देश्यों से सम्बन्धित निष्कर्षों का परीक्षण करने हेतु निम्नलिखित शून्य परिकल्पनाओं का निर्माण किया गया है– Ho–1 : सामान्य और मूक-बधिर छात्रों के प्रारुप में कोई अन्तर नहीं है।

Ho–2 : सामान्य और मूक-बधिर छात्रों के आदतों में विभिन्न आयामों पर कोई अन्तर नहीं हैं।

अध्ययन की प्रविधि– वर्तमान अध्ययन का प्रारुप सर्वेक्षण विधि पर आधारित है, इसके अन्तर्गत सहसम्बन्धात्मक एवं तुलनात्मक विधियों का प्रयोग किया गया है।

उपकरण– सामान्य एवं मूक-बधिर छात्रों के आदतों के लिए एम0एन0 पालसाने और अनुराधा शर्मा (1989) द्वारा निर्मित आदत सम्बन्धी अनुसूची का प्रयोग किया गया है।

जनसंख्या– वर्तमान अध्ययन हेतु जनसंख्या के रुप में इलाहाबाद, वाराणसी और गोरखपुर मण्डल में स्थित जूनियर हाई स्कूल के सामान्य एवं मूक-बधिर छात्रों को सम्मिलित किया गया है।

न्यादर्श चयन विधि– वर्तमान अध्ययन हेतु न्यादर्श के रुप में सामान्य एवं मूक-बधिर (दो-दो सौ) छात्रों को उद्देश्यपूर्ण, यादृच्छिक एवं कलस्टर विधि से न्यादर्श के रुप में चयनित किया गया है।

आँकड़ा संकलन– प्रश्नावली निर्माता द्वारा दिये गये निर्देशों के अनुसार शोधकर्त्ता द्वारा नियमों का कड़ाई से पालन करते हुए आँकड़ा संकलित किया गया है। मूक-बधिर छात्रों के लिए सांकेतिक तकनीकी का प्रयोग किया गया है।

सांख्यिकी विधियाँ–

प्रस्तुत अध्ययन में तथ्यों के स्पष्टीकरण एवं निष्कर्ष निकालने के लिए प्रदत्तों के विश्लेषण हेतु मध्यमान, मानक विचलन एवं 'टी' परीक्षण का प्रयोग किया गया है।

प्रदत्तों का विश्लेषण एवं व्याख्या–

प्रस्तुत अध्ययन की परिकल्पनाओं के आधार पर किये गये विश्लेषण एवं उनकी व्याख्या निम्नवत् है–

सारणी संख्या–1

सामान्य एवं मूक–बधिर छात्रों के आदतों के बीच 't' मूल्य

समूह	संख्या (N)	मध्यमान (M)	मानक विचलन (SD)	'टी' मूल्य
सामान्य छात्र	200	63.56	6.36	
मूक–बधिर छात्र	200	55.19	9.54	10.32**

0.01** स्तर पर सार्थक अन्तर है।

सारणी संख्या 1.00 के अवलोकन से स्पश्ट है कि सामान्य एवं मूक–बधिर छात्रों का 'टी' परीक्षण मूल्य 10.32 प्राप्त हुआ जो 0.01 स्तर पर सार्थक अन्तर है।

सारणी संख्या–2

सामान्य और मूक–बधिर छात्रों के निश्चित समय (Budgeting time) सम्बन्धी आयाम का मध्यमान, मानक विचलन और 't' मूल्य

समूह	संख्या (N)	मध्यमान (M)	मानक विचलन (SD)	'टी' मूल्य
सामान्य छात्र	200	8.08	1.22	
मूक–बधिर छात्र	200	7.83	1.77	1.64**

सारणी संख्या 2 से 'टी' परीक्षण मूल्य 1.64 प्राप्त हुआ जिसमें सार्थक अन्तर नहीं है। अतएव निराकरणी परिकल्पना सत्य है जो यह कहती है कि सामान्य मूक–बधिर छात्रों के आदतों के विभिन्न आयामों पर कोई अन्तर नहीं है स्वीकृत की जाती है।

सारणी संख्या–3

सामान्य और मूक–बधिर छात्रों के अध्ययन शारीरिक दशा आयाम का मध्यमान, मानक विचलन और **'t'** मूल्य

समूह	संख्या (N)	मध्यमान (M)	मानक विचलन (SD)	'टी' मूल्य
सामान्य छात्र	200	8.40	1.42	
मूक–बधिर छात्र	200	7.16	1.88	7.44**

0.01** स्तर पर सार्थक अन्तर है।

सारणी संख्या–3 के अवलोकन से 'टी' परीक्षण मूल्य 7.44 प्राप्त हुआ जो 0.01 स्तर पर सार्थक अन्तर

सारणी संख्या–4

सामान्य और मूक–बधिर छात्रों के अध्ययन योग्यता सम्बन्धी आयाम का मध्यमान, मानक विचलन और 'टी' मूल्य

समूह	संख्या (N)	मध्यमान (M)	मानक विचलन (SD)	'टी' मूल्य
सामान्य छात्र	200	10.94	2.01	
मूक–बधिर छात्र	200	9.30	2.47	7.28**

0.01** स्तर पर सार्थक अन्तर है।

सारणी संख्या 4 के अवलोकन से 'टी' परीक्षण मूल्य 7.28 प्राप्त हुआ जो 0.01 स्तर पर सार्थक अन्तर है।

सारणी संख्या–5

सामान्य और मूक–बधिर छात्रों के नोट्स लिखना (Notes taking) आयाम का मध्यमान, मानक विचलन और 't' मूल्य

समूह	संख्या (N)	मध्यमान (M)	मानक विचलन (SD)	'टी' मूल्य
सामान्य छात्र	200	3.17	1.50	
मूक–बधिर छात्र	200	3.49	1.57	2.08**

0.01* स्तर पर सार्थक अन्तर है।

सारणी संख्या 5 को देखने से 'टी' परीक्षण मूल्य 2.08 प्राप्त हुआ जो 0.05 स्तर पर सार्थक अन्तर है।

सारणी संख्या–6

सामान्य और मूक–बधिर छात्रों के अधिगम प्रेरणा (Learning Motivation) सम्बन्धी आयाम का मध्यमान, मानक विचलन और 't' मूल्य

समूह	संख्या (N)	मध्यमान (M)	मानक विचलन (SD)	'टी' मूल्य
सामान्य छात्र	200	9.76	1.67	
मूक–बधिर छात्र	200	7.28	2.66	11.77**

0.01** स्तर पर सार्थक अन्तर है।

सारणी संख्या 6 को देखने से 'टी' परीक्षण मूल्य 11.77 प्राप्त हुआ जो 0.01 स्तर पर सार्थक अन्तर है। अतः निराकरणीय परिकलपना Ho2 असत्य है

सारणी संख्या–7

सामान्य और मूक–बधिर छात्रों के स्मृति (Memory) सम्बन्धी आयाम का मध्यमान, मानक विचलन और 't' मूल्य

समूह	संख्या (N)	मध्यमान (M)	मानक विचलन (SD)	'टी' मूल्य
सामान्य छात्र	200	5.23	1.34	
मूक–बधिर छात्र	200	4.09	1.44	8.15**

0.01** स्तर पर सार्थक अन्तर है।

सारणी संख्या 7 के अवलोकन से 'टी' परीक्षण मूल्य 8.15 प्राप्त हुआ जो 0.01 स्तर पर सार्थक अन्तर है।

सारणी संख्या–8

सामान्य और मूक–बधिर छात्रों के परीक्षा (Taking Examination) सम्बन्धी आयाम का मध्यमान, मानक विचलन और 't' मूल्य

समूह	संख्या (N)	मध्यमान (M)	मानक विचलन (SD)	'टी' मूल्य
सामान्य छात्र	200	13.50	2.37	
मूक–बधिर छात्र	200	12.01	2.99	5.52**

0.01** स्तर पर सार्थक अन्तर है।

सारणी संख्या 8 को देखने से 'टी' परीक्षण मूल्य 5.52 प्राप्त हुआ जो 0.01 स्तर पर सार्थक अन्तर है।

सारणी संख्या–9

सामान्य और मूक–बधिर छात्रों के स्वास्थ्य (Health) सम्बन्धी आयाम का मध्यमान, मानक विचलन और 't' मूल्य

समूह	संख्या (N)	मध्यमान (M)	मानक विचलन (SD)	'टी' मूल्य
सामान्य छात्र	200	4.49	1.12	
मूक–बधिर छात्र	200	4.06	1.44	3.33**

0.01** स्तर पर सार्थक अन्तर है।

सारणी संख्या 9 से यह स्पश्ट होता है कि 'टी' परीक्षण मूल्य 3.33 प्राप्त हुआ जो 0.01 स्तर पर सार्थक अन्तर है।

निष्कर्ष–

1. सामान्य छात्रों की आदत उच्च स्तर की पायी गयी जबकि मूक–बधिर छात्रों की आदत निम्न स्तर की पायी गयी।
2. सामान्य एवं मूक–बधिर छात्र आदत के निश्चित समय को विभाजित करके शैक्षिक सफलता प्राप्त करते हैं। इसलिए इनके बीच कोई सार्थक अन्तर देखने को नहीं मिला।
3. सामान्य छात्रों के आदत की शारीरिक दशा उच्च स्तर का है जबकि मूक–बधिर छात्रों की शारीरिक दशा निम्न स्तर की है। इसलिए इनके बीच आदत के शारीरिक दशा सम्बन्धी आयाम में अन्तर देखने को मिला।
4. सामान्य छात्रों के आदत की अध्ययन योग्यता उच्च स्तर की पायी गयी जबकि मूक–बधिर छात्रों की अध्ययन योग्यता आदत सम्बन्धी आयाम निम्न स्तर की पायी गयी।
5. सामान्य और मूक–बधिर छात्र सामान्य रूप से नोट्स बनाते हैं इसलिए आदत के नोट्स लिखने जैसे आयाम पर कोई सार्थक अन्तर नहीं पाया गया है।
6. सामान्य छात्रों की आदत के अधिगम प्रेरणा आयाम उच्च स्तर का है। जबकि मूक–बधिर छात्रों की अधिगम प्रेरणा आयाम निम्न स्तर की है। इसलिए सामान्य और मूक–बधिर छात्रों के आदत अधिगम अभिप्रेरणा सम्बन्धी आयामों में अन्तर है।
7. सामान्य छात्रों की आदत की स्मृति (Memory) मूक–बधिर छात्रों से अच्छी पायी गयी।
8. सामान्य छात्र, मूक–बधिर छात्रों की अपेक्षा अधिक अच्छे प्रकार से परीक्षा देते हैं, इसलिए सामान्य एवं मूक–बधिर छात्रों के बीच आदत की परीक्षा सम्बन्धी आयाम में अन्तर पाया गया।
9. सामान्य छात्र मूक–बधिर छात्रों की अपेक्षा आदत के स्वास्थ्य सम्बन्धी निर्देशों का उपयोग अधिक करते हैं। इसलिए आदत के स्वास्थ्य सम्बन्धी आयाम पर अन्तर पाया गया।

सन्दर्भ ग्रन्थ–

डा0 जोसेफ, आर0ए0 'विशेष शिक्षा एवं पुनर्वास': प्रकाशक– समाकलन पब्लिशर्स, समाकलन संस्थान, करौंदी, वाराणसी।

डा0 डी0एन0 श्रीवास्तव, डा0 प्रीति वर्मा, बाल मनोविज्ञान, बाल विकास, पृ0 410–16

कपित एच0 के0 (1995) अनुसंधान विधियाँ, हर प्रसाद भार्गव पुस्तक प्रकाशन, कचहरी घाट, आगरा।

✦✦✦

* शोध छात्र,
वीर बहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय,
जौनपुर, उ0प्र0

शोध-१०

'हिन्दी' शब्द : उत्पत्ति और इतिहास

डॉ. संजय कुमार सिंह*

''हिन्दी शब्द से हमारा आशय हिन्दी भाषी क्षेत्र की साहित्यिक भाषा या भाषाओं से है।'' [2] चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के अनुसार ''अपभ्रंश का परवर्ती रूप ही पुरानी हिन्दी है।''[3] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य पर अपना मत व्यक्त करते हुए कहते हैं– ''प्राकृत की अंतिम अपभ्रंश अवस्था से ही हिन्दी साहित्य का आविर्भाव माना जा सकता है।..... अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी के पद्यों का सबसे पुराना पता तांत्रिक और योगमार्गी बौद्धों की साम्प्रदायिक रचनाओं के भीतर विक्रम की सातवीं शताब्दी के अंतिम चरण में लगता है।''[4] यही कारण है कि उन्होंने आदिकाल के अन्दर अपभ्रंश की रचनाओं को भी समाहित किया है। क्योंकि ''वे सदा से ही भाषा काव्य के अन्तर्गत मानी जाती रही हैं।''[5] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार ''हिन्दी भारतवर्ष के एक बहुत विशाल प्रदेश की साहित्य–भाषा है।''[6] आगे वे इसके क्षेत्र की ओर संकेत करते हुए कहते हैं, ''राजस्थान और पंजाब राज्य की पश्चिमी सीमा से लेकर बिहार के पूर्वी सीमान्त तक तथा उत्तर प्रदेश के उत्तरी सीमान्त से लेकर मध्यप्रदेश के मध्य तक के अनेक राज्यों की साहित्यिक भाषा को हम हिन्दी कहते आये हैं।[7]

डॉ. ग्रियर्सन हिन्दी पर विचार करते हुए अपने 'भाषा सर्वेक्षण की भूमिका में लिखते हैं,–''इस प्रकार यह कहा जा सकता है और सामान्य रूप से लोगों का विश्वास भी यही है कि गंगा के समस्त तटवर्ती क्षेत्र में, बंगाल और पंजाब के बीच, अपनी अनेक स्थानीय बोलियों सहित केवल एक मात्र प्रचलित भाषा हिन्दी ही है। एक दृष्टि से यह ठीक है और इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। सर्वत्र हिन्दी अथवा हिन्दोस्तानी शासन की भाषा है और ग्रामीण स्कूलों में यही शिक्षा का माध्यम भी है।''[10]

अब जरा इस शब्द के जन्म की ओर रूख करें। ईरानियों के प्राचीनतम् धर्मग्रन्थ 'आवेस्ता' में 'हिन्दु', 'हैन्दु' के साथ–साथ 'हफ्तसिन्धवः'[11] शब्दों के ईरानी उच्चारण हैं। ऋग्वेद में प्रयुक्त 'सिन्ध' और 'सप्तसिन्धवः' शब्दों के ईरानी उच्चारण हैं। ऋग्वेद में 'सिन्ध' शब्द नदी के अर्थ में तथा 'सप्तसिन्धवः' शब्द सात नदियों के अर्थ में अनेक बार[12] और स्थान विशेष के अर्थ में एक बार[13] प्रयुक्त हुआ है। प्राचीन पहलवी भाषा में भी 'हिन्दी', 'हिन्दुक' और 'हिन्दुश' शब्द उपलब्ध है।[14]

मध्यकाल में हमें 'हिन्दीक' और 'हिन्दीग्' शब्द भी मिलते हैं। ये शब्द हिन्दी में विशेषण प्रत्यय 'ईक्' के जुड़ने से बने हैं। कालान्तर में इसके अंतिम व्यंजन का लोप हो गया और 'हिन्दी' शब्द हिन्दी के विशेषण के रूप में प्रचलित हो गया। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'हिन्द' शब्द ही हिन्दी का मूल रूप है।

आरम्भिक यूनानी यात्रियों ने 'हिन्द' को 'इण्डया' या 'इण्डिका' कहा है। आधुनिक 'इण्डिया' शब्द इसी का विकसित रूप है।

'हिन्दी' शब्द अनेक बार वस्तुबोधक रूप में प्रयुक्त होता रहा है। कुरान में 'सुन्द्रसु' का अर्थ है 'सुन्दर सूती वस्त्र'। मिश्री भाषा में हिन्दी का अर्थ है 'मलमल'। वहीं अरबी में हिन्दी का एक अर्थ हिन्दुस्तानी फौलाद की तलवार भी है। कुछ भाषा वैज्ञानिकों के अनुसार हिन्दी शब्द 'सिन्धी' शब्द से बना है। परन्तु भारत के प्राचीन साहित्य में सम्भवतः 'सिन्धी' शब्द मिलता ही नहीं है। हाँ, देवल[15] से भारत आनेवाले अरब यात्री सिन्ध प्रान्त की भाषा को 'सिन्धी' अवश्य कहते हैं, किन्तु यह बात सातवीं शताब्दी के बाद की है। अरब यात्री बुशारी[16] लिखता है, देवल में सब व्यापारी ही व्यापारी बसते हैं। उनकी भाषा 'अरबी'[17] और 'सिन्धी'[18] है। अरब यात्रियों ने 'हिन्द' और 'सिन्ध' को अलग–अलग प्रान्त माना है। अनुमानतः सिन्ध नदी के किनारे से लेकर कश्मीर की तराई तक के भाग को वे 'सिन्ध' कहते थे तथा गुजरात से लेकर भीतरी देश को 'हिन्द' नाम से अभिहित करते थे। एक अरब यात्री[19] ने लिखा है कि 'हिन्द' की भाषा से 'सिन्ध' की भाषा भिन्न है। प्राचीन अरबी–साहित्य में अनेक स्थलों पर हिन्दी शब्द का प्रयोग देश के अर्थ में मिलता है।

प्रसिद्ध मध्यकालीन विद्वान् अलबरूणी[24] हिन्दी की भाषाओं हेतु 'अलहिन्दयः' शब्द का प्रयोग करता है। ऐसा लगता है कि प्राचीन तथा मध्यकालीन अरबी तथा फारसी साहित्य में 'जबाने–हिन्दी' 'शब्द हिन्दी की समस्त भाषाओं[25] का वाचक रहा है।

यह जानना रुचिकर है कि भारत की किसी भी प्राचीन आर्य भाषा में 'हिन्दी' शब्द उपलब्ध नहीं है। सिर्फ कालकाचार्य की कथा में जो जैन महाराष्ट्री में लिखित है, केवल 'हिन्दग्' शब्द मिलता है। यथा, ''सूरिणा मणियम् रामाणो जेण हिन्दुग देसम वच्चामो''[26] औफी (1298 ई.) फारसी भाषा के पहले भारतीय कवि हैं जिन्होंने सर्वप्रथम 'हिन्दवी' शब्द का प्रयोग हिन्दी की देशी भाषा (सम्भवतः मध्य देश की) के लिए किया है। ऑफी मसऊदी की कृतियों का जिक्र करते हुए कहते हैं–''यके वताजी व यके व फारसी व यके बहिन्दगी''27 सैयद दीवान दर इबारत अरबी व फारसी व हिन्दवी''[28]।

ऐसा लगता है कि इस समय तक फारसी भाषा के मुसलमान लेखकों द्वारा हिन्दी की देशी भाषा के लिए हिन्दी या हिन्दवी शब्द की प्रयोग में थे।

अमीर खुसरो फारसी के साथ–साथ देशी भाषा अर्थात्

'हिन्दी' या हिन्दवी' के भी जानकार थे। गयासुद्दीन तुगलक ने अपने लड़के को सम्भवतः 'हिन्दी' या 'हिन्दवी' सिखाने के लिए उन्हें शिक्षक नियुक्त किया था। इसी संदर्भ में उन्होंने एक फारसी–हिन्दी कोश[29] की रचना की। ''खालिकबारी' में 'हिन्दवी' शब्द तीस बार और 'हिन्दी' शब्द पाँच बार देशी भाषा के लिए प्रयुक्त हुआ है। अमीर खुसरों ने तत्कालीन भारतीय भाषाओं का विभाजन भी प्रस्तुत किया है। यह विभाजन इस प्रकार है: ''(1) सिन्धी, (2) लाहौरी, (3) कश्मीरी, (4) बंगाली, (5) गौड़ी, (6) गुजराती, (7) तिलगी, (8) माबरी (कर्नाटकी, कोंकड़ी), (9) ध्रुव समुन्दरी, (10) अवधी, (11) देहलवी और इसके इतराफ की जबान''। इस विभाजन से ज्ञात होता है कि खुसरो के समय तक किसी भाषा विशेष के लिए हिन्दी शब्द प्रचलन में नहीं था।

मध्यकालीन प्रसिद्ध संत कवि कबीर कहते हैं– ''संसकिरत है कूप जल, भाखा बहता नीर'' वहीं प्रसिद्ध भक्त कवि तुलसी का विचार है–''..... का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिए सांच''। प्रेममार्गी सूफी कवि जायसी[30] देशी भाषा के प्रति अपना अनुराग इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं–

''तुर्की, अरबी, हिन्दवी, भाषा जेती आहिं, जामे मारग प्रेम का, सबै सराहें ताहिं''।

यहाँ गौर करने की बात यह है कि जायसी अवधी भाषा में अपने उद्‌गार व्यक्त करते हैं, और खुसरों की नजर में देशी भाषा का अभिप्राय ''देहलवी और उसके इतराफ की जबान'' से है। ऐसा लगता है कि इस समय तक दिल्ली से लेकर अवध तक की भाषा के लिए एक सामान्य संज्ञा हिन्दी थी हिन्दवी होती जा रही थी।

फारसी और अरबी भाषा परम्पराओं से आने वाले कवि हिन्दी या हिन्दवी शब्द का प्रयोग देशी भाषा के लिए व्यापक अर्थ में करते हैं। यद्यपि भारतीय परम्परा से संबंधित कवि संस्कृत आदि–प्राचीन भाषाओं की तुलना में देशी भाषा के लिए केवल या 'भाखा' का ही प्रयोग करते हैं। कबीर, तुलसी के उदाहरण से यह बात स्पष्ट है।

रसामल शिबली[31] ने मध्यकालीन प्रसिद्ध कवि रहीम को हिन्दी का कवि कहा है। यह तथ्य छुपा नहीं है कि रहीम मुख्यतः ब्रज भाषा के कवि थे। इस संदर्भ में यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी, हिन्दवी और भाखा तीनों निश्चित रूप से समान अर्थ का ही वहन करते थे। शाह मिराजी[32] जो 'दक्खिनी हिन्दी' के कवि थे, इसी ओर संकेत करते हैं–

''यों देखत 'हिन्दी' बोल, प्रन माने है नपतोल।
त्यों 'भाका' माटी जानो, जर मानी दिल से आनो।।''[33]

शेख अशरफ ने भी लिखा है–''नज्म लिखी सब मौंजू यों मैं हिन्दवी कर आसान।''[34]

जानम बीजापुरी[35] लिखते हैं–''हिन्दी बोलों किया बखन। जेकर परसाद का मुज ग्यान।''

मुल्लावजही[36] जो दक्खिनी के प्रसिद्ध गद्य लेखक हैं, 'हिन्द' का प्रयोग उपरोक्त अर्थ में ही करते हैं–

''हिन्दोस्तान में 'हिन्दी' जबान सों इस लताफत इस छन्दा सों नज्म और नस्र मिलाकर गुलाकरयैं नै बोला''।

तुजुक–इ–बाबरी' और 'तुजुक–इ–जहाँगीरी' में भी हिन्दी का अर्थ हिन्द की कोई भाषा ही है।

अकबर के दरबारी और प्रसिद्ध लेखक अबुल फजल ने तत्कालीन भाषाओं का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। अबुल फजल का वर्गीकरण इस प्रकार है:– (1) देहलवी, (2) बंगाली, (3) मुलतानी, (4) मारवाड़ी, (5) गुजराती, (6) तिलंगी, (7) मरहठी, (8) कर्नाटकी, (9) सिन्धी, (10) अफगानी (तब अफगानिस्तान भी अकबर के शासन के अधीन था), (11) बिलोचिस्तानी, (12) कश्मीरी।

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि अवधी और ब्रजभाषा दोनों ही इस सूची से बाहर हैं।

यहीं पर एक और दिलचस्प बात यह कि किसी हिन्दू द्वारा 'हिन्दवी' शब्द का सम्भवतः पहली बार प्रयोग इसी शती में मिलता है। राम सिंह के, जी मिर्जा राजा जयसिंह के पुत्र थे, सहायक श्री प्रकाश दास द्वारा अम्बेर के दीवान श्री कल्याण दास को एक पत्र[37] भेजा गया। उस पत्र में जयसिंह और राम सिंह के पुत्र को हिन्दवी परवाना कहा गया है–''सो ऐसी भाँति कागज का यह 'हिन्दवी' परवानो। श्री महाराज (जयसिंह) जी को श्री महाराज कुँवर जे के ताई आये वाणवायो है।''[38] सन्त प्राणनाथ ने अपनी 'सन्नधें,[39] औरंगजेब के पास भेजवायी थीं। इस पर औरंगजेब और अन्य मुसलमानों की प्रतिक्रिया निम्न प्रकार थी–

''कोई कहे 'हिन्दवी मिने। लिखे ऐ कलाम।।
मैं तो बहुत प्रकान्या। इनो पीठ दई तरफ हक।।
कोई कलाम हिन्दवीय का। ल्यावतें हैं दिलसक''।

सत्रहवीं शती के बनारसी दास जैन ने हिन्दवी के अर्थ में ही 'हिन्दगी शब्द का प्रयोग किया है–

''मूलदास जिनदास के, भय पुत्र परधान।
पढ्यो, 'हिन्दगी', फारसी भाग्यवान–बलवान।''

ऐसा लगता है कि सत्रहवीं शती तक 'हिन्दी' और 'हिन्दवी' ही शब्द मध्यदेश की भाषा के लिए प्रयुक्त होते थे। अर्थात् समानार्थी दक्खिनी हिन्दी भी मूलतः 'हिन्दी' या 'हिन्दवी' ही थी, जिसकी जड़ दिल्ली और उसके आस–पास की भाषा में थी। उत्तर भारत में बाद के दिनों में हम यह देखते हैं कि भाषा मुख्यतः समान रहने के बावजूद हिन्दवी नाम हिन्दू जनता में तथा हिन्दी नाम मुसलमानों में अधिक प्रचलित हुआ। शायद इस फर्क के मूल में लिपि भेद रही हो। ब्रजभाषा व्याकरण के प्रथम लेखक मिर्जा खाँ ने अपने ग्रन्थ[40] में लगभग तीन हजार हिन्दी शब्दों की फारसी में व्याख्या की है और अपने कोश के नाम में भी हिन्दी शब्द को जोड़ा है। शेख अब्दुल अंसरी[41] (1074 हिजरी) और शेख महबूब आलम ने भी 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग उपर्युक्त अर्थ में ही किया है।

अठारहवीं शती के आते–आते एक बात और होती है कि, 'भाखा' या 'भाका' शब्द सामान्य अर्थ में मध्यदेश की ग्रामीण बोलियों का और खास अर्थ में ब्रजभाषा का वाचक बन जाता है।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने प्रशासनिक सुविधा को ध्यान में

रखकर अपने कर्मचारियों को विधिवत देशी भाषा सिखाने का निर्णय लिया। 1800 ई. में कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की गई। यहाँ प्राच्य भाषाओं की शिक्षण का भी प्रबंध किया गया। गिलक्राइस्ट यहाँ हिन्दुस्तानी विभाग के अध्यक्ष नियुक्त किए गए। गिलक्राइस्ट ने अपनी भाषा नीति के तहत हिन्दुस्तानी[44] को हिन्दुस्तानी' शब्द अपने आप में व्यापक अर्थ को समाए हुए है। गिलक्राइस्ट की नजर में 'हिन्दी' शब्द से अनेक प्रकार का भ्रम हो सकता था, अतः उन्होंने 'हिन्दुस्तानी' नाम को ही उपयुक्त समझा।

निःसंदेह गिलक्राइस्ट द्वारा समर्थित यह 'हिन्दुस्तानी' नाम जबान रेख्ता, उर्दू–ए–मुअल्ला का समानार्थक ही है। गिलक्राइस्ट के इस सुविचारित मत का समर्थन डब्ल्यू.वी. बेली अपने मसविदे में यूँ करते हैं–

''हिन्दुस्तानी जबान की जिसका जिक्र मेरे दावे[45] में है, उसको हिन्दी, उर्दू और रेख्तः भी कहे है।''

गिलक्राइस्ट हिन्दुस्तानी की तीन शैलियाँ मानते हैं–

1. उच्च या दरबारी या फारसी शैली,
2. मध्यम या वास्तविक हिन्दुस्तानी,
3. ग्रामीण या हिन्दवी शैली

गिलक्राइस्ट के पूर्व भी हेलहेड ने हिन्दवी की शुद्ध हिन्दुस्तानी और हिन्दुस्तानी को मिश्रित हिन्दुस्तानी कहा था। गिलक्राइस्ट अपने मत को अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'हिन्दवी' नाम उस शैली के लिए प्रयुक्त होगा, जो फारेस्टर कृत् सरकारी शासन प्रबंध से सरल अनुवाद में नागरी लिपि में लिखे हुए लेख से तथा निम्न श्रेणी के नौकरों की बोली में हिन्दुओं और हिन्दुस्तान के किसानों की बोलियों में मिलती है।[46]

स्पष्टतः 19वीं शती के आरम्भ में, कॉलेज में हिन्दी, हिन्दवी, और उर्दू का प्रयोग गिलक्राईस्ट के मतानुसार ही होता रहा। किन्तु हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि गिलक्राइस्ट का यह मत न तब सर्वग्राह्य था, न बाद में हुआ। अनेक लोग हिन्दी और उर्दू को कतई समानार्थक शब्द नहीं मानते थे, बल्कि उर्दू को हिन्दी की एक विशिष्ट शैली ही मानते थे।

वहीं फोर्ट विलियम कॉलेज के बाहर 'हिन्दवी' शब्द एकदम से ग्रामीण शैली का पर्याय नहीं था। यह शिष्ट लोगों की उस शैली के लिए भी प्रयुक्त होता था जो बाहरी प्रभाव और भाखापन से मुक्त हो। इंशाअल्ला खाँ के वक्तव्य से इसे और स्पष्ट किया जा सकता है–''कोई कहानी ऐसी कहें, जिसमें हिन्दवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले, बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो.... हिन्दवीपन भी न निकले और भाखापन भी न ठुस जाये, भले लोग अच्छों से अच्छे आपस में बोलते–चालते हैं.....यही नहीं होने का।[49]

यहाँ हम देखते हैं कि अरबी–फारसी के अधिक प्रभाव के कारण इंशाअल्ला शुद्ध हिन्दी या हिन्दवी लिखने में पूरी तरह सफल नहीं हो पाये पर उनकी कोशिश यही थी। बाद में लल्लू जी[50] लाल तथा सदल मिश्र[51] ने इसी हिन्दवी शैली को आगे बढ़ाने का कार्य किया, जिसे खड़ी बोली कहा गया। किन्तु ये दोनों लेखक भी शुद्ध हिन्दी या हिन्दवी नहीं लिख सके क्योंकि इनकी शैली में भाखापन[52] झाँक–झाँक जाते हैं।

इंशाअल्ला खाँ आदि ने हिन्दी शब्द का प्रयोग अधिकांशतः मध्यप्रदेश की भाषा के लिए किया है। उदाहरणार्थ–''जुमला हिन्दी में बात और अरबी में कलाम है''।[53] खाँ साहब सआदत यार खाँ रंगीन को लक्ष्य कर कहते हैं–''जनाब फारसी, अरबी और हिन्दी तीन जबानों में सैर कहते हैं।''[54] लेकिन खास अर्थ में वे हिन्दी का प्रयोग दरबारी शैली की आदर्श उर्दू के लिए करते हैं। यथा–''पस हिन्दी जबान के हरफ अठासी हुए''[55] ''सर गुजिस्तः फारसी और रसभानी ने हिन्दी हुआ।''[56]

इस प्रकार विदेशी भाषाओं के संदर्भ में हिन्दी और उर्दू शब्द समानार्थक–जैसे हैं किन्तु उर्दू के संदर्भ में हिन्दी शब्द सामान्यतः स्थान विशेष का वाचक बन जाती है।

बाद के वर्षों में हम देखते हैं कि गिलक्राइस्ट की भाषा नीति समय की कसौटी पर खड़ी नहीं उतर पायी। और उस संदर्भ तथा अर्थ में व्यवहृत नहीं रही जिसकी कल्पना गिलक्राइस्ट ने की थी। कम्पनी के कर्मचारियों का संबंध ज्यों–ज्यों आम जनता से बढ़ता गया, त्यों–त्यों उन्हें यह समझते देर न लगी कि यहाँ के जनसामान्य में प्रचलित भाषा वस्तुतः हिन्दी (हिन्दवी) है, हिन्दुस्तानी नहीं।

कैप्टन टेलर ही वह पहला व्यक्ति था जिसने 1812 ई. में कॉलेज का बजट प्रस्तुत करते हुए हिन्दी शब्द का आधुनिक अर्थ में प्रयोग किया था–''मैं केवल हिन्दुस्तानी या रेखता का जिकर कर रहा हूँ, जो फारसी लिपि में लिखी जाती है....मैं हिन्दी का जिक्र नहीं कर रहा, जिसकी अपनी लिपि है.... जिसमें अरबी–फारसी शब्दों का प्रयोग नहीं होता और मुसलमानी आक्रमण से पहले भारतवर्ष के समस्त उत्तर–पश्चिम प्रांत की भाषा थी।''[57]

इस संदर्भ में एक दिलचस्प बात यह कि विलियम प्राइस ही वह पहला व्यक्ति था, जिसने सर्वप्रथम अपने को हिन्दी का प्रोफेसर कहा[58] और हिन्दी के अन्य अनेक नाम की जगह हिन्दी नाम ही उपयुक्त माना। उनके ही शब्दों में–''अत्यधिक प्रचलित होने के कारण हिन्दी का रूप ही अधिक अपेक्षित है..हिन्दी के लगभग सभी शब्द संस्कृत के हैं और हिन्दुस्तानी के अधिकांश शब्द अरबी–फारसी के।''[59] प्राइस की नजर में हिन्दी और हिन्दुस्तानी का फर्क इस प्रकार है– हिन्दुस्तानी–''एक बार किसी शहर में यूँ शुहरत हुई कि उसके नजदीक के पहाड़ों को जनने का दर्द उठा।'' हिन्दी–''एक समय किसी नगर में चर्चा फैली की उससे पड़ोस के पहाड़ों को प्रसूति की पीर हुई''[60]।

लार्ड एमहर्स्ट ने भी माना है कि–''हिन्दी शब्द के सामान्य अर्थ के अन्तर्गत वे बोलियाँ आती हैं, जो थोड़े से स्थानीय भेदों और परिवर्तनों के साथ बनारस और बिहार तथा समर्पित तथा विजित प्रांतों के अधिकांश हिन्दू जनसमूह द्वारा व्यवहृत होती है''..... अब आपको छोटे–छोटे व्यक्ति के साथ न्याय करना पड़ता है''....''फारसी और उर्दू उनके लिए उतनी ही विदेशी है, जितनी अंग्रेजी''[61]।

कुल मिलाकर ऐसा लगता है कि चौदहवीं शताब्दी से मध्यदेश की बोली के अर्थ में हिन्दी शब्द रूढ़ होने लगा। यही कारण है कि ग्रियर्सन द्वारा चिह्नित हिन्दी की आठों बोलियाँ इसी क्षेत्र की हैं–

पश्चिमी हिन्दी–खड़ी बोली, बाँगरू, ब्रज, कन्नौजी, बुन्देली। पूर्वी हिन्दी– अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी,।

श्यामसुन्दर दास और धीरेन्द्र वर्मा राजस्थानी–मेवाड़ी, जयपुरी, मेवाती, हाड़ीती तथा पहाड़ी (कुमाउँनी, गढ़वाली, नेपाली) और बिहारी (मैथिली, मगही, भोजपुरी) हिन्दी की तीन उपभाषा और मानते हैं।

हिन्दी आज इसी अर्थ में भारतीय संघ की राजभाषा और राष्ट्रभाषा है।

सन्दर्भ ग्रन्थ–

1. Oxford English-English Hindi Dictionary, Oxford University Press, 2008
2. हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास NCERT
3. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, 'पुरानी हिन्दी'
4. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृष्ठ–3 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
5. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
6. 'हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास', प्रस्तावना, पृष्ठ–17, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
7. उपरोक्त
8. उपरोक्त
9. उपरोक्त, पृष्ठ 17–18
10. डॉ. जॉर्ज ग्रियर्सन–'भाषा सर्वेक्षण' की भूमिका भाग में, पृष्ठ–42–43
11. यस्ना 56, अनुच्छेद 629, आवेस्ता रीडर फर्स्ट सीरीजः ए.बी. विलियम जैक्सन
12. यद् ऋक्षादंहसो मुचदयो वार्यात्, सप्तसिन्धुष,–ऋक् 8:24:27
13. ऋक् 2:8:96
14. पर्सीपोलिस धारयत वसु 486 ई. के स्मारक पर 'हिन्दुश' अभिलिखित हैं, देखें 'पहलवी इंसक्रिप्शन्स'
15. करॉची
16. 375 हिजरी
17. अरबी
18. अरबी में भारतीय आर्यभाषा की 'स' 'ध्वनि' 'स' ही उच्चारित होती है।
19. मसऊद, 303 हिजरी
20. छठी शताब्दी
21. अरबी में
22. पूरा नाम–अबुल शाली नसरूल्लाह बिन अब्दुल हमीद, दशवीं उत्तरार्द्ध
23. ''सबब इलत तरनुमई किताब ब नकल ऑ अज हिन्दुस्तान ब फारस अँ बूद'' (पृष्ठ–1)
24. 'तहकीके हिन्द' में
25. संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश
26. दे., जैन महाराष्ट्री जैकोबी, भाग 34, पृष्ठ–262
27. अलालु बाब मुहम्मद ऑफी, जिल्द दोयम, पृष्ठ 246
28. दीबाया गुर्रउल कमाल खुसरू
29. 'खालिकबारी'
30. पन्द्रहवीं–सोलहवी शती
31. मसारूल उमराँव
32. 902 हिजरी (1496 ई.)
33. 'सहादुतुल हकीकत'
34. नौसर मखतूतात, पृ. 18
35. 1582 ई.
36. सत्रहवीं शताब्दी
37. सन् 1666 अक्तूबर
38. जयपुर रिकर्डस
39. 'हिन्दवी' में लिखी हुई कुरान की व्याख्या
40. तहफतुल हिन्द
41. 'फिकए हिन्दी' में
42. मीरजफर जटली, 1730 ई. के करीब
43. शाह अब्दलु कादिर देहलवी, तरजुमा कुरान पाक, 1792 ई.
44. यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि 'हिन्दुस्तानी' गिलक्राइस्ट का दिया गया कोई नया नाम नहीं था। यह 'हिन्दी' या 'हिन्दवी' के समानार्थक रूप में सत्रहवीं सती में ही प्रचलित था।
45. मस्विद, डब्ल्यू.वी. बेलीः 'विशाल भारत', 10940 भाग 25, पृष्ठ–28
46. प्राक्कथन, गिलक्राइस्ट डिक्सनरी
47. ''तोता कहानी'' (1804 ई.) की भूमिका में
48. दास्तान रानी केतकी, 1803 ई.
49. प्रेम सागर, (1803 ई.)
50. नासिकेतोपाख्यान, (1803 ई.) रामचरित
51. ब्रजभाषा का प्रभाव
52. दरियाये लताफत, पृ. 321ः उर्दू अनुवाद
53. उपरोक्त
54. उपरोक्त
55. उपरोक्त
56. इम्पीरियल रिकर्डस् होम.मि.जिल्द 4, पृ. 276–77
57. 11 अक्टूबर, 1924
58. इम्पीरियल रिकर्डस होमत्र मित्र जिल्द 4
59. उपरोक्त
60. एशियाटिक जर्नल, 1826 ई.

✦✦✦

*एम.ए. (हिन्दी)
बाबा साहेब भीम राव अम्बेडकर
बिहार विश्वविद्याल, मुजफ्फरपुर

शोध-११

समय सरगम : उम्र के सँझाते समय की संवेदना और समस्या

पुनीत कुमार राय*

कृष्णा सोबती समकालीन कथा साहित्य में एक सशक्त हस्ताक्षर है। 'बोल्डनेस' उनकी पहचान है। यह 'बोल्डनेस' कथ्य के धरातल पर जहाँ स्त्री के अन्तर्गत और स्त्री–पुरुष सम्बंधों के उन्मुक्त चित्रण के रूप में है, वहीं भाषा के स्तर पर खटकने वाली सीमा तक हिन्दी के साथ पंजाबी, उर्दू के बेतहाशा सम्मिश्रण के रूप में अपनी हर रचना में वे एक नयी जमीन और तेवर के साथ उपस्थिति होती है। मित्रों मरजानी, सूरजमुखी अंधेरे के, जिंदगीनामा, दिलोदानिश में उन्होंने पंजाबी जीवन–परिवेश के विभिन्न बिंदुओं स्थितियों का प्रामाणिक अंकन किया है। समय सरगम (सन् 2000) संवेदना और शैली दोनों दृष्टि से उनके अन्य उपन्यासों से अलग भी है और विशिष्ट भी। रचनात्मक परिपक्वता के साथ यहाँ एक खास तरह का संयम और संतुलन है। समय सरगम हमारे घर–परिवार–समाज में वृद्धों की स्थिति, उनकी सोच–संवेदना एवं समस्याओं पर केन्द्रित है। सामाजिक यथार्थ एक ऐसा रूप जो प्रायः रचनाकारों द्वारा अनदेखा ही रहता है। दिनोंदिन कमजोर होती काया के साथ उपेक्षा और अकेलापन को जीते हुए, तन–मन की ऊहापोह से झुँझलाते, कभी शांत, कभी रोग–बीमारी और चिंताओं से परेशान, तमाम तरह के परहेजों–नुस्खों से बँधी जिंदगी, अपने आज और कल को लेकर आशंका और आकांक्षा से भरी मनःस्थिति–वृद्धों के राग–विराग, लगाव–तनाव, सुख–दुख, सक्रियता–उदासीनता–उनके मन और जीवन के विभिन्न स्तरों की यहाँ पूरी सच्चाई और ऊष्मा के साथ चित्रण किया गया है। न कहीं बनावट है, न अतिरेक, सब कुछ सहज है, स्वाभाविक है और प्रामाणिक है।

महानगर में रहने वाले, उच्च मध्यवर्गीय दो वृद्ध आरण्या और ईशान इस उपन्यास के केन्द्रीय पात्र हैं। दोनों अकेले हैं और एक ही अपार्टमेंट में अगल–बगल के फ्लैट में रहते हैं। आरण्या लेखिका है, अविवाहित है। ईशान अवकाश प्राप्त अधिकारी हैं, विधुर हैं। दोनों अपने ढंग से अपनी–अपनी जिंदगी जी रहे हैं। क्रमशः दोनों में नजदीकियाँ बढ़ने लगती है और वे एक दूसरे के अकेलेपन को एक निश्छल और निःस्वार्थ साहचर्य से भरने लगते हैं। कभी साथ–साथ सैर, कभी चाय, कभी लंच, कभी डिनर, और जब–जब किसी बात को लेकर चर्चा, औपचारिकता कब आत्मीयता में बदल जाती है, पता ही नहीं चलता। वे एक दूसरे के सगे–सम्बंधी, नहीं, फिर भी दोनों में एक दूसरे को लेकर प्रतिबद्धता है, कृतज्ञता का भाव है। राग और विश्वास की नई परिभाषा गढ़ता हुआ एक अनाम अपनापन। आरण्या का फ्लैट बिक चुका है नए मकान की तलाश में वह परेशान है, ईशान उससे बिना किसी शर्त अपने फ्लैट में रहने का प्रस्ताव रखते हैं जिसे आरण्या स्वीकार कर लेती है। इस रिश्ते में एक दूसरे के लिए 'स्पेस' है कोई अपने को किसी पर नहीं थोपता। यद्यपि दोनों की सोच, दिनचर्या, आदतें, जीवनशैली अलग–अलग है, फिर भी दोनों के बीच कहीं कोई विवाद नहीं है। आरण्या के अंदर जीवन के प्रति एक चाह है, वह अल्हड़ है। जबकि ईशान आध्यात्मिक प्रवृत्ति के हैं, व्यवस्थित हैं, गंभीर हैं। परिपक्व समझ और सदाशयता के कारण तमाम विभिन्नताओं के बावजूद वे एक दूसरे को उसके समूचे अस्तित्व और व्यक्तित्व के साथ स्वीकार करते हैं। वैश्वीकरण के इस दौर में दुनिया के निरंतर सिमटने से जहाँ विभिन्न समुदाय, समाज और संस्कृति के लोग एक दूसरे के करीब आए हैं, वहीं अस्तित्व–अस्मिता को लेकर टकराहट भी बढ़ी है। आने वाले समय में तमाम विभिन्नताओं के साथ रागात्मक सहसम्बन्धों पर आधारित समाज की रचना कैसे संभव हो, आरण्या और ईशान का सम्बंध इस ओर संकेत करता है।

आरण्या और ईशान वृद्ध हैं और वृद्धावस्थाजन्य तमाम तकलीफों और बंदिशों को झेल रहे हैं। जब–तब बीते दिनों की स्मृतियाँ उमड़–घुमड़ कर मन को बेचैन करती हैं। अपने हमउम्रों को एक–एक कर गुजरते देखकर मन मृत्यु भय से भर उठता है। चाहे कितनी पकी उम्र हो, व्यक्ति कितना भी अकेले रहने का आदी हो चुका हो, पर एक अपनेपन की, स्नेह और दुलार की चाह और जरूरत हमेशा रहती है–'अकेले, अकेलों की अपनी जीवनशैली है। करते रहते हैं स्वनिर्माण और आराम। परिवार का कोलाहल, शोर तनाव, ऊँच–नीच और तनातनी आसपास नहीं। फिर भी पुरानी छाँह से पितृ पाँव, मातृ हाथ, भ्रातृ और भगिनी भाव का गहरा आस्वादन जब कभी भी मिलता हो। उमड़ आता है स्नेह माँ की ममता के लिए और पिता के संयम में पगे प्यार के लिए।' फिर भी उनके जीवन में कोई लाचारगी नहीं, व्यर्थताबोध नहीं है, बुढ़ापा–जीवन के इस रूप को उन्होंने सहज रूप से स्वीकारा है 'न दैन्यं न पलायनम्' भाव के साथ। हड्डियाँ कमजोर जरूर हो गई है, पर हर दिन को आशीर्वाद मानते हुए जीवन और आने वाले कल के प्रति एक चाह जरूर है, 'हम अपने–अपने समय को जी चुके हैं, व्यतीत कर चुके हैं। जितना कुछ बाकी है, उस थोड़े से को भी क्यों न मन से जी लें।' छोटी–छोटी खुशियों को सहेज कर, छोटे–मोटे कामों में स्वयं को लगाकर, दोनों अपने अकेलेपन को भरते हैं और अवसादग्रस्त होने से बचते हैं। यही नहीं दोनों अपने ढंग से

इस धरती और दुनिया को सुंदर–सुखकर बनाने के लिए सक्रिय भी हैं। ईशान ने अनाथालय से दो बच्चियों के भरण–पोषण का दायित्व ले रखा है, उनकी खुशियों के लिए आरण्या भी ईशान का हाथ बँटाती है। वे सामाजिक संस्थाओं को दान देते हैं। दोनों में अपने हमउम्रों के प्रति सहयोग एवं शुभेच्छा है। वे 'किशोर, कामिनी, दमयंती का दुख–दर्द बाँटते हैं, उन्हें दिलासा देते हैं। आरण्या और ईशान का जीवन उन लोगों के लिए एक सबक है जो वृद्ध और अकेले हैं, कि बुढ़ापा, संझाते समय में जीवन को कैसे ग्रहण किया जाए?

आरण्या और ईशान परिवार में नहीं रहते। वे स्वतंत्र हैं। न कोई दबाव, न आग्रह। अकेलापन जरूर है, पर घुटन नहीं। किसी प्रकार के तनातनी–तनाव की जगह शांति और संतुष्टि का भाव। पर जो वृद्ध परिवार के साथ, अपनों के बीच रह रहे हैं, उनकी क्या स्थिति है? बहू–बेटों से मिली उपेक्षा–अपमान। न स्नेह, न सेवा। घर–परिवार में रहते हुए भी अलग–थलग स्थिति, अपनों से मिली बेरूची बुढ़ापा को और भी कष्टकर बना देती है। उम्र के असर को तो जैसे–तैसे बर्दाश्त किया जा सकता है, पर अपनों से मिली पीड़ा सही नहीं जाती। जिस घर–परिवार को उन्होंने अपनी मेहनत से बनाया–संवारा, उसी में वे फालतू होकर रह जाते हैं, खटकने लगते हैं। बेटा–बहू अपनी दुनिया में मस्त हैं, उन्हें न फुर्सत है, न फिक्र। हाँ इस फिराक में जरूर रहते हैं कि उनके पास जो कुछ रुपया–पैसा है, उसे कैसे हथियाया जाए। कामिनी, प्रभुदयाल, दमयंती की क्या हालत और हश्र है? कामिनी के घर, बैंक–बैलेंस पर उसके भाई की नजर है। उसे धीरे–धीरे सुनियोजित ढंग से मृत्यु की ओर ढकेला जा रहा है। दमयंती अपने ही बहू–बेटों द्वारा प्रताड़ित है, उन्हें ममा के लॉकर के चाभी की चिंता तो है, पर ममा के स्वास्थ्य और जरूरतों की नहीं। वह घर की स्वामिनी है, पर घर की चीजों पर उसका कोई हक नहीं है। वह अपने मेहमानों को ड्रॉइंग रूप में नहीं बैठा सकती। आरण्या और ईशान की दिलासा पाकर जब उसके तेवर सख्त होते हैं, तो अपनों द्वारा ही उसकी हत्या कर दी जाती है। प्रभुदयाल ने अपने बेटों के व्यवसाय को जमाया, पर बेटों को उनकी कोई फिक्र नहीं है। परिवार के साथ रहते हुए भी वे अकेलेपन से ग्रस्त है। इससे निजात पाने के लिए उन्होंने दूसरी औरत रख रखा है। यह बात उनके बेटों को अखरती है और उनकी हत्या करा दी जाती है। हमारा समाज भी बुजुर्गों के प्रति कितना संवेदनशील है? कामिनी की नौकरानी कामिनी के मकान के ऊपर वाले कमरे को पाने की फिराक में है। आरण्या को एक जगह मकान सिर्फ इस नाते नहीं मिलता कि वह बूढ़ी और अकेली है, उसकी मृत्यु होने पर क्रिया–करम की जिम्मेदारी कौन लेगा? इस प्रकार दिनों–दिन मूल्यहीन–संवेदनाशून्य होते जाते समाज का वीभत्स चेहरा भी इस उपन्यास में उजागर होता है। परिवार बिखर चुका है, आत्मीयता–सौहार्द्र–सहयोग लुप्त हो रहा है। सर्वत्र उपयोगितावादी दृष्टि हावी होती जा रही है, स्वार्थ पसरता जा रहा है। कैसे भी, कितना कुछ पा लेने की हसरत ने मनुष्य को निष्ठुर बना दिया है।

समय–सरगम में कृष्णा सोबती ने शुद्ध–साहित्यिक हिन्दी का प्रयोग किया है, उनके अन्य उपन्यासों की तरह यहाँ न तो पंजाबी की बहुलता है और न ही उर्दू की। मन के विभिन्न तहों, भावों–चिंता, आशंका, स्मृति, आकांक्षा, उल्लास, झुँझलाहट, उकताहट आदि को व्यक्त करने में वे सफल रही हैं। संवेदना और चिंतन, स्थूल और सूक्ष्म का यहाँ कुशल सम्मिश्रण है। भाषा सर्वत्र चिन्तनोन्मुख है। अस्पष्टता और दुरुहता से बचते हुए, जीवन–मृत्यु, धर्म–आध्यात्म, आत्मा–परमात्मा पर चिंतन है। सघन अर्थों को व्यक्त करते छोटे–छोटे सुगठित वाक्य। तरलता और गांभीर्य से युक्त। काव्यात्मक भाषा का स्वाद पैदा करते हैं। 'सन्नाटे के शोर को अपने में खोजो। वही तुम्हारा निज का आख्यान हैं, 'अपने प्रति चैतन्य होना ही पुनर्रचना है।' जैसे सूक्तिपरक वाक्य बिखरे पड़े हैं। जितना बाहर घटित हो रहा हे, उससे ज्यादा अन्तर्मन में चल रहे को व्यक्त किया गया है। कहीं सोच है, कहीं स्मृति, कहीं स्वप्न, कहीं आभास। कृति विस्तृत नहीं संक्षिप्त और सारगर्भित है। कथा विन्यास में कसावट भी है और प्रवाह भी। हाँ रचना का फलक विस्तृत करने के फेर में महात्मा सदानंद महाराज का प्रसंग कथा के प्रवाह को बाधित ही नहीं करता, अनावश्यक भी प्रतीत होता है।

बुजुर्गों के जीवन और उनकी समस्याओं–जरूरतों के चित्रण के साथ ही यहाँ पर्यावरण प्रदूषण, तीव्र नगरीकरणजन्य समस्याएं, कानून–व्यवस्था की स्थिति, राजनीतिक अंतर्विरोधों की ओर भी संकेत है। यह उपन्यास जीवन की रागधर्मी चेतना, धरती और मनुष्य को बचाने की शुभेच्छा से जुड़ा हुआ है। यह एक आशावादी कृति है। रामचन्द्र तिवारी ने 'जीवन को जीने, पहचानने और स्वीकारने की कहानी' के रूप में इस उपन्यास को बिल्कुल सही पहचाना है।

✦✦✦

*शोध–छात्र
हिन्दी विभाग,
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ,
वाराणसी

शोध-१२

पूर्व मध्यकालीन कृषकों की आर्थिक दशा

दिनेश कुमार सिंह*

650 ई० का भारत कई तरह के परिवर्तनों का साक्षी रहा है। आर्थिक क्षेत्र में जिस तरह का विकास लक्षित हुआ वह फलते–फूलते व्यापार और समृद्ध कृषि के समन्वित योगदान का ही परिणाम था। भारतीय कृषि विद्या को प्रस्तुत करने वाला सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्त्रोत कृषि पराशर है। ग्रह नक्षत्रों का प्रभाव कृषि पर किस तरह पड़ता है और विविध प्रकार के अन्नों को बोने का कौन सा उपुयुक्त समय है, इसका विवेचन करने में कृषि पराशर कृति का वैज्ञानिक दृष्टिकोण दिखता है। बीज, खाद का प्रबन्धन करने में किसानों की कैसी तत्परता दिखानी चाहिए, इसका यथास्थानवर्णन किया है। सिंचाई के साधनों का भी विस्तृत वर्णन किया है। कुल मिलाकर कृषि पराशर में भारतीय कृषि को उत्पादकता से जोड़ने और उसके चौमुखी विकास के लिए निरन्तर जागरुक बने रहने का आह्वान किया गया था।

सातवीं शताब्दी के प्रथम दशक का महान लेखक वाणभट्ट अपने कृतियों में भारतीय कृषि पर अच्छा प्रकाश डाला है। वाणभट्ट ने इस तथ्य का खुलासा किया है कि जब राजा की सेना अभियान पर निकलते समय किसानों के लहलहाते खेतों को रौंद डालती थी, तो उसका कोई हरजाना नहीं दिया जाता था। कृषि कार्य के लिए वनभूमि की व्यापक दोहन की प्रवृत्ति इस काल में तेजी से पनप रही थी। पूर्व मध्यकाल में कृषि सही अर्थ में सामंती तत्वों से बोझिल थी। राज्य और उसके अनुगामी सामंत कृषि योग्य भूमि के स्वामी थे। प्रच्छन्न रूप से यही वर्ग कृषि उत्पादन के अधिकांश भाग का अधिकारी बन बैठा था। कृषक भूमि के स्वामी नहीं अपितु खेती का काम करने वाले श्रमिक मात्र थे। उन्हें उत्पादन का बहुत थोड़ा भाग मिलता था जबकि श्रम के अनुपात में यह कुछ भी नहीं होता था। पूर्व मध्यकाल में दासों को राज्यादेश द्वारा पूर्णतः खेतिहर मजदूर का दर्जा देने के प्रयास में तेजी आ रही थी। एक छोटा सा किसान अपने खेतों में मजदूर रखने के स्थिति में नहीं होता था। यह तथ्य भी पूर्णतया स्पष्ट है कि दासों को खेतिहर मजदूर के रूप में तैनात करते रहने की प्रवृत्ति इस काल में पूर्व काल की अपेक्षा कही ज्यादा उग्र दिखायी दे रही थी। जहाँ कहीं भूमि को अनुदानित करने संबंधी कोई राज्यादेश निकलता था तो दास स्वतः अपनी सेवा नये मालिक को देते रहने के लिए बाध्य किये जाते थे।

अभिलेखों एवं साहित्यिक उल्लेखों के आधार पर हमारी यह धारणा बनती है कि कर्षक की हैसियत आर्थिक सम्पन्नता के आधार पर एक ओर तो भूस्वामी की होती थी तो दूसरी ओर वह सीधे सादे किसान की भूमिका में रहता था। कृषक राज्य के करदायी थे। क्षेत्रप किसान के पूर्ण गृहस्थ के स्वरूप को प्रतिबिम्बित करता था। कर्षक भूमिहीन किसान था। एक सामान्य कर्षक के लिए आमतौर पर किसान शब्द ही व्यवहृत हो रहा था। कुटुम्बिक की कुछ दूसरी ही बात थी। वह गाड़ी पर सवार होकर, कर्ज की वसूली करता था। इससे यह ध्वनि होती है कि बड़े–बड़े किसान महाजनी का कार्य भी करते थे। छोटे–छोटे किसान अभावों से जूझते रहते थे। वे कर्ज की दलदल में इस सीमा तक धंस जाते थे कि उनकी भूमि पर महाजनों का अधिकार हो जाता था।

पूर्व मध्यकाल में सामंतीकरण की प्रवृत्ति में तेजी आनेसे कृषकों की सामाजिक हैसियत बद से बदतर होती जा रही थी। उनकी जमीन पर कितनी अवधि के लिए खेती करने दी जायेगी, इसका कोई ठिकाना नहीं था। बेगार तो उनके लिए त्रासदी से कम नहीं थी। कृषि दासता की यह लहर पिछड़े क्षेत्रों में तेजी से फैल रही थी। क्योंकि वहाँ भूमि को जोत–बोकर उत्पादन लेने वाले किसानों एवं भूपतियों के बीच कई तरह के बिचौलिये आने लगे थे। आठवीं सदी की भूव्यवस्था इन्हीं परिवर्तनों की दौर से गुजर रही थी। उनके ऊपर तरह–तरह के गैर पारम्परिक कर थोपे जा रहे थे। ये सभी परिस्थितियाँ कृषि दासता के उत्तरदायी कही जा सकती हैं।

पूर्व मध्यकाल में भारत की उपजाऊ भूमि में तरह–तरह के अनाज, फल और सब्जियों का उत्पादन हो रहा था। धान, ईख और कपास उगाने वाले किसान कृषि संपोषित अर्थव्यवस्था को एक नयी पहचान दे रहे थे। ये सभी स्वदेशी उत्पाद थे। चीनी, शर्करा के नाम से जानी जाती थी। तेल बीजों के उत्पादन में भी भारत के किसान अग्रणी थे।

खेत बोने का अर्थ किसानों के काम का पटाक्षेप नहीं था। बीज बोये गये खेत का रखवाली का महत्व भी कम नहीं था। भारत की कृषि सम्पदा विपत्तियों से कभी अछूती नहीं रही। कभी हिमपात तो कभी अतिवृष्टि या अनावृष्टि से कृषि जगत को भारी झटका लगता था। पक्षियों, चूहों और टिड्डियों का उपद्रव भी कृषि विनाश को आमंत्रित करता रहता था। वाह्य आक्रमण के समय भी लहलहाते खेत मिट्टी में मिल जाते थे। राजतरंगिणि के अनुसार कश्मीर प्रदेश की खेती कभी बाढ़ तो कभी भारी हिमपात से दुस्प्रभावित रहती थी।

प्राकृतिक आपदा का क्रम यही तक नहीं था। सुखे और टिड्डियों के उत्पात से कृषि विनाश का चक्र चलता ही रहता था। मिट्टी की रंग और उसकी स्वाद और उसकी उत्पादकता से भूमि का वर्गीकरण किया जाता था। टीकाओं व शब्दकोशों में इस व्यवस्था का स्पष्ट संकेत कर दिया गया है कि भूमि की उत्पादकता का विचार करने के बाद ही उसमें फसल बोयी जा सकती थी। पूर्व मध्यकाल में भारतीय कृषि में नियमित उर्वरकों का प्रयोग शुरु हो गया था। सामंती प्रकृति की शासन व्यवस्था में ब्राह्मणों के पास भारी मात्रा में कृषि भूमि के खिसकने की सूचना तो मिलती ही है। इसके

साथ साथ ही अतिरिक्त सेना के प्रधानों एवं सम्पन्न वाणिज्य वर्ग के पास भी उपजाऊ भूमि का स्वामित्व आ गया था। उर्वरक के रूप में गाय का गोबर सुलभ होने के साथ–साथ लगातार लोकप्रिय होता जा रहा था।

अभिलेखों से ज्ञात होता है कि सिंचाई के लिए कुएँ, तालाब, जलाशय एवं छोटे–छोटे बांधों के नवनिर्माण के प्रसंग बहुत अधिक हैं। इस काल के साहित्य इस बात के पोषक है कि भूमि की उर्वरता में सिंचाई के कृत्रिम साधनों की भागीदारी उन क्षेत्रों के लिए महत्वपूर्ण हो गयी थी जहाँ प्राकृतिक स्त्रोतों का क्रम एक जैसा नहीं बना रहता था। राजतरंगिणि में कल्हण ने यह बताया है कि कश्मीर की उर्वर भूमि वितस्ता की भयंकर बाढ़ से नष्ट हो गयी थी। राजा ललितादित्य ने नदियों की जल को पनचक्कियों के सहारे अनेक गाँवों में पहुँचाने का सराहनीय काम किया था। इससे उनका बेग कम हो गया था। इससे अनाज का उत्पादन भी बढ़ गया। राजा अवन्तिवर्मन के शासन काल में अकाल की कोख से उपजी गरीबी पूरी तरह मिटा दिया गया था। इसके सुयोग्य मंत्री सुय्य ने सिंचाई को प्राथमिकता देने के उद्देश्य से अनेक बाँधों एवं नहरों का निर्माण कराया। राज्य की समृद्धि पुनः लौट आई थी।

पूर्व मध्य युग के कृषकों के आर्थिक जीवन में कृषि के साथ–साथ विविध प्रकार का शिल्प व उद्योग का महत्व भी था। प्राचीन काल के समान इस युग के व्यवसायों में वस्त्र उद्योग का प्रमुख स्थान था। महाकवि बाणभट्ट ने छह प्रकार के वस्त्रों का वर्णन किया है। इसमें क्षौम, बादर (सूती वस्त्र) दुकूल, अंशुक, नेत्र और लालतकुन्ज है। परसन व पटसन आदि के रेशे से बुनकर जो कपड़ा तैयार किया जाता था, सम्भवतः क्षौम उसी को कहते थे। कपड़े निर्माण के अपने–अपने केन्द्र थे। वस्त्र व्यवसाय के साथ–साथ धातु उद्योग भी पूर्व मध्यकाल में अच्छी दशा में थी। सुनारों व जौहरियों का शिल्प भी इस काल में बहुत उन्नत अवस्था में था।

शिल्प की उन्नति के कारण प्राचीन भारत में ऐसे नगरों का विकास हो गया जो व्यापार के महत्वपूर्ण केन्द्र थे। इस समय कृषक वर्ग कृषि के अधिशेष का व्यापार आन्तरिक क्षेत्र में करते थे ।

उपसंहार– विश्वस्तर पर भारत कृषि और कृषकों का देश कहा जाता है। कृषि मनुष्य को स्थायी जीविका प्रदान करती है। कम से कम भारत जैसे देश में इसकी यह भूमिका रही है। पूर्व मध्य–काल में शासन के उपर सामंतो का प्रभाव छाने लगा था। ये केन्द्र को सैनिक सहायता देने के एवज में कृषि योग्य विशाल भूखण्डों पर अधिकार जमा बैठे थे। इसका अनुमोदन शासन द्वारा भी कर दिया जाता था। सामंतों के प्रच्छन्न अधिकार में आने वाली भूमि पर अनेक मजदूर खेती का काम करते थे । गाँव के किसान दानग्राही को तरह–तरह का कर चुकाते थे। भूमिहीन कृषकों की स्थिति ले–देकर बहुत अच्छी नहीं रही है। अपनी जमीन के न होने के स्थिति में ये भूपतियों के यहाँ खेती का काम करते थे। एक तरह से ये उन्हीं के कृपा पर आश्रित थे।

प्राचीन काल से ही शासन का इतना भय था कि अपने हितों की लगातार उपेक्षा होते रहने की स्थिति में किसान अपना निजी संगठन नहीं बना सकते थे। शताब्दियों से चल रही कृषि सम्पोषित अर्थव्यवस्था में इस काल के किसान भी नंग–धड़ंग ही बना रहा। उसके पास रहने का घर नहीं था और न ही जीवन को आनंद के साथ जीने के दूसरे साधन ही थे। जब शोषण अपनी सीमाओं को पार करने लगता तो देश के एक खास क्षेत्र में शासन के खिलाफ किसानों का विद्रोह उग्र होता दिखायी दिया। कश्मीर के किसान अपने नेता के नेतृत्व में विद्रोह पर उतारू हुए। कश्मीरी किसान का विद्रोह तो राजनीति की धारा को बदलने में सफल हो गया।

संदर्भ ग्रन्थ –

1. सुशीला मालती देवी, इकनामिक कंडीशन आफ एंश्येन्ट इण्डिया पृ0 354।
2. ओमप्रकाश– प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास,पृ0 128।
3. इ0 आई0 नं0 –1, पृ0 293।
4. रामशरण शर्मा– सामंतवाद, पृ0 57, 58।
5. राजतरंगिणि V,VIII 3304
6. मेघातिथि, पृ0 36–40
7. आर० के० चौधरी, फ्यूडलिज्म, जे० आई० एच० 1959 नं० 14
8. रामशरण शर्मा, इण्डियन फ्यूडलिज्म पृ0 41,42
9. अर्ली इण्डियन इकोनामिक्स, पृ0 40
10. राजतरंगिणि IV 191, V 69
11. सत्यकेतु विद्यालंकर– भारतीय इतिहास का पूर्व–मध्ययुग पृ० 340, 343
1. सुशीला मालती देवी, इकनामिक कंडीशन आफ एंश्येन्ट इण्डिया पृ0 354।
2. ओमप्रकाश– प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास,पृ0 128।
3. इ0 आई0 नं0 –1, पृ0 293।
4. रामशरण शर्मा– सामंतवाद, पृ0 57,58।
5. राजतरंगिणि V,VIII 3304।
6. मेघातिथि, पृ0 36–40।
7. आर0 के0 चौधरी, फ्यूडलिज्म, जे० आई० एच० 1959 नं० 14।
8. रामशरण शर्मा, इण्डियन फ्यूडलिज्म पृ0 41,42।
9. अर्ली इण्डियन इकोनामिक्स, पृ0 40।
10. राजतरंगिणि IV 191, V 69A
11. सत्यकेतु विद्यालंकार, भारतीय इतिहास का पूर्व–मध्ययुग पं0 340,343

✦✦✦

*शोध–छात्र
इतिहास विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी

शोध-१३

वेदान्त-दर्शन में मोक्ष

डॉ0 वसन्तानन्द*

आनन्दात्मक ब्रह्मप्राप्ति ही मोक्ष है क्योंकि ब्रह्म को जान लेने पर ब्रह्म ही होता है। ''ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति शोकनिवृत्ति ही मोक्ष है। 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि श्रुतियॉ इसमें प्रमाण है। लोकान्तर प्राप्ति का नाम मोक्ष नहीं है। लोकान्तर गमन अथवा वहां के विषयानुभव से मिलनेवाला आनन्द मोक्ष नहीं है। प्राप्त आनन्द की ही प्राप्ति और परिहृत अनर्थ की ही निवृत्तिरूप मोक्ष ही वेदान्त-दर्शन का प्रयोजन है। अद्वैत-वेदान्त में मुक्ति के तीन स्वरूप बतलाये गये हैं। प्रथम जीवन्मुक्ति, द्वितीय विदेहमुक्ति तथा तृतीय क्रममुक्ति।

मोक्ष का स्वरूप निरतिशय सुखात्मक ब्रह्मप्राप्ति कहा गया है। अनारब्ध कार्यों से इतर आरब्ध कार्य वाले प्रारब्ध कर्मरूप पुण्य और पाप को भोग से ही नष्ट करके आत्मज्ञानी ब्रह्म में लीन होता है, जैसे नदियां समुद्र में लीन होती हैं। अनारब्ध कार्यवाले पुण्य और पाप ब्रह्मविद्या के द्वारा नष्ट हो जाते है। आरब्ध कार्यवाले पुण्य और पाप को तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त, स्थितप्रज्ञ अवस्था में रहते हुए शुभाशुभ कर्मों का क्षय करके ज्ञानी ब्रह्मस्वरूप होता है। ब्रह्मस्वरूप होने में उतना ही विलम्ब कहा गया जब तक देहपात न हो। देहपात होते ही ब्रह्मज्ञानी कैवल्यस्वरूप विदेहमुक्ति को प्राप्त करता है। एकादश इन्द्रियां पंच सूक्ष्मभूत ये षोड़शकलाएं परब्रह्म में लीन हो जाती हैं।

शास्त्र में वर्णित विशेषणवाले ब्रह्मलोक में जो उपासक जाते हैं, वह उस लोक को प्राप्त करके भुक्तभोग वाले जैसे चन्द्रलोक से लौटते हैं, वैसे वह लोग उस ब्रह्मलोक से नहीं लौटते हैं, ब्रह्मलोक में अर और राय नामक दो समुद्रतुल्य तालाब हैं।

''ऐरम् अन्नमय मदीय-मदकारक हर्षोत्पादक रस है। जहां सोमसवन-अमृत की वृष्टि करने वाला अश्वत्थ है। ब्रह्मनाड़ी से ऊपर जाने वाला उस अमृतत्त्व को प्राप्त करता है। उनकी फिर संसार में आवृत्ति नहीं होती।

'नाडीरश्मिसमन्वितेनार्चिरापवर्णणा देवयानेन पथा ये ब्रह्मलोकं शास्त्रोक्तं विशेषणं गच्छन्ति।

जीवन्मुक्ति-जो सर्वत्र स्नेहरहित होकर साक्षी के समान अवस्थित रहता है, तथा बिना किसी इच्छा के कर्त्तव्य में लगा रहता है। जिसने धर्म और अधर्म को जगत् के चिन्तन को तथा सारी इच्छाओं का अन्तःकरण से परित्याग कर दिया है। यह सारा दृश्य-प्रपंच, जो देखने में आता है इसको जिसने भलीभॉति त्याग दिया है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जीवन-मृत्यु, बुढापा, विपत्ति तथा राज्य सबको रम्य मानकर जो उपभोग करता है। जो समत्वपूर्ण तथा स्वच्छ बुद्धि से, उद्वेग और आनन्द से रहित होकर न शोक करता है न उत्साहित होता है। सारी भौतिक इच्छाओं का जिसने परित्याग किया हो अर्थात् सब के प्रति समान दृष्टि रखता हो उसे जीवन्मुक्त कहते हैं।

जन्म स्थिति और विनाश में, उन्नति तथा अवनति में सदा जिसका मन एक समान रहता है। जो न किसी से द्वेष करता है और न किसी की आकांक्षा करता है, जो प्रारब्धप्राप्त भोगों का उपभोग करता है। जो कलावान होकर भी निष्कल रहता है, चित्त होते हुए भी निश्चित रहता है। जो सम्पूर्ण अर्थ-जाल के मध्य व्यवहार करता हुआ उनसे उसी प्रकार निःस्पृह रहता है जैसे पराये धन के विषय में मनुष्य निःस्पृह रहता है तथा जो आत्मा में ही पूर्णता का अनुभव करता है वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

ब्रह्मानन्दरसास्वादासक्तचित्ततया यतेः।
अन्तर्बहिरविज्ञानं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम्।।
देहेन्द्रियादौ कर्तव्ये ममाहं भाववर्जितः। औदासीन्येन यस्तिष्ठेत्स जीवन्मुक्त लक्षणः।।

ब्रह्मानन्दरसास्वाद में चित्त की आसक्ति रहने के कारण बाह्य और आन्तरिक वस्तुओं का कोई ज्ञान न होना जीवन्मुक्त यति का लक्षण है। देह तथा इन्द्रिय आदि में और कर्त्तव्य में जो ममता और अहंकार से रहित होकर उदासीनतापूर्वक रहता है, वह पुरुष जीवन्मुक्त के लक्षण से युक्त है।

विदेह-मुक्ति-शरीर के काल-कवलित होने पर वह जीवन्मुक्त अवस्था को छोड़कर गतिहीन पवन के समान विदेहमुक्त अवस्था को प्राप्त होता है। विदेहमुक्त अवस्था में जीव की न उन्नति होती है न अवनति और न उसका लय ही होता है। वह न सत् है न असत् है और न दूरस्थ है। उसमें न अहंभाव है और न परायाभाव है। विदेहमुक्ति गम्भीर, स्तब्ध अवस्था होती है, उसमें न तेज व्याप्त होता है न अन्धकार। उसमें अनिर्वचनीय, और अभिव्यक्त न होनेवाला एक प्रकार सत् अवशिष्ट रहता है। वह न शून्य होता है न आकारयुक्त होता है, न दृश्य होता है और न दर्शन होता है। उसमें ये भूत और पदार्थों के समूह नहीं होते केवल सत् अनन्तरूप में अवस्थित होता है। वह ऐसा अद्‌भुत तत्त्व होता है कि जिसके स्वरूप का निर्देश नहीं किया जा सकता। उसकी आकृति पूर्ण से भी पूर्णतर होती है। वह न भाव होता है न भावना, वह चेतनमात्र होता है परन्तु चित्तविहीन होता है, अनन्त होता है। अजर होता है परन्तु शिवस्वरूप कल्याणकारी होता है। उसका आदि, मध्य और अन्त नहीं होता। वह अनादि तथा दोषहीन होता है। अनन्त जलराशि समुद्र में पड़कर गले हुए वर्षाकालिक ओलों की अवस्था को प्राप्त हुआ मेरा मन जिस आनन्दामृत समुद्र के एक अंश के भी अंश में लीन होकर अब अति आनन्दरूप से स्थित हो गया है, उस आत्मानन्दरूप अमृतप्रवाह से परिपूर्ण परब्रह्मसमुद्र का वैभव वाणी से नहीं कहा जा सकता और मनन नहीं किया जा सकता।

क्व गतं केन वा नीतं कुत्र लीनामिदं जगत्।
अधुनैव मया दृष्टं नास्ति किं महदद्‌भुतम।।
किं हेयं किमुपादेयं किन्यत्किं विलक्षणम्।
अखण्डानन्दपीयूषपूर्णे ब्रह्ममहार्णवे।।

वह संसार कहाँ चला गया?उसे कौन ले गया?यह कहॉ लीन हो गया?अहो! बड़ा आश्चर्य है जिस संसार को मैं अभी देख रहा था वह कही दिखायी नहीं देता। इस अखण्ड आनन्दामृतपूर्ण ब्रह्मसमुद्र में कौन वस्तु त्याज्य है तथा कौन

ग्राह्य यहाँ केवल विलक्षण सर्वत्र परिपूर्ण ब्रह्म ही ब्रह्म है।

उपनिषदों में मोक्षसाधन–विमर्श

'वेदान्तो नाम उपनिषद् प्रमाणम्' उपनिषद् अध्यात्मविद्या अथवा ब्रह्मविद्या को कहते हैं। षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु' धातु के पहले उप और नि ये दो उपसर्ग और अन्त में क्विप् प्रत्यय लगाने से उपनिषद् शब्द बनता है। 'उपनिषद्यते–प्राप्यते ब्रह्मात्मभावोनया इति उपनिषद्' जिससे ब्रह्म का साक्षात्कार किया जा सके, उसे उपनिषद् कहते हैं। अमरकोशकार उपनिषद् शब्द का अर्थ इस प्रकार करते हैं– धर्मे रहस्युपनिषद् स्यात्' अर्थात् उपनिषद् शब्द गूढ़ धर्म एवं रहस्य के अर्थों में प्रयुक्त होता है। वेद के अन्तिम भाग को भी वेदान्त कहते हैं। वेदान्त के ग्रन्थों में उपनिषद् प्रमाण ही स्वीकार किया जाता है।

उपनिषद् में अनेकों विद्याओं का उल्लेख प्राप्त होता है। ब्रह्मसूत्रकार ने प्रमुख मानी जानेवाली बत्तीस ब्रह्मविद्याओं की चर्चा की है और उनके सासरस्य का विवेचन किया है। उनके नाम इस प्रकार हैं–सद्विद्या, आनन्दविद्या, अन्तरादित्यविद्या, आकाशविद्या, प्राणविद्या, गायत्री– ज्योतिर्विद्या, इन्द्रप्राणविद्या, शाण्डिल्यविद्या, नाचिकेतसविद्या, उपकोसलविद्या, अन्तर्यामिविद्या, अक्षरविद्या, वैश्वानरविद्या, भूमाविद्या, गार्ग्यविद्या, प्रणवोपास्य परमपुरुषविद्या, दहरविद्या, अङ्गुष्ठप्रमितविद्या, देवोपास्यज्योतिर्विद्या, मधुविद्या, संवर्गविद्या, अजाशारीरकविद्या, बालाकीविद्या, मैत्रेयीविद्या, द्रुहिणरुद्रादिशरीरकविद्या, प०चाग्निविद्या, आदित्य. स्थाहन्नामकविद्या, अक्षिस्थाहन्नामकविद्या, पुरुषविद्या, ईशावास्यविद्या, उषस्तिकहोलविद्या, और व्याहृतिशरीरक. विद्या, ये बत्तीस विद्याएँ प्रमुख मानी जाती हैं। इन विद्याओं को हृदयंम कर लेने पर परब्रह्म के स्वरूप, गुण, विभव आदि के सम्बन्ध में सभी शंकाओं का समाधान हो जाता है। सगुण–निर्गुण, भेद–अभेद, द्वैत–अद्वैत, नित्यविभूति–लिलाविभूति की उलझने भी सुलझ जाती हैं।

तत्कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तये कर्म वह है जो बन्धन के लिये न हो और विद्या वही है जो बन्धन से मुक्त कर दें। ऋषियों नें इसी विद्या के प्रकाश में अनन्त सच्चिदानन्द परब्रह्म का साक्षात्कार किया और कराया तथा इस विद्या को ब्रह्मविद्या कहकर परमतत्त्व ब्रह्म के साथ रहनेवाले सम्बन्ध को भी स्पष्ट कर दिया।

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन'

का प्रतिपादन कर उपनिषद् से सामान्य जीवों को अल्पज्ञान से अनन्तज्ञान की ओर, अल्पसत्ता और सीमित सामर्थ्य से अनन्तसत्ता और अनन्तशक्ति की ओर, जगद्दुःखों से अनन्तानन्द की ओर और जन्म–मृत्यु–बन्धन से अनन्त की ओर का ज्ञान प्राप्त होता है। इस उपनिषद् विद्या को ग्रहण करने के लिए अधिकारी होना आवश्यक है, अनधिकारी को यह प्राप्त नहीं हो सकती, जिस प्रकार मलिन दर्पण में मुखप्रतिबिम्बित नहीं हो सकता उसी प्रकार अनधिकारी के वासनापूर्ण अन्तःकरण में ब्रह्मविद्या का उपदेशबीज अङ्कुरित नहीं होता अतः उपनिषद् में स्पष्ट रूप से अधिकारी ही योग्य माना गया है।

नापुत्राय दातव्य नाशिष्याय दातव्यम्।
सम्यक् परीक्ष्य दातव्यं मासं षाण्मासवत्सरम।।

जिस प्रकार गुरु के लिए शिष्य की परीक्षा का विधान है, उसी प्रकार शिष्य के लिये भी गुरु के लक्षणों का स्पष्ट निर्देश करते हुए उपनिषद् का उपदेश है–

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'

श्रोत्रिय वेदवेदार्थ के ज्ञाता और ब्रह्मनिष्ठ अपरोक्षज्ञानी तत्त्वदर्शी गुरु को प्रसन्न करके उनसे उपनिषद् का उपदेश श्रवण करने का विधान है। साधनचतुष्टयसम्पन्न जिज्ञासु श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के द्वारा उपनिषद् तत्त्व का उपदेश श्रवण कर तार्किक युक्तियोंद्वारा उस पर प्रगाढ़ मनन करते हुए गुरुपदिष्ट ध्यानादि के अभ्यास द्वारा निदिध्यासनपूर्वक 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि का निरन्तर विचार करते हुए उस पर निष्ठारूप होकर सम्यक् तत्त्वज्ञान विज्ञानस्वरूप परब्रह्मसत्ता में प्रवेश करके तद्रूप हो जाते हैं।

'यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।।

जिस अवस्था में परमात्मा को जानने वाले विद्वान् पुरुष के लिए सभी प्राणी परमात्मा रूप हो जाते है, उस अवस्था में एकमात्र सच्चिदानन्द परमात्मा का निरन्तर साक्षात्कार करने वाले योगी पुरुष के लिए कौन सा मोह अथवा शोक रह जाता है। यह ईशावास्योपनिषद्वाक्य एकत्व के साक्षात्काररूपी उपनिषद्विद्या से युक्त पुरुष के समूल शोकनाश को उद्घोषित करता है।

प्रपंचो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः।।

प्रपंच यदि होता तो निवृत्त हो जाता इसमें सन्देह नहीं किन्तु वास्तव में यह द्वैत तो मायामात्र है, परमार्थतः तो अद्वैत ही है। कल्याणकारी श्रुतियां उस उपनिषद्विद्या की परमार्थता को घोषित करती हैं। फिर यह उपनिषद्विद्या क्लेशों के पात्र सांसारिक प्राणियों को हठात् प्राप्त होनेवाले क्लेशों का उन्मूलन किस प्रकार करती है?इसका उत्तर श्वेताश्वेतर उपनिषद् में दिया गया है।

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः, क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणि।
तस्याभिध्यानात् तृतीयं देहभेदे, दिव्यैश्वर्यं केवल आप्तकामः।।

निरन्तर ध्यानपूर्वक उस परमात्मा को जानने पर सर्व बन्धन कट जाते हैं, क्लेशों के नष्ट होने पर जन्म–मरण नहीं होता। देहत्याग के पश्चात् तृतीय स्वर्ग लोक के ऐश्वर्यों के द्वारा पूर्णकाम हो जाता है। दुःखों के मूल का नाश हुए बिना दुःखों का आत्यन्तिक नाश नहीं बनता। यद्यपि कर्म–उपासना आदि धर्म अथवा भौतिक सुख समृद्धि आदि विषय तत्काल प्राप्त होनेवाली कुछ न कुछ दुःखों की निवृत्ति तो करते हैं, तथापि जिससे दुःख की पुनः उत्पत्ति न हो, इस प्रकार की समस्त दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति तो त्रिविध दुःखों की मूल की निवृत्ति हुए बिना संभव नही। जीव ब्रह्म से अभिन्न होते हुए भी अविद्या के कारण अपने यथार्थ अजन्मा, अविनाशी, शुद्धाबुद्धमुक्त सच्चिदानन्दमय आत्मस्वरूप को विस्मृत कर अपने को जन्म–मरणधर्मा, कर्ता, भोक्ता, सुखदुःखवान मान लेता है और मिथ्या जगत् में सत् बुद्धि करके स्वनिर्मित कर्मपाश में स्वयं बंधकर जन्म–मरण में फॅसा हुआ अनन्त दुःखों को भोगता है। जीव के सकल दुःखों के कारण इस अविद्या की निवृत्ति के लिए उपनिषदों में जीव–ब्रह्म की एकता के प्रतिपादन के साथ–साथ जगत् के मिथ्यात्व का उपदेश भी हुआ है–

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः''
सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तज्जलानिति शान्त उपासीत।

यह सारा जगत् निश्चय ब्रह्म ही है, यह उसी से उत्पन्न होने वाला, उसी में लीन होने वाला और उसी में चेष्टा करनेवाला है। पुरुष निश्चय ही क्रतुमय निश्चयात्मक है, इस लोक में पुरुष जैसे निश्चयवाला होता है वैसा ही यहां से मरकर जाने पर होता है। अतः उस पुरुष को निश्चय करना चाहिए। ब्रह्म सत्य है एवं जगत् मिथ्या है। जिस प्रकार मन्दान्धकार में रज्जु ही सर्परूप दिखलायी देती है, उसी प्रकार अविद्या में निर्गुण निराकार ब्रह्म–सत्ता ही सगुण साकार जगद्रूप दिखलायी देती है। वस्तु एक ही है जो रज्जु है, वही भ्रमावस्था में सर्परूप है। उसी प्रकार ज्ञानावस्था में जो ब्रह्म है वही भ्रमावस्था में जगद्रूप है। जगत् की सत्यप्रतीति और ब्रह्म की अप्रतीति तब तक होती रहती है, जब तक अविद्यान्धकार की निवृत्ति नहीं होती। विद्यारूपी प्रकाशद्वारा अधिष्ठान का निश्चय होते ही स्पष्ट हो जाता है कि सर्वाधिष्ठान ब्रह्मसत्ता ही पारमार्थिक सत्य है और रज्जु में अध्यस्त सर्प के समान ब्रह्म में अध्यस्त जगत् मिथ्या है। जैसे मृत्तिका ही घट–शरावादिरूपेण, सुवर्ण ही कटककुण्ड. लादिरूपेण, जलही तरंगादिरूपेण प्रतीत होते हैं वैसे ही ब्रह्म भी प्रपंचरूपेण प्रतीत होता है। आरम्भवाद, परिणामवाद भी तत्त्वनिश्चय के लिए किसी पक्ष में मान्य होते हैं परन्तु क्षपितकल्मष विद्वान् तो विवर्त ही समझता है। चित्तचांचाकल्य के कारण भी उसमें मिथ्या द्वैत–प्रतिभास होता है। वस्तुतः कार्यकारणातीत, नित्यनिरस्तनिखिल प्रपंविभ्रम, अज, अनिद्र, अस्वप्न, स्वप्रकाश, अपार, अनन्त, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म हीसब कुछ है। जैसे बिम्बप्रतिबिम्ब का भेद प्रतीत होते हुए भी वास्तव में वह भेद मिथ्या है। बिम्ब से अतिरिक्त प्रतिबिम्ब कोई वस्तु नही है। बिम्ब ही प्रतिबिम्बात्मना प्रतीत होता है, वैसे ही जीवात्मा–परमात्मा का भेद भी मिथ्या है। वस्तुतः परमात्मा ही उपाधि के द्वारा जीवात्मस्वरूप से प्रतीत होता है; इसी तरह अहंकारादि उपाधि के कारण ही आत्मा में मिथ्याकर्तृत्व उसी प्रकार प्रतीत होता है। अतः चित्त ही संसार है, अतएव प्रयत्नपूर्वक उसको शुद्ध करना चाहिए। जिसका जैसा चित्त होता है, वैसा ही वह बन जाता है। यह सनातन रहस्य है। चित्त के प्रशान्त हो जाने पर शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं, और प्रशान्त मनवाला पुरुष जब आत्मा में स्थितिलाभ करता है तब उसे अक्षय आनन्द की प्राप्ति होती है।

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत्, सच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत्सनातनम्। चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम्, प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमक्षयमश्नुते।।

परमशान्तिस्वरूप मोक्ष प्राप्ति हेतु यथार्थ ज्ञान का होना नितान्त आवश्यक है। इस प्रकार सद्गुरु से दृष्टान्तादि के द्वारा औपनिषद् ज्ञान भलीप्रकार श्रवणकर जिज्ञासु उस पर मनन करते हुए वैराग्यादि साधन–सम्पत्ति के सहयोग, जगत् के मिथ्यात्व की पुष्टि और निदिध्यासनादि अन्तरं साधनों के सहयोग से जीवब्रह्मैक्यनिष्ठा–सम्पादनद्वारा स्वात्मानुभूतिमय ज्ञानदीपक प्रदीप्त कर अनादि कालीन अविद्यान्धकार की निवृत्तिद्वारा निश्चय कर लेता है कि एकमात्र अद्वितीय स्वगत–सजातीय–विजातीय भेदशून्य त्रिकालाबाधित ब्रह्मसत्ता ही सत्य है। उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी पारमार्थिक सत्य नहीं है। इस प्रकार दृढ़ बोधवान ज्ञानी के लिए अन्य कुछ ज्ञातव्य एवं प्राप्तव्य शेष नही रह जाता। कृतकृत्य होकर वह नित्यबोधमय निजस्वरूप में प्रतिष्ठित हो सच्चिदानन्द का सर्वत्र अनुभव करता हुआ जीवन्मुक्ति का परमानन्द लाभ कर ब्रह्म की अद्वितीय चिन्मय सत्ता में प्रवेश कर जाता है। ऐसे ब्रह्मस्वरूप विज्ञानी के लिए उपनिषद् का निश्चय है कि–

'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति, ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।

जीव–ब्रह्मैक्य–ज्ञाननिष्ठा की यह चरम सीमा ही औपनिषद् ज्ञान की पराकाष्ठा है। इस प्रकार उपनिषद् स्पष्ट उपदेश देते हैं कि यदि जीव स्थायी सुख शान्ति की प्राप्ति करना चाहता है तो उसे आत्मानुभूति के लिये प्रयत्नशील होना पडेगा। अध्यात्म की ओर बढ़े बिना स्थायी सुख–शान्ति की प्राप्ति असम्भव है। इसलिए सर्वकल्याणकारी वेद जीव को कर्म, उपासना और ज्ञान के उपदेशद्वारा अध्यात्मपथ पर अग्रसर करते हैं।

अद्वैतवाद की प्रक्रिया के अनुसार जीव अविद्या की तीन शक्तियों से आवृत्त है, उन्हें मल, विक्षेप और आवरण कहते है। इसमें मल अर्थात् अन्तःकरण के मलिन संस्कारजनित दोषों की निवृत्ति निष्काम कर्म से होती है। विक्षेप अर्थात् चित्तचांचल्य का नाश उपासना से होता है। और आवरण अर्थात् स्वरूपविस्मृति या अज्ञान का नाश ज्ञान से होता है। इस प्रकार चित्त के इन त्रिविध दोषों के लिये ये अलग–अलग तीन विधियॉ उपयोग की जाती है। इन तीनों के द्वारा तीन प्रकार की गतियॉ होती है। सकामकर्म लोग धुममार्ग से स्वर्गादि लोकों को प्राप्त होकर पुण्य क्षीण होने पर पुनः जन्म लेते है। निष्कामकर्मी और उपासक अर्चिरादि मार्ग से अपने उपास्यदेव के लोक में जाकर अपने अधिकारानुसार सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य या सायुज्यमुक्ति प्राप्त करते हैं। इन दोनों गतियों का छान्दोग्योपनिषद् के पांचवे अध्याय में बिशदरूप से वर्णन किया गया है। इन दोनों से भिन्न जो तत्त्वज्ञानी होते हैं उनके प्राणों का उत्क्रमण लोकान्तर में गमन नहीं होता, उनके शरीर यहीं अपने–अपने तत्त्वों में लीन हो जाते हैं और उन्हें यहां ही कैवल्यपद विदेहमुक्ति, जीवन्मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ–

1. मुण्डकोपनिषद्, 3/2/9
2. छान्दोग्योपनिषद्, 1/1/3
3. ब्रह्मसूत्र शा. भाष्य, 4/4/22
4. विवेकचूड़ामणि, 436–437
5. विवेकचूड़ामणि, 485–486
6. त्रिविक्रममहानारायणोपनिषद्, 3/3
7. उपनिषदांक, पृ.सं. 5
8. मुण्डकोपनिषद्, 1/1/12
9. ईशावास्योपनिषद्, 7
10. गौड़पादकारिका, 17
11. श्वेताश्वेतरोपनिषद्, 1/11
12. मैत्रेयी उपनिषद्, 9/10
13. बृहदारण्यकोपनिषद्, 4/4/6

✦✦✦

*(Project Fellow)
संस्कृत विभाग, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

शोध-१४

मौर्य काल में सारनाथ की राजनैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक स्थिति

दीप्ति श्रीनेत*

प्राचीन भारतीय इतिहास में मौर्य काल सबसे महत्वपूर्ण काल माना जाता है। पुरातात्त्विक अवशेषों से सारनाथ की कला में प्राचीनता स्पष्ट रुप से परिलक्षित होती है। बौद्ध कला का जन्म हम मौर्य काल से ही मान सकते हैं, क्योंकि इसके पूर्व की कला के अवशेष अभी तक नहीं प्राप्त हुए हैं। मौर्य काल के कुछ अवशेष सारनाथ से भी प्राप्त होते हैं, जिससे पता चलता है कि उस समय ऋशिपत्तन काफी उन्नतशील अवस्था में था। अशोक द्वारा सारनाथ में स्तूप, चैत्य, विहार, शीर्ष स्तम्भ, मूर्तियाँ आदि का निर्माण कराया गया है। इस समय की कला अत्यन्त सुन्दर और स्पष्ट है। मौर्यकालीन कला अत्यन्त उत्तम कोटि की है किन्तु उसके विकास की आरम्भिक कड़ियाँ ज्ञात न होने के कारण इसके इतिहास के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी कह सकना कठिन है।[1] अशोक बौद्ध धर्म का महान अनुयायी था तथा इस धर्म का शुभचिंतक था उसने बौद्ध धर्म की उन्नति में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। सारनाथ से जो उसकी धर्म सम्बंधी लिपि प्राप्त हुई है उनमें स्पष्ट रुप से अंकित है कि उसने बौद्ध सम्बंधी विग्रह रोकने का काफी प्रयत्न किया और अपना कर्तव्य समझा।[2] मौर्यकालीन राजनैतिक स्थिति की बात करें तो हम देखते हैं कि काशी, जिसकी राजधानी वाराणसी नगरी थी, कि गणना षोड्श महाजनपदों में की जाती थी। भगवान बुद्ध के समकालीन गंगा घाटी में षोडश महाजनपदों का अस्तित्व था, जो स्वतंत्र राजनैतिक सत्ताओं के रुप में विद्यमान थे।[3] दीघनिकाय तथा मज्झिमनिकाय के अनुसार प्रसेनजीत, जो कि कोसल का का शासक था, ने अपने एक सम्बंधी को काशी का शासक बताया था।[4] इस आधार पर यह निश्चित रुप से कहा जा सकता है कि काशी पर प्रसेनजीत का शासन था। इसके पश्चात् काशी का क्षेत्र कुछ समय बाद अजातशत्रु के अधिपत्य में आ गया था।[5] अजातशत्रु के बाद वाराणसी क्षेत्र पर नंद वंश का शासन हो गया। नंद वंश के शासकों (इनके कालक्रम के विषय में मतभेद है)[6] द्वारा मगध, काशी व वत्स जनपदों का क्षेत्र एक राज्य के रुप में संगठित हुआ।[7] नंद वंश के शासक का अन्त ई0 पू0 324 में चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा महापद्मनन्द के पराजय के साथ हुआ।[8] नन्द वंश के बाद काशी पर मौर्य वंश का अधिकार स्थापित हुआ।

मौर्य वंश का संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य था, जिसने प्रथम बार उत्तर भारत को राजनीतिक एकता के सूत्र में संगठित करने का श्रेय तथा उत्तर भारत को एक सशक्त राजनैतिक छत्र–छाया प्रदान किया।[9] इस समय चन्द्रगुप्त मौर्य के अधीन मगध राज्य, कलिंग व सुदूर दक्षिण को छोड़कर समस्त आर्यावर्त पर अधिकार हो गया था।[10] बिन्दुसार ने विरासत में प्राप्त इस राज्य की सुरक्षा की[11] तथा उसके पुत्र अशोक ने अपने पूर्वजों के राज्य विस्तार की नीति के अनुरुप कलिंग पर विजय प्राप्त की।[12] इस युद्ध के महानरसंहार से उनका हृदय परिवर्तित हुआ तथा उसने राज्य विस्तार का सैनिक अभियान सीमित किया।[13] अशोक के तेरहवें शिलालेख में इस युद्ध के भयानक परिणामों का उल्लेख है। सम्पूर्ण भारत के इतिहास में कलिंग की विजय एक महत्वपूर्ण घटना थी, क्योंकि कलिंग युद्ध की हृदय–विदारक हिंसा एवं नरसंहार की घटनाओ ने अशोक के हृदय स्थल को स्पर्श किया और इसके बाद एक नये युग का सूत्रपात हुआ।[14] यह युग था–शांति, सामाजिक, प्रगति तथा धार्मिक प्रचार का। इसी के बाद से सैन्य विजय तथा दिग्गविजय का युग समाप्त हुआ तथा आध्यात्मिक विजय और धम्मविजय का युग प्रारम्भ हुआ।[15] इस युद्ध के पश्चात् अशोक ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया साथ ही उसने युद्ध क्रियाओं को सदा के लिए बन्द कर दिया और बौद्ध धर्म के प्रचार–प्रसार में लग गया। अशोक के तेरहवें शिलालेख में यह उल्लेखित है कि 'इसके बाद देवताओं का प्रिया धम्म की सोत्साह, परिरक्षा, सोत्साह अभिलाषा, एवं सोत्साह शिक्षा करता है।[16] कलिंग युद्ध अशोक के राज्यारोहण के आठवें वर्ष की घटना है अतः यह कहा जा सकता है कि अशोक बौद्ध धर्म अपनाया होगा।

सम्राट अशोक द्वारा राज्य विस्तार की नीति को त्यागने के बाद उसने बौद्ध धर्म को अपनाकर सैनिक विजय के स्थान पर धम्म विजय का अभियान शुरु किया। उसे जहाँ एक तरफ बौद्ध धर्म को संरक्षण प्रदान करने की आवश्यकता थी वही इसके प्रचार प्रसार की आवश्यकता भी अशोक को महसूस हुई। अशोक के शासन काल में तृतीय बौद्ध संगीति का आयोजन पाटलिपुत्र में हुआ। अशोक के शासनकाल में बौद्ध धर्म का प्रचार–प्रसार विश्वस्तर पर किया जाने लगा। अशोक के पुत्र महेन्द्र व पुत्री संघमित्रा के नेतृत्व में भिक्षुओं के दलों द्वारा बौद्ध धर्म और उसके उपदेशों के प्रचार के प्रमाण मिलते हैं।[17] बौद्ध धर्म और उसके उपदेशों से आने वाली पीढ़ी भी प्रभावित हो इसके लिए उसने शिलालेख पाषाण का प्रयोग कर अनेक स्तम्भ बनवाएं जो उसके राज्य के सभी महत्वपूर्ण स्थलों से प्राप्त हुए हैं। उसके द्वारा किया गया यह कार्य भारतीय इतिहास लेखन की दृष्टि से अद्वितीय है, साथ ही बौद्ध धर्म के धार्मिक उपदेशों को अमिट माध्यम पर लिख छोड़ना तथा धर्म स्थलों पर शाश्वत माध्यम के प्रयोग से इमारतों जैसे स्तूप, विहार आदि के निर्माण द्वारा अशोक का महत्वपूर्ण योगदान भारतीय कला, वास्तुकला व लेखन के इतिहास में हैं।[18] इस दृष्टि से भी पाषाण का प्रयोग अत्यन्त उल्लेखनीय है।

सारनाथ से प्राप्त पुरातात्त्विक अवशेषों से अशोक के शासन काल में बौद्ध धर्म के विकास का अनुमान लगाया जा सकता है। सारनाथ में रहने वाले भिक्षु एवं भिक्षुणियों के लिए उनके जीवन एवं आचार को नियंत्रित करने का आदेश अशोक ने दिया।[19] यह उसके सारनाथ स्तम्भ लेख पर स्पष्ट रुप से उत्कीर्ण है। इस शिलालेख से स्पष्ट जानकारी मिलती है कि संघ में मतभेद पैदा करने वालो को सफेद वस्त्र[20] पहना कर संघ से निष्कासित कर दिया जायेगा।[21]

यह आदेश भिक्षु एवं भिक्षुणियों के लिए स्पष्ट रुप से लागू किया गया था। यह आदेश कौशाम्बी तथा सारनाथ के महामात्रों को सम्बोधन से स्पष्ट है।[22] इस तरह के शासनादेश अभिलेख साँची तथा कौशाम्बी के लघु स्तम्भों पर भी उत्कीर्ण मिलता है। इस प्रकार यह आदेश भिक्षु संघ और भिक्षुणी संघ में सूचित किया जाना चाहिए, क्योंकि मेरी इच्छा है कि संघ समग्र होकर चिरस्थायी हो जाय।[23] इन लेखों से यह तर्क स्पष्ट रुप से लगाया जा सकता है कि संघ–भेद को रोकने का आदेश अशोक ने एक राजा की हैसियत से दिया था। उस समय बौद्ध संघ में कुछ क्षेत्रिय तत्व समाहित हो गये थे जिससे संघ की व्यवस्था बिगड़ने लगी थी। इन तत्वों का बहिष्कार करने और संघ की व्यवस्था को सुचारु रुप से चलाने के लिए अशोक ने इन शासनादेशों को जारी किया था। तृतीय बौद्ध संगीति में अशोक ने संघ भेद को रोकने के लिए अत्यन्त कड़े नियम बना दिये। इसके पूर्व बौद्ध संघ ''महासंधिक'' तथा ''थेरवाद'' दो सम्प्रयायों में विभक्त हो चुका था। इस समय धर्म को सामाजिक मान्यता या संरक्षण कहाँ तक प्राप्त था इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता।

यदि हम मौर्य काल में बौद्ध धर्म की सामाजिक और धार्मिक स्थिति पर मनन करें तो हमारे सामने स्पष्ट रुप से यह बात उभर कर सामने आती है कि बौद्ध धर्म के प्रचार व आश्रय के निमित्त स्थापत्य व मूर्तिकला का प्रयोग अशोक ने बड़े पैमाने पर किया। अशोक ने मुख्य उपक्रमों में बुद्ध की अस्थियों को संजोए 10 स्तूपों से अस्थियों को प्राप्त कर उनका विभाजन व उन पर पुनः अनेक स्तूपों का निर्माण करवाया।[24] बौद्ध धार्मिक स्थलों पर अशोक द्वारा विहार एवं चैत्यों का निर्माण कार्य करवाया गया। बौद्ध संघ के संगठन हेतु स्तम्भ लेख खुदवाये गये। अशोक द्वारा किये गये यह प्रयास साहित्यिक साक्ष्यों से भी ज्ञात होता है। अशोक द्वारा निर्मित इन स्तम्भों पर पशु आकृतियों का अंकन विशेष रुप से उल्लेखनीय है, जैसे वृषभ, हाथी, सिंह, अश्व आदि। ये अंकन बुद्ध के व्यक्तिगत जीवन से सम्बंधित माने गये हैं, सारनाथ का सिंह शीर्ष स्तम्भ भारत के राष्ट्रीय चिन्ह के रुप में विश्वविख्यात है, कुछ चिन्ह जैसे– चक्र, धर्मचक्र आदि बुद्ध के सांकेतिक चिन्ह मान कर उनका प्रयोग इस काल में किया गया। जहाँ तक स्तूपों की बात हैं वे मुख्य रुप से पूजा हेतु निर्मित किये जाते थे। इस काल में स्तूप ही पूजा की मुख्य वस्तु थी क्योंकि इनके अंदर बुद्ध के पवित्र अस्थिवशेष थे; परन्तु स्तम्भों पर लगे सांकेतिक चिह्न पूज्य रुप में नही माने जाते थे, क्योंकि स्तम्भों का निर्माण पूजा हेतु नहीं किया गया था। बौद्ध मूर्ति पूजा का प्रचलन का प्रमाण इस काल में ज्ञात नहीं है। इस समय पाटलिपुत्र हीनयानियों का प्रमुख केन्द्र बन गया था तथा महासंधिक आन्ध्र व दक्षिण की ओर चले गये थे।[25] तृतीय बौद्ध संगीति जिसमें हीनयान सम्प्रदाय के भिक्षुओं ने भाग लिया तत्पश्चात् सद्धर्म प्रचार हेतु भिक्षुओं को अनेक भागों में भेजा गया।[26]

अशोक के पश्चात् मौर्य साम्राज्य पतोन्मुखी हुआ। अंतिम शासकों को विदेशी आक्रमणों का सामना करना पड़ा जिससे राज्य की नींव कमजोर होती गयी। अयोग्य तथा निर्बल उत्तराधिकारी विदेशी आक्रमणों के सामने टिक न सके तथा अन्त में वृहदथ का वध कर उसके सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने मगध की गद्दी संभाल ली।[27]

मौर्य काल में सारनाथ अपने विकसित अवस्था में था तथा सम्राट अशोक द्वारा यहाँ पर बौद्ध भिक्षुओं के लिए जनकल्याणकारी कार्यों तथा सारनाथ की उन्नतिशीलता को बढ़ाने के लिए अथक प्रयास किया जिसका विवरण हमें बौद्ध साहित्य में मिलता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ–

1. ओम प्रकाश पाण्डेय, सारनाथ की कला, भारती प्रकाशन, वाराणसी, 2000, पृ0 54।
2. हुल्टश, इन्सक्रिपशन्स आफ अशोक, पृ0 116।
3. आर0 सी0 मजूमदार (सम्पा0) हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ इण्डियन पीपुल, भाग 2, भारतीय विद्या भवन प्रकाशन, बम्बई, 1960, पृ0 1–15।
4. मोतीचन्द्र, सार्थवाह, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पृ0 118–233; बलदेव उपाध्याय, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1961, पृ0 234–343।
5. एम0 ए0 नागर, बौद्ध महातीर्थ, पब्लिकेशन ब्यूरो, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश लखनऊ, 1953, पृ0 36।
6. ए0 ठाकुर (सम्पा0), काम्पिहेन्सिव हिस्ट्री आफ बिहार, खण्ड 1, भाग 1, पृ0 312–313।
7. ई0 बी0 जोशी, यू0 पी0 डिस्ट्रिक्ट गजेटियर वाराणसी, यू0 पी0 गर्वनमेन्ट प्रेस, इलाहाबाद, 1965, पृ0 32।
8. ए0 ठाकुर, पूर्वोद्धृत, पृ0 313।
9. कृष्ण चन्द्र श्रीवास्तव, प्राचीन भारत का इतिहास, यूनाईटेड बुक डिपों, इलाहाबाद, 1998, पृ0 963।
10. ए0 ठाकुर, पूर्वोद्धृत, पृ0 433।
11. वही, पृ0 436।
12. वही, 439–441।
13. वही, पृ0 442।
14. वही, पृ0 181।
15. वही, पृ0 306–307।
16. तिवेधमशिलन धम्र कमन धुमनुशस्ति देवन–पियस..... ....त्रयोदरा शिलालेख।
17. पी0 सी0 रायचौधरी, बिहार डिस्ट्रिक्ट गजेटियर गया, पटना, 1957, पृ0 28। विद्वानों में इस मत पर मतभेद है कि उसके द्वारा बौद्ध धर्म जो अपनाया गया था वह कलिंग युद्ध के पहले अपनाया गया या बादे में।।
18. ए0 ठाकुर, पूर्वोद्धृत, पृ0 449।
19. ओम प्रकाश पाण्डेय, सारनाथ अभिलेख, पृ0 14।
20. वही।
21. विनय पिटक, अनु0 ओल्डनवर्ग, भाग 3, पृ0 312।
22. डी0 सी0 सरकार, सेलेक्ट इन्सक्रिपशन्स, भाग 1, पृ0 73।
23. ये संघ भखति भिखु वा विखुनि वा ओदाता नियुसनि सनंधा पपितु अनावासमि वासापेतविये। इच्छाहि में किंति संघे समगे चिलथिवी के सियाती–साँची लघु स्तम्भ लेख उद्धृत कृश्ण चन्द्र श्रीवास्तव, पूर्वोद्धृत, पृ0 183।
24. एस0 आर0 गोयल, रेलीजस हिस्ट्री आफ एशियन्ट इण्डिया, भाग 1, कुसुमांजली प्रकाशन, मेरठ, 1984, पृ0 298; गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, लखनऊ, 1976, पृ0 206–208।
25. वही, पृ0 183–184।
26. वही, पृ0 195–201।
27. ए0 ठाकुर, पूर्वोद्धृत, पृ0 744।

✦✦✦

* शोध छात्रा, इतिहास विभाग
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

शोध-१५

मध्यकालीन सामाजिक सामन्जस्य में सूफी दर्शन का योगदान

प्रिया श्रीवास्तव*

भारतीय समाज की यह विशेषता रही है कि इसने सभी नई संस्कृतियों को अपने मूल में समाहित करते हुए अपने स्वतन्त्र अस्तित्त्व को बनाए रखा। इसी क्रम में इस्लाम धर्म के भारत में प्रवेश करने के साथ ही इस धर्म के सामने सबसे बड़ी सामाजिक समस्या थी, भारतीय समाज के साथ समन्वय स्थापित करना। चूँकि सूफी दर्शन का जन्म इस्लाम धर्म के मूल से ही हुआ अतः इस्लाम के साथ ही सूफी दर्शन का भारत में प्रवेश भी स्वभाविक ही था। 'इस्लाम धर्म की बुनियाद यहाँ पर उसके बहुत पहले से ही जम चुकी थी, किन्तु उसकी जड़े अभी तक यथेष्ट रूप में मजबूत नहीं रही।[1] सूफी दर्शन ने ही इस्लाम धर्म को भारतीय समाज में सामन्जस्य स्थापित करने में सहयोग की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हुए इस्लाम धर्म की भी बुराइयों को दूर करने का भरसक प्रयत्न किया। सूफी दर्शन ने तत्कालीन समाज में व्याप्त बुराइयों की ओर सभी का ध्यान आकृष्ट किया तथा इन बुराइयों से बाहर निकलने का मार्ग दर्शन भी किया जिससे समाज के सभी तबकों में सरलता से समन्वय स्थापित हो सके।

सूफी दर्शन के भारत में प्रवेश के पश्चात् उसमें भारतीय दर्शन के तत्व भी समाहित हो गए। एकेश्वरवादी इस्लामिक वातावरण की परिप्रेक्ष्य में जन्मा सूफी दर्शन भारतीय दर्शन के अद्वैतवाद तथा विशिष्टाद्वैतवाद के तत्त्वों को स्वयं में समाहित करते हुए प्रेम मार्ग को सूफी दर्शन में स्थान दिया। सूफी दार्शनिकों ने परमतत्व की सत्यता के एक देववाद के मार्ग को अद्वैतवाद के मार्ग में सम्मिलित कर सूफी दर्शन को नया आयाम प्रदान किया। भारतीय दर्शन की ही भाँति सूफी दर्शनिकों ने ईश्वर की परम सत्ता को स्वीकार करते हुए उसे पालक, संरक्षक तथा संहारक की संज्ञा देने के साथ ही यह भी विश्वसनीय माना कि इस सृष्टि पर एक ही परम तत्त्व की सत्ता व्याप्त है और यही नित्य सत्य है। सूफी दर्शन ने इस्लाम धर्म और हिन्दू धर्म के तत्वों को स्वयं में समाहित करते हुए धर्मों के समन्वय का जो उदाहरण पेश किया उसने तत्कालीन भारतीय समाज पर ऐसी छाप छोड़ी कि दोनों ही धर्मो के लोग चाहे वे शासक वर्ग हो या शासित वर्ग सूफी दर्शन को सम्मान की दृष्टि से देखने लगे। सूफी मत ने प्रेम की भावना तथा सत्पुरुषों के आदर्शों से ऐसा अनुरंजित किया कि इस्लाम की कट्टरता क्षीण होती गई।[2]

सूफी दर्शन ने जहाँ एक ओर समाज के लोगों को प्रभावित किया वहीं दूसरी ओर शासक वर्ग भी इस प्रभाव से अछूते नहीं रह सके। दिल्ली सल्तनत के शासक भी सूफी साधकों के शिष्य बनकर उन्हे विशेष सम्मान दिया करते थे। चूँकि जहाँ–जहाँ भी इन शासकों ने साम्राज्य विस्तार किया वहाँ पर सूफी प्रभाव स्वतः ही फैल गया। इसलिए सूफी मतानुयायी उत्तर भारत में फैलकर बंगाल तक सूफी दर्शन के विस्तार में सफलता प्राप्त की। भारत में इस्लाम के क्षेत्र में विस्तार के साथ ही सूफी दर्शन का विस्तार इसलिए संभव हो सका क्योंकि इन्होंने कभी इस्लाम धर्म से अलग होकर एक नया धर्म बनाने की चेष्टा नहीं की। यह स्पष्ट है कि सूफी दर्शन कुरान पर ही आधारित था।[3] सूफी दर्शन ने शासक वर्ग पर प्रभाव बनाए रखते हुए विभिन्न वर्गों और धार्मिक समुदायों के बीच सौहार्द्र एवं समन्वय का वातावरण बनाकर राज्य को सुचारू रूप से संचालन करने में सहायता प्रदान की। आम तौर पर शासक गण सूफियों का स्वागत करते थे क्योंकि वे समझते थे कि उनका आशीर्वाद एवं लोगों पर उनका प्रभाव न केवल उनकी अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाएगा अपितु उनकी स्थिति को भी वैधता प्रदान करेगा।[4]

सूफी दर्शन ने भारत में गैर–मुस्लिम जनता के प्रति धार्मिक सहिष्णुता का दृष्टिकोण अपनाते हुए स्वयं को भारतीय परिवेश में ढ़ालने का सफल प्रयास किया। सूफियों ने ऊँच–नीच के भेदभाव को मिटाने के लिए जिस सर्वमान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया वह जीवन में प्रेम की भावना ही उच्च व प्रधान है,[5] पर आधारित थी। सूफी साधक धन, धार्मिक विश्वास, पारिवारिक हैसियत के आधार पर कभी भी समाज में भेद–भाव की नियति नहीं रखते थे। एक ऐसे समय में जब तुर्क लोग भाईचारे की इस्लामी अवधारणा को काफी हद तक भूल चुके थे एवं धर्मांतरितों सहित जनसाधारण को हेय दृष्टि से देखते थे तब सूफियों के भेदभावहीन रवैये ने न केवल सूफियों को लोकप्रियता दिलायी अपितु सामाजिक तनावों को कम रकने में सहायता भी की।[6] सूफी साधकों के जमातखानों के द्वार सहानुभूति, सहायता और सलाह हेतु समाज के सभी तबकों के लिए समान रूप से खुले रहते थे क्योंकि सूफी दर्शन का मुख्य उद्देश्य तो इस्लाम धर्म में व्याप्त बुराइयों को दूर करना था जिससे इस नए क्षेत्र में सामाजिक सामन्जस्य स्थापित हो सके परन्तु ऐसा नहीं था कि सूफी साधक गैर मुस्लिम जनता को अपने सहानुभूति और सूफी समाज के पिछड़े वर्ग के प्रति सहानुभूति रखते हुए उनके धार्मिक दृष्टिकोणों को भी प्रभावित करने में सक्षम था। सूफियों के दर्शन में प्रेम की भावना इतनी सरल और मधुर थी कि जनता ने उसे बड़े हर्ष और प्रेम के साथ आत्मसात कर लिया।[7] इसका एक परिणाम यह हुआ कि 'वैसे सूफी मत के माध्यम से न केवल कभी–कभी इस्लाम धर्म के साथ इन्हे अपनी निकटता का बोध होने लग गया, प्रत्युत उसके प्रति इनकी विरोध की भावना भी कुछ हद तक घट चली।[8] सूफियों में सामाजिक

सद्भावना स्थापित करने की शक्ति नीहित थी। वे जनसाधारण के असंतोष एवं सामाजिक तनावों को कम करने के साधक थे।[9]

यद्यपि सूफी दर्शन का मूल इस्लाम धर्म में निहित था तथापि उन्होंने कभी भी इस्लाम को पूर्णतः सूफी दर्शन पर प्रभावी होने का अवसर नहीं दिया। वह इस्लाम के प्रति श्रद्धा तो रखते ही थे पर साथ ही वे गैर इस्लामिक सम्प्रदायों के प्रति भी उतनी ही श्रद्धा दृष्टि रखते थे। सूफी साधक मुक्त रूप से हिन्दू और जैन योगियों से मिलते–जुलते थे तथा एक–दसरे से विभिन्न विषयों जैसे–योगाभ्यास आदि पर विचारों का आदान प्रदान किया करते थे। स्वैच्छिक धर्मांतरण को अपनी स्वीकृति देते हुए सूफी साधकों ने ब्रह्मचारी और सन्यासी का जीवन व्यतीत करना, गुरु के समक्ष दण्डवत् करना, सम्प्रदाय में शामिल होने पर शिष्य का मुण्डन करना तथा भक्ति संगीत को भी अपनी स्वीकृति प्रदान की। सूफी दर्शन में स्वीकृत ये प्रथाएँ भारत में स्थापित नाथ पंथी योगियों जैसे गैर परम्परावादी सम्प्रदायों से काफी मेल ,खाती थी। इसलिए भारतीय समाज में सूफी दर्शन को भारतीय परम्परा के एक अंग के रूप में भी देखा गया। चिश्ती संप्रदाय के संत हिन्दू धर्म की शक्ति से पूर्णतः अवगत थे। एक बार एक सूफी संत ने कहा– ''ओ, तुममें से जो लोग हिन्दू की मूर्तिपूजा का उपहास करते हैं वे उनसे यह भी सीखें कि पूजा कैसे की जाती है।''[10] इस तरह सूफी दर्शन गैर इस्लामिक सम्प्रदायों को समान सम्मान देते हुए इस सहिष्णुता की दृष्टि को सामाजिक समन्वय और सामाजिक एकता के माध्यम के रूप में स्वीकृत दी थी। और साथ ही सूफी दर्शन के धार्मिक सहिष्णुता के परिणामस्वरूप मुसलमानों और गैर–मुसलमानों के बीच आपसी समझ कायम करने में सहूलियत हुई। इसी व्यापक सहिष्णुता के कारण चिश्तियों को अधिसंख्य गैर–मुस्लिम आबादी वाली गंगा घाटी में सफलता प्राप्त हुई।[11]

समन्वयवादिता के मार्ग पर आगे बढ़ते हुए सूफी साधकों ने अपने मत के प्रचार के लिए 'हिंदवी' भाषा का प्रयोग किया। भारतीय अनुयायियों तक अपनी बात पहुँचाने के लिए सूफी साधकों ने भारतीय प्रतीकों, मुहावरों, रीति–रिवाजों और अनुष्ठानों को भी अपने दर्शन में सम्मिलित किया। सूफियों ने भारत आने के बहुत पहले संस्कृत में योग पर लिखे ग्रंथ 'अमृतकुंड' का अनुवाद फारसी में हो चुका था। इस योग का प्रभाव सूफियों पर इतना पड़ा कि उन्होंने उस ग्रंथ से कई प्रकार की योग पद्धतियों को अपना लिया था। चूँकि सूफी दर्शन गैर–इस्लामिक क्षेत्र एवं परिवेश में भी फला–फूला एवं लोकप्रिय हुआ। अतः प्रारम्भिक सूफी साधकों ने भी हिंदवी को अपने दर्शन में सम्मिलित कर हिंदवी में ही पद लिखा करते थे। कई खानकाहो ने क्षेत्रीय भाषा में रहस्यवादी कविताओं को प्रोत्साहित करने के कार्य को सफलता पूर्वक अंजाम दिया जिसके परिणामस्वरूप ग्रामीण इलाको में भी सूफी दर्शन ने अच्छी खासी लोकप्रियता हासिल की। 14वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लिखी गयी हिन्दी की पुस्तक 'चंदायन' में रहस्यवाद के साथ हिन्दू–मिथक और दर्शन का भी घुला मिला रूप देखने को मिलता है कालांतर में सूफियों द्वारा रचित लोक साहित्य में भी इस्लाम के कुछ लोकप्रिय विचार के साथ सूफी शब्दावली, लोकप्रिय प्रतीकों और मुहावरों का भी भरपूर प्रयोग किया गया। हिन्दी साहित्य पर इस्लाम का प्रभाव अत्यधिक भावुकता के रूप में पड़ा। कबीर और मीरा की प्रेमानुभूति में व्यग्रता, बोधा और घनानन्द की विह्वलता, विद्यापति और सूरदास की भावुकता में इसका प्रत्यक्ष प्रमाण दृष्टिगत होता है।[12] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि–'जो ब्रह्म हिन्दूओं की विचार पद्धति में ज्ञान मार्ग का एक निरूपण था उसी को कबीर ने सूफियों के ढर्रे पर उपासना का ही विषय नहीं प्रेम का भी विषय बनाया। उसकी प्राप्ति के लिए हठ योगियों की साधना का समर्थन किया। इस प्रकार उन्होंने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रपत्तिवाद का मेल करके अपना पंथ खड़ा किया।' चूँकि भारतीय दर्शन की तुलना में सूफी दर्शन सर्वथा नवीन था अतः इसमें भावुकता का पक्ष भी नहित था और इसी भावुकता के पक्ष ने हिन्दी साहित्य में संक्रमण किया परिणामस्वरूप मध्यकालीन युग में जो हिन्दी साहित्य हमारे समक्ष उपलब्ध है वह भी फारसी और उर्दू शब्दों से प्रभावित था। भारतीय दर्शन और सूफी दर्शन एक दूसरे पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालते हुए समाज के समक्ष एक ऐसा उदाहरण पेश किया जो पहले कभी भी संभव न था। सूफी दर्शन ने भारतीय भाषाओं को अपने प्रचार के लिए प्रयोग कर भारतीय समाज के साथ सूफी दर्शन को भी समृद्ध बनाने अहम भूमिका अदा की। जब से सूफी प्रचारकों ने अपने कथन एवं साहित्य का माध्यम केवल फारसी व अरबी भाषाओं को न बनाकर, यहाँ की प्रान्तीय भाषाओं जैसे–सिंधी, पंजाबी, हिन्दी, बांग्ला आदि को अपना कर आरम्भ कर दिया तथा इसी प्रकार इस प्रसंग में अपनी रचनाओं के अर्न्तगत यहाँ की लोक संस्कृति को भी समुचित महत्व देने की योजना स्वीकार कर ली, उपर्युक्त समन्वयात्मक प्रवृत्ति को अधिकाधिक प्रश्रय मिलता चला गया।[13]

सूफी साधक प्रायः उदार प्रकृति के ही होते थे जिसके कारण निस्सन्देह उनके दर्शन तथा प्रेमाख्यानों में धार्मिक कट्टरता का कोई स्रोत हमें ज्ञात नहीं होता है। प्रत्येक सूफी प्रेमाख्यानों में शिव की प्रतिष्ठा है। सूफी विचारधारा पर नाथ पंथी सम्प्रदाय के साथ–साथ वैष्णव भक्ति पद्धति का प्रभाव भी स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है क्योंकि सूफी दर्शन भी अहिंसा की नीति का कट्टर समर्थक था तथा समाज के सभी मुस्लिम व गैर मुस्लिम जनता को इस हिंसा की नीति से दूर रखने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते थे जिससे भारतीय समाज की सामाजिक व्यवस्था यथावत् बनी रहे तथा समाज में समन्वय की भावना का ह्रास न हो सके। इस कार्य को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने के लिए सूफी दर्शन सदैव ही हृदय की शुद्धि तथा पवित्रता पर विशेष ध्यान देते थे। समाज की स्थिति को भली–भाँति समझने के पश्चात् वे यह तथ्य भी जान गए थे कि विभिन्न सम्प्रदायों के बीच सामन्जस्य बनाए रखने के लिए हृदय की शुद्धि नितान्त आवश्यक है क्योंकि जब तक हृदय पवित्र नहीं होगा तब तक आत्मा की शुद्धि भी संभव नहीं है।

जब कोई भी सम्प्रदाय धर्म या संस्कृति लम्बे समय से एक साथ ही एक ही क्षेत्र, एक ही परिवेश तथा एक ही समाज में एक साथ रहते हुए समाज का अभिन्न अंग बन जाते है तो स्वाभाविक रूप से एक संस्कृति का प्रभाव साथ रह रही दूसरी संस्कृति पर अनिवार्य रूप से पड़ता है। अतः सर्वमान्य तथ्य यह है कि जितना सूफी दर्शन ने भारतीय दर्शन और समाज को प्रभावित किया उससे कही ज्यादा सूफी दर्शन स्वयं ही भारतीय दर्शन से प्रभावित हो कर कई तथ्यों को सूफी दर्शन में सम्मिलित किया और यह कहने में कोई अतिशयोक्ति न होगी कि वह हिन्दू धर्म का प्रभाव ही था जिसने इस्लाम की कट्टरता को कुछ हद तक कम करने में निर्णायक भूमिका का वहन किया। इसी सत्य को श्रीयुत् मौलाना अल्ताफ हुसैन हाली ने इन शब्दो में व्यक्त किया।

वह दीने हिजाजी का बेबाक बेड़ा।
निसां जिसका अक्साए आलम में पहुँचा।।
मजाहम हुआ कोई खतरा न जिसका।
न अम्मा में ठटका न कुल्जम में झिझका।।
कियै पै सिपर जिसने सातौ समुंदर।
वह डुबा दहाने में गंगा के आके।।[14]

अर्थात् 'अरब देश का वह निडर बेड़ा, जिसकी ध्वजा विश्व में फहरा चुकी थी, किसी प्रकार का भय जिसका मार्ग न रोक सका था और जो न लाल सागर में झिझका था, जिसने सातो समुन्दर अपने ढ़ाल के नीचे कर लिये थे, वह गंगा के दहाने में आकर डूब गया।'

परन्तु सावित्री शुक्ल के विचार से 'वह बेड़ा डुबा नहीं, वरन उसने गंगा स्नान किया जिससे इस्लामी कट्टरता का रंग दूर हो गया और वह एक ऐसे रंग में रंग गया कि उसे पहचानना भी कठिन हो गया।[15]

इस प्रकार के धर्माचरण का प्रभाव इतना प्रबल तथा सुदृढ़ था कि जन साधारण के व्यवहार में कोई स्पष्ट अन्तर दृष्टिगोचर ही नहीं होता था। इसी प्रभाव का दूसरा पक्ष यह भी था कि 'यदि विशिष्ट मुस्लिमों के हृदय भी पक्षपात से भर हो जाते तो अरबी और फारसी के स्थान पर हिन्दी और संस्कृति को इस्लामी विचार का साधन बना लिया जाता।[16]

'मौलाना रूम की मसनवी में गीता और उपनिषदों के सिद्धान्तों के कोष भरे मिलते है, जब कि उन्हें हिन्दू धार्मिक साहित्य का बिल्कुल ज्ञान न था। उनका कथन है कि–

मिल्लते इश्क अजहमा मिल्लत जुदास्त।
आशिकां रा मजहबो मिल्लत खुदास्त।[17]

अर्थात् भक्ति मार्ग सब सम्प्रदायों से भिन्न है। भक्तों का सम्प्रदाय और पंथ तो भगवान ही है।

इन संतो तथा कवियों द्वारा जो उपदेश दिए गए वे सामाजिक सामन्जस्य स्थापित करने में मील का पत्थर तो साबित हुआ ही साथ ही जन–साधारण को सर्वमान्य भी सिद्ध हुआ।

इस तरह सूफी दर्शन ने अपने विचारों भावों, कृत्यों एवं बुद्धिवादिता के सिद्धान्तों के दम पर समाज में व्याप्त बुराइयों, संक्रमित समाज संकीर्ण विचारधारा एवं ब्राह्मआडम्बरों का विरोध करने के कार्य को अंजाम दिया साथ ही सूफी दर्शन ने हिन्दू और मुसलमान दोनों के विरोधी तत्वों में सामन्जस्य स्थापित करने का सफल एवं दृढ़ प्रयास किया जिसके परिणामस्वरूप ही सभी दृष्टि से संक्रमित समाज में सुधार जैसा कठिन कार्य को भी संभव बना दिया। सूफी दर्शन ने भिन्न–भिन्न धर्मों के लोगों के बीच सहिष्णुता के पक्ष को सुदृढ़ करने के लिए धार्मिक दृष्टि से किसी प्रकार का पक्षपात किए बिना ही समाज के प्रत्येक वर्ग के लिए समान कल्याणकारी दृष्टिकोण को बनाए रखकर सामाजिक सामन्जस्य एवं सांस्कृतिक मेलजोल का जो वातावरण तैयार किया था वह अद्वितीय था। इस सन्दर्भ में डॉ. सावित्री शुक्ल का विचार है कि 'सूफियों की रचनाओं, पदों तथा गजलों ने समाज संस्कार में भी सहायता दी। सन्तों को चुनौती देने वाली कुछ उक्तियों, स्पष्टवादिता और व्यंग्यों से भारतीय जनता के सामाजिक, धार्मिक और साधनात्मक दोष तो दूर हुए और उनमें आशा का भी संचार हुआ परन्तु उनमें सरसता के संचार और माधुर्य का प्रयास करने का श्रेय सूफी प्रेमाख्यानकारों को ही प्राप्त हैं। 'इस प्रकार यह स्वीकार कर लेने में कदाचित किसी को भी आपत्ति न होगी कि सूफीमत की समन्वयात्मक प्रवृत्ति क्रमशः अपने उदय काल से ही काम करती आई है और इसके द्वारा उसे विभिन्न क्षेत्रों में अच्छी सफलता भी मिलती गई है।[18] अंततः यह सत्य विदित् होता है कि सांस्कृतिक दृष्टि से विजित वर्ग ने ही विजेता वर्ग को विजय कर लिया।

सन्दर्भ ग्रन्थ–

1. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी–संत साहित्य के प्रेरणा स्रोत पृष्ठ सं0 108
2. डॉ. सावित्री शुक्ल– संत साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पृष्ठ सं. 187
3. वहीं पृष्ठ सं. 187
4. सतीश चन्द्र, मध्यकालीन भारत 252
5. डॉ. सावित्री शुक्ल– संत साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पृष्ठ सं. 287
6. सतीश चन्द्र–मध्यकालीन भारत–पृष्ठ सं0 248
7. डॉ. सावित्री शुक्ल– संत साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पृष्ठ सं. 287
8. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी– संत साहित्य प्रेरणा स्रोत पृष्ठ सं0 108
9. सतीश चन्द्र– मध्यकालीन भारत–पृष्ठ सं. 252
10. वहीं पृष्ठ सं0 249
11. वहीं पृष्ठ सं0 249
12. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी–संतसाहित्य के प्रेरणा स्रोत–पृष्ठ सं0 108
13. डॉ. सावित्री शुक्ल– संत साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पृष्ठ सं0 187
14. मुसद्दए हाली– मौलाना अल्ताफ हुसैन हाली
15. डॉ. सावित्री शुक्ल– संत साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पृष्ठ सं0. 188
16. वहीं पृष्ठ सं0 188
17. वहीं पृष्ठ सं0 189
18. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी–संतसाहित्य में प्रेरणास्रोत–पृष्ठ सं0 108

✦✦✦

*शोध छात्रा–इतिहास विभाग
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

शोध-१६

मुस्लिम शिक्षा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

इम्तियाज अहमद*

मुस्लिम शिक्षा का नाम आते ही जेहन में पहला नाम आता है मदरसा शिक्षा अर्थात धार्मिक शिक्षा। सामान्यतः मुस्लिम शिक्षा को मुस्लिम समुदाय की धार्मिक शिक्षा से जोड़कर विवेचित किया जाता रहा है जो कि पूर्णतः भ्रांतिपूर्ण और भ्रामक अवधारणा है। यह ठीक है कि जब मुस्लिम शासक भारत आये और शासन स्थापित करने के पश्चात् शिक्षण संस्था के रूप में मदरसों को विकसित किया जिसमें धार्मिक शिक्षा प्रमुख थी। उस समय मुस्लिम शिक्षा के केन्द्र के रूप में धार्मिक स्थलों का ही प्रयोग किया जाता था जैसा कि प्राचीन काल में शिक्षा प्रमुख रूप से गुरूकुल एवं मठों में दी जाती थी। प्राचीनकाल में भी शिक्षा का प्रमुख विषय धार्मिक ही था किन्तु आश्चर्य तब होता है जब मुस्लिम शिक्षा को धार्मिक शिक्षा से जोड़कर देखा जाता है परन्तु वहीं गैर मुस्लिमों की शिक्षा की बात होती है तो वहाँ सामान्य शिक्षा से आशय लिया जाता है।

मुस्लिम शिक्षा का शाब्दिक अर्थ मुस्लिमों को दी जाने वाली शिक्षा है और इसका वास्तविक अर्थ भी यही है। यद्यपि इसमें धार्मिक शिक्षा का भी समावेश है। निश्चय ही मदरसे मुस्लिम शिक्षा के निर्विवाद केन्द्र हैं तथापि सहकारी संस्थाओं में भी धार्मिक शिक्षण व्यवस्था कार्यरत है । फिर भी वर्तमान में मुस्लिम शिक्षा की स्थिति और इनके ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अध्ययन के लिए आवश्यक है कि मदरसों के इतिहास को खँगाला जाये तथा उनकी पड़ताल की जाये कि क्या ये मदरसे अपनी पुरानी रूढ़िवादी प्रकृति के ही हैं या समय के सापेक्ष उनमें परिवर्तन हुआ है साथ ही मुस्लिम समाज की सोच समयानुकूल आधुनिक शिक्षा के पक्ष में बन पायी है या नहीं।

मुस्लिम शिक्षा के अध्ययन के लिए जब हम इतिहास के पन्नों पर दृष्टिपात करते हैं तो पाते हैं कि शिक्षा–प्रणाली में शिक्षण संस्थाओं का महत्वपूर्ण स्थान था। उस समय मुस्लिम शिक्षा के मुख्यतः 3 शिक्षा केन्द्र पाये जाते थे।[1] (1) मकतब (2) मदरसा (3) सूफी संतो के खानकाह **मकतब–** सम्पन्न परिवार के घरों में, बैठक में परिवार व आस–पास के शिशु प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे। इस बैठक को मकतब कहते थे। मकतब के शिक्षक के भरण–पोषण का उत्तरदायित्व उस परिवार पर ही रहता था जिन परिवारों के बच्चे वहाँ शिक्षा ग्रहण करने के लिए आते थे, वे भी उसकी आर्थिक सहायता करते थे।

मदरसा– शिक्षा का दूसरा महत्वपूर्ण केन्द्र मदरसा था। राज्य द्वारा स्थापित मदरसों को राज्य की ओर से वित्तीय सहायता मिलती थी। ''ताजुल मआसिर'' के रचयिता हसन निजामी के अनुसार मुहम्मद गोरी ने अजमेर में अनेक मदरसों की स्थापना की । भारत में ये मदरसे अपने ही ढंग के थे।

खानकाह– मुस्लिम शिक्षा का तीसरा महत्वपूर्ण केन्द्र सूफी सन्तों की खानकाह थी। अजमेर में शेख मुइनुद्दीन चिश्ती की खानकाह दिल्ली में शेख निजामुद्दीन औलिया की खानकाह, सीदी मौला की खानकाह शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र थे। दिल्ली व उसके समीप लगभग 2000 खानकाह सूफी सन्तों की थी। जहाँ देश विदेश से विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे।

मध्यकाल में मुस्लिम समाज के शिक्षाविदों, धार्मिक व्यक्तियों, चिन्तकों व विचारकों का ध्यान शिक्षा की ओर गया क्योंकि बिना अरबी भाषा के ज्ञान को प्राप्त किये आम मुसलमान न तो कुरान को पढ़ सकता था न शासन के नियमों को समझ सकता था। उसके जीवन में शिक्षा का बड़ा महत्व था। इस काल में इस्लामी शिक्षा का सर्वांगीण विकास हुआ। शिक्षा का मुख्य आधार धर्म था। वर्तमान भारत के मदरसों पर यदि दृष्टिपात करें तो हमें यह पता चलेगा कि उनका वर्तमान स्वरूप वस्तुतः उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर खड़ा है जोकि मूलरूप से भारतीय मध्यकाल की देन है। तुर्क मुसलमानों के भारत आगमन के साथ ही मदरसों का भी आगमन हुआ अर्थात तुर्कों के आगमन को हम मदरसा शिक्षा के आगमन के रूप में देख सकते हैं।

मुगलकाल में मुस्लिम शिक्षा – सल्तनत काल की भाँति मुगलकाल में भी मुस्लिम शिक्षा का मुख्य उद्देश्य आत्मा की शुद्धि , संतुलित आचरण , उत्तम व्यवहार व मानव के सभी गुणों का विकास करना था। शिक्षाविदों के विचार में इन उद्देश्यों की प्राप्ति केवल धार्मिक एवं नैतिक शिक्षाप्रदान कर के ही की जा सकती थी। पूर्वकाल की भाँति मुगलकाल में भी प्राथमिक शिक्षा मस्जिदों से संलग्न मकतबों या निजी व्यक्तियों के घरों में स्थापित मकतबों में दी जाती थी। तत्पश्चात् उच्च शिक्षा विशेषकर, इस्लामी विधि तथा धर्मशास्त्र की शिक्षा सूफी सन्तों के खानकाहों मे मिलती थी। यहाँ परिपक्व अवस्था में मुसलमानों को माध्यमिक या उच्च शिक्षा प्राप्त होती थी। सम्पन्न मुसलमानों की सहायता से या मुगल सम्राटों द्वारा दिये गये अनुदानों, भूमि या मुसलमान अमीरों द्वारा दी गयी वित्तीय सहायता से मस्जिदों से संलग्न मकतब व मदरसों की स्थापना किये जाते थे। ताकि वहाँ मुसलमानों को शिक्षा मिल सके।यहाँ मुहल्ले के लड़के व लड़कियों को शिक्षा दी जाती थी।

इस काल में शिक्षा प्रदान करने का कार्य प्रशासन का न होकर व्यक्तिगत संस्थाओं का था। हालाँकि प्रशासन इस कार्य के लिए विद्वानों, शिक्षाविदों, अध्यापकों इत्यादि को वजीफे, पेंशन, अनुदान देने में कभी पीछे नहीं रहता था। सम्राट व अमीर मकतबों व मदरसों की स्थापना करने को पुनीत कर्तव्य समझते थे और इस प्रकार वे शिक्षा के प्रसार में सहायता पहुँचाया करते थे। शिक्षा उलेमाओं के हाथों में ही

हुआ करती थी और मुस्लिम समाज को शिक्षा देना उसका उत्तरदायित्व था। इस काल में न तो शिक्षा अनिवार्य थी और न ही विद्यार्थियों से किसी प्रकार की फीस ली जाती थी। शिक्षा के द्वार समाज के सभी वर्गों के लिए खुले हुए थे। शिक्षण, धर्म, प्रशासन, न्याय तथा अन्य क्षेत्रों में प्रवेश करने के लिए शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य था। प्राथमिक शिक्षा प्रदान करने के हेतु प्रत्येक शहर व गाँव में मकतब होते थे जहाँ के अध्यापकों को मौलवी, मियाँ जी या पेश इमाम कहा जाता था जिन्हें श्रद्धा व सम्मान से देखा जाता था। मकतब में पाठ्यक्रम निर्धारित नहीं था फिर भी मुख्यतः कुरान, हदीस का पाठ, अरबी और फारसी की नैतिक व नीतिशास्त्र पर कृतियों का पठन–पाठन, सुलेख, गणित, इत्यादि विषय सम्मिलित होते थे।

मध्यकालीन भारत के स्नातकधारी (मदरसे से) को राज्य के नौकरशाही में विभिन्न पदों पर व्यवस्थित किया गया। जैसे–जज, विधिक–सलाहकार, शिक्षक इत्यादि के रूप में। गौर किया जाने वाला परिवर्तन 16वीं शताब्दी में देखा गया इस समय तक मदरसे के शिक्षण का केन्द्र फिकह, अरबी, व्याकरण और कुरान की शरियतें थी। दिल्ली के सुल्तान सिकन्दर लोदी के समय दो भाइयों मुल्तान शेख अब्दुल और अजीजुल्ला ने मदरसा में तार्किक विज्ञान से सम्बन्धित पुस्तकें जैसे– तार्किक, गणित, साहित्य, दर्शनशास्त्र इत्यादि सम्मिलित किया । इन विषयों को सिविल सेवा के लिए अनिवार्य बना दिया गया। 16 वीं शताब्दी के अन्त में ईरानी शिया विद्वान मीर फतेह उल्लाह शिराजी (1588) ने अकबर का दरबार ज्वाइन किया । वे तार्किक विज्ञान (Ethics, Math, Astronomy, Medicins logicete) के विद्वान थे। शिराजी के आने से तार्किक विज्ञान ने विचार लायक बातें कहीं जिससे रूढ़ीवादी उलेमा से दूरी बनी।[2]

अतः कहा जा सकता है कि मुगल सम्राटों ने समय–समय पर शिक्षा के प्रसार की ओर बराबर ध्यान दिया जैसे कि औरंगजेब ने अपने शासन काल के प्रारम्भ में ही गुजरात के दिवान मुकरम खान को आदेश दिया कि सभी विद्यार्थियों को, विभिन्न मदरसों के अध्यापकों व शिक्षाविदों की संस्तुति पर आर्थिक सहायता दी जाय। बाबर ने सैयद अकबर अली को सार्वजनिक निर्माण विभाग सौंपा और आदेश दिया कि वह मकतबों व मदरसों का निर्माण करें । इस काल में मुस्लिम शिक्षा प्राप्त करने के अनेक स्त्रोत और संस्थाएँ थी। उत्तर भारत में कश्मीर भी मुगल काल में शिक्षा का एक महान केन्द्र था। अकबर ने वहाँ के विद्वानों को धन देकर शिक्षा का प्रचार करने में उनकी सहायता की, जौनपुर भी शिक्षा का सुप्रसिद्ध केन्द्र था। यहाँ पर अनेक मदरसे थे। इस प्रकार स्पष्ट है कि मुगल काल में सम्राटों की रूचि मुस्लिम शिक्षा के लिए शिक्षा प्रसार करने में थी और वे अपने इस उत्तरदायित्व के प्रति सदैव जागरूक रहें।

ब्रिटिशकालीन मुस्लिम शिक्षा

18 वीं सदी में भारत से हिन्दू और मुस्लिम शिक्षा केन्द्र लुप्तप्राय हो गये थे। देश मे अनेक राजनैतिक उथल–पुथल के कारण ऐसी अवस्था हो गयी थी कि शिक्षक और विद्यार्थी दोनों ही विद्या उपार्जन में न लग सके । 21 फरवरी 1784 को लिखे एक पत्र में वारेन हेस्टिंग्ज ने कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स का ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित किया कि उत्तर व दक्षिण के सभी प्रमुख नगरों में विद्यालय, धन, जन और भवन सभी प्रकार के अभाव में क्षीण अवस्था में थे।[3] यद्यपि कम्पनी 1765 से राज्य करने लगी थी। कम्पनी ने पूर्वी (Oriental Learning) विद्या के प्रसार के लिए कुछ निरूत्साह से प्रयत्न किये। 1781 में वारेन हेस्टिंग्ज ने कलकत्ता में मदरसा आलिया मुस्लिम अभिजात वर्ग को शिक्षा देने के लिए स्थापित किया जिसमें अरबी व फारसी का अध्ययन किया जाता था।[4] इसकी स्थापना मुस्लिम समुदाय के लाभ के उद्देश्य से नही बल्कि स्वयं के हित के लिए ही किया क्योंकि कम्पनी को अपनी प्रशासनिक आवश्यकताओं के लिए ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता थी जो संस्कृत ,फारसी और अरबी भाषा का ज्ञाता हो। ऐसे लोग अंग्रेज न्यायाधीशों के साथ परामर्शदाता के रूप में बैठ सके और हिन्दू तथा मुस्लिम कानून की व्याख्या कर सकें। भारतीय रियासतों के साथ पत्र व्यवहार करने के लिए राजनैतिक विभाग को फारसी पढ़े लिखे लोगों की आवश्यकता थी। भूमि कर विभाग में देशी भाषाओं के ज्ञाताओं की आवश्यकता थी। ऐसा लगता है कि यह बाटों और राजकरों की नीति से प्रेरित होकर किया गया था क्योंकि 1781 में बनारस के ब्रिटिश रेजिडेन्ट श्री डंकन के प्रयत्नों के फलस्वरूप बनारस में एक संस्कृत विद्यालय खोला गया जिसका उद्देश्य "हिन्दुओं के धर्म , साहित्य और कानून का अध्ययन और प्रसार करना था।[5]" वारेन हेस्टिंग्ज और मिण्टों की नीतियाँ निर्णायक थीं– अर्थात पाश्चात्य विज्ञान और ज्ञान[6] का प्रसार इन्हीं भाषाओं के माध्यम से किया जाये।

19 वीं शताब्दी के आरम्भ तक देशी पद्धति का प्रमुख स्थान बना रहा, परन्तु उसके बाद परम्परागत देशी पद्धति को हटाकर उसके स्थान पर आधुनिक शिक्षा पद्धति का विकास किया गया। नवीन और प्राचीन के संघर्ष में आधुनिक शिक्षा के समर्थकों को सफलता प्राप्त हुई । ब्रिटिश शिक्षा पद्धति को अपनाने पर बल दिया गया तथा देशी पद्धति की समाप्ति को उचित समझा गया। शिक्षा नीति के निर्माण में अंग्रेजों ने इस सिद्धान्त का अक्षरशः पालन किया कि "यदि किसी देश को दास रखना है तो उसके साहित्य और संस्कृति का विनाश कर देना चाहिए।[6] मुगल साम्राज्य की शक्ति क्षीण होने तथा ब्रिटिश साम्राज्य की शुरूआत के साथ दारूल इस्लाम का खात्मा शुरू हो गया । मुस्लिम सम्राटों द्वारा जिन पदों पर उलेमाओं को नियुक्त किया जाता था, ब्रिटिश काल में उसे खत्म कर दिया गया।

भूमि सुधार के तहत अंग्रेजों ने 1858 से पहले जितने भी जमीन मदरसों एवं मुस्लिम शिक्षकों व विद्वानों को दी गयी थी उन जमीनों को अधिग्रहीत करना शुरू किया जिसमें वैसे मदरसे भी थे जो गरीब बच्चों को शिक्षा देते थे वे सभी ले लिए गये। साथ ही वृहद मात्रा में राज्यों के ऊपर कर

थोपे गये थे। उसमें भी मदरसाओं को जो अनुदान पाते थे उन सभी के ऊपर प्रभाव पड़ा और खत्म होते गये।[7]

1935 के अधिनियम द्वारा प्रान्तों में द्वैध शासन का अन्त हो गया परिणाम स्वरूप प्रान्तीय स्वशासन की स्थापना के कारण शिक्षा विभाग मंत्रियों के हाथों में पूर्णरूप से आ गया। इस काल में माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में मातृभाषा, शिक्षा का माध्यम बन चुकी थी। बहुत से विषय जिन्हें मातृ भाषा नहीं पढ़ाया जा रहे थे, ये विषय थे रसायन शास्त्र, वनस्पति विज्ञान , बीजगणित, ज्यामितीय व भौतिक शास्त्र आदि। शिक्षा की सार्जन्ट योजना (1944) जिसमें 6–11 वर्ष के बच्चों के लिए निःशुल्क व अनिवार्य शिक्षा दिये जाने की योजना थी।

आधुनिक शिक्षा का दुर्भाग्यपूर्ण प्रभाव यह हुआ कि इससे हिन्दू व मुसलमानों के बीच वैमनस्य बढ़ा। मुस्लिम वर्ग के बहुत सीमित अंश ने आधुनिक अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की और वह राजनीति के प्रति उदासीन रहा । उदार राष्ट्रवाद से बहुत कम मुसलमान प्रेरित हुए। इसका सबसे महत्वपूर्ण कारण यह था उनमें शिक्षा का अभाव। अतः प्रारम्भिक मुस्लिम नेताओं ने अपने सहधर्मियों के पिछड़ेपन की समस्या को समाप्त करने पर ही अधिक ध्यान दिया। राष्ट्रीय हित के सम्बन्ध में प्रारम्भिक मुस्लिम नेता इतने सचेत नहीं थे, जितने अपने सहधर्मियों की प्रगति के प्रति थे। वे शिक्षा में समानता, व्यवसायों के समान अवसरों को प्राप्त करने के इच्छुक रहे। इस प्रकार अंग्रेजी शिक्षा हिन्दू व मुस्लिम जातियों के बीच की खाई को स्थाई रूप से भरने में असफल रहीं। हिन्दुओं की बड़ी संख्या ने आधुनिक शिक्षा प्राप्त कर सरकारी सेवाओं और व्यवसायों को प्राप्त किया जिससे मुस्लिम वर्ग में असन्तोष बढ़ा जो राष्ट्र हित के लिए हानिकारक किन्तु ब्रिटिश शासन के लिए सहायक सिद्ध हुआ।

अन्ततः शिक्षा के इतिहास की विवेचना करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत के सभी प्रान्तों तथा सभी वर्गों तथा जातियों में शिक्षा का विकास एक समान नहीं हुआ। कायस्थों तथा ब्राह्मणों में शिक्षा की परम्परा आरम्भ से ही थी जिन्होंने नई शिक्षा को सबसे पहले अपनाया था। उच्च शिक्षा प्राप्त पुरूषों की संख्या महिलाओं की तुलना में कहीं अधिक थी। यह सच है कि आधुनिक शिक्षा ने भारतीयों के लिए आगे बढ़ने तथा सम्पर्क के अन्य दरवाजे खोले जो अंग्रेजों की देन है। इससे कहीं ज्यादा यह सत्य है कि ये अंग्रेज शासक शिक्षा के क्षेत्र में जो भी प्रयास किये वह केवल और केवल अपने हित को ध्यान में रखकर ही किया जो उन्हें लाभप्रद हो सके न कि हम भारतीयों की भलाई और न उत्थान के लिए किया बल्कि अपना उल्लू सीधा करने के लिए ही किया। अरबी, फारसी या संस्कृत के जो विद्यालय खोले इसमें भी उनके हित थे।

स्वतंत्र भारत में मुस्लिम शिक्षा– स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् संविधान का निर्माण किया गया तब उसमें अल्पसंख्यकों के हितों से सम्बन्धित आवश्यक प्रावधान किया गया है। स्वतंत्र भारत की प्रथम राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968 में 17 कार्यक्रमों को सम्मिलित किया गया था जिसमें से एक कार्यक्रम "अल्पसंख्यकों की शिक्षा की व्यवस्था" भी थी। 1979 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति में भी था कि अल्पसंख्यकों की शिक्षा के लिए उपयुक्त व्यवस्था की जाये। इन समुदायों को अपने विद्यालय खोलने की सुविधा दी जाय। वर्तमान समय में मुस्लिम शिक्षा के लिए मदरसा के अलावा अल्पसंख्यकों के सामान्य विद्यालय भी देखने को सहज मिल जाते हैं । राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में इनके लिए कोई विशेष प्रावधान नहीं था जिसमें 1992 में इस के शिक्षा नीति में संशोधन कर इनकी शिक्षा को बढ़ावा देने वाले प्रावधान सम्मिलित कर दिया गया। सरकार ने 1992 से पिछड़ी जातियों को आरक्षण प्रदान किया है। आधिकांश मुस्लिम जातियां पिछड़ा वर्ग में ही आती है जिनमें शिक्षा का प्रायः अभाव था जो पिछड़ा वर्ग में नहीं आते वे शैक्षिक दृष्टि से अच्छी स्थिति में थे या हैं। आरक्षण मिलने से मुस्लिम समाज को लाभ तो पहुँचा है परन्तु अपेक्षा के अनुरूप नहीं। अतः और कुछ किये जाने की अपेक्षा है ताकि उनमें शिक्षा का स्तर अन्य समुदाय के समान हो जाये इसके लिए अभिप्रेरित करने की जरूरत है और इनके नकारात्मक सोच को बदलने की जरूरत है। केन्द्रीय मानव विकास संसाधन मंत्रालय ने लगभग 12000 मदरसों का आंकड़ा 2002 में दिया। केन्द्रीय गृह मंत्रालय –31857 मदरसे वर्ष 2003 एक अग्रणी मुस्लिम पेपर ने उपरोक्त आंकड़ों पर क्लेम किया कि यहाँ लगभग 125000 मदरसे भारत में हैं।[10]

सन्दर्भ ग्रन्थ–

1. प्रो0 राधे श्याम – मध्यकालीन प्रशासन समाज और संस्कृति – पेज 295
2. योगेन्द्र सिकन्द – बैस्ट्रियन ऑफ द बिलीवर्स मदरसा एण्ड इस्लामिक एजुकेशन इन इण्डिया – पेज 43
3. बी0 एल0 ग्रोवर यशपाल – आधुनिक भारत का इतिहास – पेज 254
4. बी0 एल0 ग्रोवर यशपाल – आधुनिक भारत का इतिहास – पेज 254
5. बी0 एल0 ग्रोवर यशपाल – आधुनिक भारत का इतिहास – पेज 254
6. रामलखन शुक्ल – आधुनिक भारत का इतिहास – पेज 140
7. योगेन्द्र सिकन्द – बैस्ट्रियन ऑफ द बिलीवर्स मदरसा एण्ड इस्लामिक एजुकेशन इन इण्डिया – पेज 61
8. रामलखन शुक्ल – आधुनिक भारत का इतिहास पेज – 153
9. योगेन्द्र सिकन्द–बैस्ट्रियन ऑफ द बिलीवर्स मदरसा एण्ड इस्लामिक एजुकेशन इन इण्डिया – पेज 65
10. योगेन्द्र सिकन्द बैस्ट्रियन ऑफ द बिलीवर्स मदरसा एण्ड इस्लामिक एजुकेशन इन इण्डिया – पेज 95

✦✦✦

*(एम0फिल0 लोक प्रशासन)
लखनऊ विश्वविद्यालय
लखनऊ

शोध-१८

वैदिक ग्रन्थों एवं उपनिषदों में भार्गवेय परशुराम

रजनीश पाण्डेय*

'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्' के अक्षरे (पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध के) भगवान् परशुराम ही हैं। 'ऋचो च यजुषां च एकशेषः ऋक् तस्य पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध रूपे अक्षरे द्वे ऋग्यजुषेक्षरे'। इसलिये तो इस ऋचा में कहा है। जो इस अर्थ को नहीं जानता वह वेद पढ़कर क्या करेगा? यही भाव अथर्ववेद के व्रात्यकाण्ड 15–3 पूरे में पूरा दिया है, संख्या भी दे रखी है। उपनिषदों ने ऋचो अक्षरे के अर्थ में केवल इतना ही लिखा है– 'ऋचो द्वे अक्षरे'। ये 'द्वे अक्षरे' 50 तत्त्वों के दो अर्द्धों पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध से सम्बन्ध रखते हैं। ये 'द्वे अक्षरे' पूर्वार्द्ध के 24 स्वर और ऊष्माण है, 25वाँ ऊँ है, उत्तरार्द्ध के 25 पंचवर्गीय व्यंजन हैं। तत्त्वों के प्रतीकाक्षर का अक्ष हैं। पर इनकी कुल संख्या 43,20,000 (तिरालिस लाख बीस हजार) पूरे या 8,64,000 (आठ लाख चौसठ हजार) अर्द्ध है। इस समूह का नाम (व्रतानां समूहो व्रात्यः) व्रात्य है, प्रत्येक अक्षर का नाम व्रत है। इसीलिए अथर्ववेद 'ऋचो अक्षरे' की आक्षन्दों में इस व्रात्य को बैठने की आज्ञा देता है। ये 43,20,000 (तिरालिस लाख बीस हजार) अखिल देवताओं की संख्या है, इसीलिए 'ऋचो अक्षरे' में सब देवों या तत्त्वों या व्रतों का निवास कहा गया है और उसे व्रात्य। यहाँ 'ऋचो अक्षरे' के 'ऋचो' शब्द में 'ऋचां यजुषां च एकशेषः ऋक् तयोर्ऋचो' (432000000) चार अरब बत्तीस करोड़ अक्षर हैं (पूरे)। दोनों के पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध के आधे इतने हुए।

'स एतैः क्षुप्तः' न कस्यचन वेद न मनसा संकल्पयति न वाचान्नस्य रसं विजानाति.....सर्वभग्निमनुविभवत्सथ यदेक एव तस्मादेका। तदाहुः। एको मृत्युर्वहवा3 इति। एकश्च बहवश्चेति हव्रूयात् । यदहासावमुत्र तेनैकोऽथ यदिह प्रजासु बहुधा व्याविष्टस्तेनो बहवः' (शतपथब्राह्मण 10–5–2–15–16)।

छान्दोग्योपनिषद् ने मधु के उदाहरण में श्वेतकेतु से सत् की व्याख्या में कहा है, यथा– 'सौम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्यानां वृक्षाणां रसान् समवहारमेकतां रसं गमयन्ति।।1।। ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह इति।।2।। त इस व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतंगो वा दंशो वा मशको वा यद्यद् भवन्ति तदा भवन्ति।।3।। स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (6–7)।

हमारे शास्त्रों में चार युग माने जाते हैं, उनके वर्षों का कुल योग 432000 वर्ष है। यह संख्या वैदिक है, जिसकी चर्चा वेदों की गई है। चार युग जगती ब्रह्म के चार बाद 48 तत्त्व के हैं। कुल अर्द्ध वर्ष तो 864 000 (आठ लाख चौसठ हजार) होते हैं। अतः जगती के चार पदों से पूरे षडष्टक या सप्तकों का प्रतिनिधित्व होता है। वे सब अहोरात्र के एक रूप में हैं। चारों पाद के विकास के वर्षों का अनुपात 1, 2, 3, 4 स्थानों के विपरीत क्रम से या 4, 3, 2, 1 है। वही अनुपात उन चार युगों के वर्षों का है। यदि 432000 (चार लाख बत्तीस हजार) वर्षों का इस अनुपात में विभक्त किया जाय तो प्रथम सप्तक या युग में 4320008x10=1296000 वर्ष, तृतीय युग या सप्तक में 432000, 432000x2/10=764000 वर्ष और चतुर्थ युग में या सप्तक में 432000x1/10=432000 वर्ष होते हैं। इनके कुल योग को 4320000 (तिरालिस लाख बीस हजार) को हजार से गुणा किया जाता तो 4,32,00,00,000 (चार अरब बत्तीस करोड़) वर्षों में पूर्ण अहोरात्र या एक कला माना जाता है। प्रत्येक युग 12, 12 तत्त्वों का है। यह गीता और मनुस्मृति के अल्पपाठान्तर के श्लोक से पुष्ट है।–

सहस्रयुगपर्यन्त महर्यद् ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तातेऽहोरात्रविदो जनाः।।
–(गीता 8–17, मनुस्मृति–2)।

इस श्लोक में वर्षों की संख्या 864 0000000 (आठ अरब चौसठ करोड़) है, दिन 4320000000 (चार अबर बत्तीस करोड़) रात 4320000000 (चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष। ये दिन रात बारह–बारह घण्टे के पूरे 4320000000 (चार अरब बत्तीस करोड़) वर्ष ये तत्त्वों के पूर्वार्द्ध–उत्तरार्द्ध हैं। युगों के नाम उनके अनुपातीय अंकों के आधार पर रखे गये हैं। जो दोनों काम करते हैं, अनुपातीय अंक उद्बोधन और नाम का संकेत भी। सत्ययुग चार अनुपात का युग है, वाग्धेनु के चार स्तन या पाद हैं। त्रेतायुग 3 अनुपात का युग है, द्वापर दो अनुपात का, कलि एक कल का युग है। द्वापर में या चतुर्थ नृषद् सप्तक में रोहिणी नामक नक्षत्र अष्टमी, आदित्य में सोम, विष्णु, वा कृष्ण का जन्म होता है, जो 26वाँ तत्त्व है, कलियुग 36वें से 48वें तत्त्व तक रहेगा। यह अष्टम आदित्य रूप विष्णु कृष्ण यज्ञतत्त्व अदिति (देवकी) के आठ पुत्रों में अन्तिम अष्टम पुत्र हैं, इसका नाम मार्तण्ड, पुरुष पशु, हस्ती आदि भी है। परशु नाम वेदिया या द्वितीय सप्तक का, 9वें से 16वें तक के तत्त्वों का है (अथर्ववेद 7–3–28)। यही रूद्र का सप्तक है, रूद्र के परशु के टुकड़े से परशुराम का परशु बना है, परशुराम भार्गवेय हैं–'भृगुर्वारुणिः'। अतः वरुण के आधार पर परशुराम का स्थान भी वहीं पड़ता है जो सोम का, विष्णु का है। दशरथ 25वें 10 तत्त्वों का नाम है– अश्विनो दशमो ग्रहः। इसलिए 'राम' नाम गायत्री के पुरुष रूप पति का है– 'गीते रमते यायते' इत्यादि। वैसे वेदों में ये सब आते ही हैं

(ऋग्वेद 10–3–14)। लोमश ऋषि के लोम भी उक्त संख्या के योग के लोम हैं लोमश व्रात्य या योग तथा सम्वत्सर ब्रह्म अनन्त अमर है। इन्हीं का नाम समिध भी है, इतने समिध व्रात्य हैं। 'त्रिसप्त समिधः' व्रात है, सब समिध व्रत है।

वैदिकों के केवल दो दर्शन हैं–सांख्य और योग। इन्हीं दर्शनों का नाम वेदान्त भी है, जैसा कि श्वेताश्वतर उपनिषद् ने पूरे सांख्य योग का वर्णन देने के अन्त में (अध्याय 6–19) लिखा है कि यह सांख्य योग का ही ज्ञान वेदान्त में परम गुह्य है, जैसे–'वेदान्ते परमं गुह्यं इत्यादि। ये दोनों एकदम एक–दूसरे से विपरीत क्रम को बतलाने वाले तत्त्व हैं। दर्शन का आरम्भ योग से होता है, योग युगों या व्रतों का होता है। युग चार हैं, नाना प्रकार के युगों के वर्षों का व्रत और व्रतों के समूह का नाम व्रात है। कुल वर्ष संख्या 8640000000 (आठ अरब चौसह करोड़) है, यह योग है। इसी का नाम व्रात्य है। योग और व्रात्य नाम पर्यायवाची हैं। यही सम्वत्सर व्रह्म है, नाना नामों का व्रह्म है। इसके विकास का क्रम पूर्व में प्रदत्त 25 तत्त्वों की सरणि में दिया है (जैसे–1x760.2x360), यह संख्या दिनों में है। जैसे एक तत्त्व में 7640000000 (आठ अरब चौसह करोड़) विभाग, दूसरे तत्त्व में 4320000000 (चार अरब बत्तीस करोड़) 48=180,00,000 (एक करोड़ अस्सी लाख) विभाग है। प्रत्येक तत्त्व के विकास में 180,00000 (एक करोड़ अस्सी लाख भागों का विकास होता है, जो अन्त में 8640000000 (आठ अरब बत्तीस करोड़ हो जाते हैं। यह तो रहा सांख्य या संख्याओं के क्रम से सृष्टि का विकास। इसमें ब्रह्म का ज्ञान उत्तरोत्तर क्षीण होकर कुहू वन जाती है, 48वें तत्त्व में। उस ब्रह्मज्ञान की ज्योति जागृत करने के लिए उलटे क्रम से तत्त्वों का एक–एक करके पूर्व–पूर्व में लय करना पड़ता है। उत्तरार्द्ध में कृष्णपक्ष है, सोमरूप दिव्य शरीरी चन्द्रमा की क्षीण ज्योति का धुंधला प्रकाश रहता है, उस पक्ष में 4320000000 (चार अरब बत्तीस करोड़) तत्त्व रूप तारों के बीच हमारा सोमात्मा दिव्य शरीर ही ज्ञान का दीपक बनता है। हमारे पूर्ण भौतिक शरीर में 864 0000000 (आठ अरब चौसठ करोड़) तारे रूप तत्त्व हैं। उसमें सोमात्मा रूप चन्द्र की ज्योति है। जब योगी सोम को पा जाता है, तब वह इन तारों को क्रमशः पूर्वार्द्ध के दिन रूप अग्नि के प्रकाश में अस्त करने लगता है। यह स्थिति 25वें से प्रथम तक में आती है। सूर्योदय 25वाँ तत्त्व है, उसे या इस सूर्यरूप काम को अस्त करके, भौतिक तारों की समाप्ति कर देनी पड़ती है, फिर भी 4,32,00,00,000 .(चार अबर बत्तीस करोड़) आध्यात्मिक तारे रह जाते हैं। उनके 180,00,000 (एक करोड़ अस्सी लाख) तारों को एक–एक तत्त्व के क्रम से प्रत्येक तत्त्व में लय करके, अन्त में व्रात्य या योग रूप सम्वत्सर ब्रह्म ज्योति का अनुभव करना पड़ता है। जो क्रम योगी के वैयक्तिक ब्रह्माण्ड में घटित होता है, यही अखिल ब्रह्माण्ड के प्रलय काण्ड में भी चलता है। यही सांख्य और योग का अन्तर है, सांख्य क्रमिक विकास देने वाला दर्शन है तो योग, क्रमिक प्रलयकारी, ह्रासकारी, पर ज्ञान ज्योति देने वाला है। जो व्यक्ति इस सांख्य योग को या ऋचो अक्षरे (पूर्वार्द्ध–उत्तरार्द्ध) के तत्त्वों को व्रात्य या योग में (परमेव्योमन्=अर्का) नहीं जानता, तो वह वेदों को व्यर्थ में पढ़कर क्या करेगा? शुद्ध बुद्ध ब्रह्म पुराण से यह अक्षर ब्रह्म या शब्द ब्रह्म परे का तत्त्व है, इसमें इन अक्षरों या पुरुषों या कलाओं या स्वभावों या बीजों का लय या प्रलय या एकात्म्य हो जाता है अतः वह पुरुषोत्तम उत्तम, परमात्मा और ईश्वर कहलाता है। सारी सृष्टि क्षर है। अतः गीता ने कहा है–

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुंरुषोत्तमः ।।
(गीता 15–18)

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाकृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य विमर्त्यत्यय ईश्वरः।।
(गीता 15–17)

इसी उद्धरण के रेखांकित भाग में इस मत को वैदिक मन के नाम से घोषित किया गया है।

ऋग्वेद, अथर्ववेद, शतपथब्राह्मण, छान्दोग्योपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद् तथा गीतादि से समर्थित यह लेख है।

✦✦✦

*शोध–छात्र
म.गां.काशी विद्यापीठ,
वाराणसी

शोध-१८

नागार्जुन साहित्य में व्यंग्य

विनय कुमार झा*

साहित्य के शैलीगत रूपों में व्यंग्य का अपना एक विशिष्ट स्थान है, जिसके साहित्यिक और सामाजिक महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता। साहित्य के क्षेत्र में इसकी दीर्घ परम्परा रही हैं। इस परम्परा में नागार्जुन का अपना एक विशिष्ट स्थान हैं। इन्होंने अपनी रचनाओं में बहुत सी सफलता के साथ व्यंग्य का प्रयोग किया है, नागार्जुन ने प्रायः अपनी सभी रचनाओं में व्यंग्य की छौक मारी हैं। यह व्यंग्य ही है जो उनके साहित्य को धारदार और सम्प्रेषणीय बनाने का काम करता है। नागार्जुन साहित्य में व्यंग्य की चर्चा उनकी भावुक संवेदनशीलता, संलग्नता और जनता के प्रति प्रतिबद्धता के संदर्भ में रखकर ही देखी जानी चाहिए। नागार्जुन ने व्यंग्य को कभी भी हास्य के सीमित परिवेश में बॉधकर नहीं रखा, वरन वे उसे सतत् खुली प्रजातान्त्रिक भूमि प्रदान कराते रहे।

भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने जिस ढंग से व्यंग्य को परिभाषित किया है, नागार्जुन ने ठीक उसी के अनुरूप अपने साहित्य में व्यंग्य को जगह दी है। ऐसा माना जाता है कि व्यंग्य शब्द की उत्पत्ति 'अंज्' धातु में 'वि' उपसर्ग और ण्यत् प्रत्यय लगाने से हुई है। यह शब्द मूलतः संस्कृत भाषा का है। व्यंग्य के विविध रूप हैं जैसे–ताना, बोली, चुटकी, उपहास, परिहास, वाक्–वैदग्ध्य, पैराडी, वक्रोक्ति, प्रहसन, उपालम्भ, कटाक्ष, आक्षेप, स्वांग, ठिठोली, चुहल, भड़ैती, मजाक, ठाकुर सुहाती, मसखरी, दॉत–निपोरी और खिसकड़ी आदि।

उपर के सभी रूपों में साहित्यिक व्यंग्य एक तरह की हास्यपूर्ण वक्रोक्ति है, जिसमें मजा लेना और प्रहार करना ही दो मुख्य लक्ष्य होता है। व्यंग्य के संबंध में अपनी समझ प्रस्तुत करते हुए रोनाल्ड वाउलन ने कहा कि–''व्यंग्य में एक गहरी समझ रहती है, इसका कहीं भी निरूद्देश्य प्रयोग नहीं किया जाता।''[1]

रोनाल्ड की उपर्युक्त परिभाषा व्यंग्य को सोद्देश्यपूर्ण प्रभावशाली और गहरी समझ के साथ प्रस्तुत करता है। डॉ. जानसन ने व्यंग्य के संबंध में अपने विचार प्रस्तुत किये हैं–''व्यंग्य एक कविता है जिससे दुष्टता और मूर्खता पर अंकुश लगाया जा सकता है।''[2] अर्थात् व्यंग्य से समाज की बुराईयों को नहीं रोका जा सकता वरन उससे बढावा देनेवाले लोगों को डराया जा सकता है। व्यंग्य के संबंध में पाश्चात्य विद्वानों के साथ–साथ भारतीय विद्वानों ने भी अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार ''साफ चोट करने वाली भाषा, बिना कहे सब कुछ कह देने वाली शैली और अत्यन्त तेज प्रकाशन भंगी ही व्यंग्य है।''[3]

द्विवेदी जी द्वारा दी गई उपर्युक्त परिभाषा स्पष्ट नहीं है, क्योंकि व्यंग्य का प्रहार शांत और मीठे ढंग से भी हो सकता है। हिन्दी साहित्य के प्रमुख व्यंग्यकार हरिशंकर परसाई ने व्यंग्य की परिभाषा देते हुए लिखा है– ''व्यंग्य जीवन से साक्षात्कार और जीवन की आलोचना करता है, विसंगतियों, मिथ्याचारों का पर्दाफाश करता है।''[4]

व्यंग्य के संबंध में दी गई उपर्युक्त परिभाषा में व्यंग्य के स्वरूप एवं लक्ष्य दोंनो का बोध हो जाने से कुछ स्पष्ट सी लगती है। व्यंग्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए एक अन्य भारतीय विद्वान् शेरजंग गर्ग ने लिखा है–''व्यंग्य एक ऐसी साहित्यिक अभिव्यक्ति या रचना है जिससे व्यक्ति एवं समाज की कमजोरियों, दुर्बलताओं, कथनी और करनी के अन्तरों की समीक्षा अथवा निंदा, भाषा की टेढ़ी भंगिमा देकर अथवा कभी–कभी पूर्णतः सपाट शब्दों में प्रहार करते हुए की जाती है।''[5]

पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों द्वारा व्यंग्य के संबंध में दिए गए परिभाषाओं की गहन विवेचना करने पर कहा जा सकता है कि–''व्यक्ति एवं वर्ग के अवगुणों, दुर्बलताओं, कथनी–करनी के अंतर, समाज में व्याप्त शोषण, पाखण्ड, जड़ता और अनाचार आदि बुराईयों पर उपहास, वक्रोक्ति, अतिरंजना आदि माध्यमों के प्रहार को व्यंग्य कहते हैं।''

व्यंग्य में आक्रोश, विनोद आदि महत्त्वपूर्ण तत्त्वों के अलावा यथार्थता, प्रतिबद्धता, सजगता, संवेदनशीलता, गंभीरता, समसामयिकता जैसे तत्त्व होते हैं जो नागार्जुन के व्यंग्य की संजीवनी है। उनका व्यंग्य अपनी प्रतिबद्धता और विशिष्टता के कारण कभी भी साधारण हास्य का रूप नहीं ले पाया है। इनकी जनवेदना और जनाक्रोश ही इनके व्यंग्य का आकर्षण है। इन्होंने अपने साहित्य में व्यंग्य के माध्यम से मानव जीवन और समाज के प्रायः हर पहलू को छूने का प्रयास किया है। परिश्रम करने वाले लोगों को हमारा समाज नीच और गंदा समझता है, जबकि ऐसे ही लोगों के ऊपर देश की व्यवस्था टिकी है। नागार्जुन ऐसे मेहनत मजदूरी करने वाले लोगों के पक्षधर है। 'घिन तो नहीं आती' शीर्षक कविता में नागार्जुन कहना चाहते हैं कि साफ–सुथरे मध्यम वर्गीय सभ्य लोगों के संस्कारों की विडंबना तब नंगी हो जाती है, जब कोई मेहनत–मजदूरी करने वाला उसके सम्पर्क में आता है। बुर्जुआ सौंदर्याभिरूचि पर तीखी टिप्पणी करते हुए नागार्जुन कहते है–''पूरी स्पीड में है टराम/खाती है दचके पै दचका। सटता है बदन से बदन। पसीने से लथपथ। छूती है निगाहों को। कत्थई दॉतों की मोटी

मुस्कान। बेतरतीव मूछों की थिरकन। सच–सच बताओं। घिन तो नहीं आती। जी तो नहीं कुढ़ता।''[6]

वास्तव में नागार्जुन एक बेहद विक्षुब्ध रचनाकार हैं। उनकी यह विक्षुब्धता जहाँ एक ओर सामाजिक व्यवस्था से है, वहीं दूसरी ओर वे तात्कालिक परिस्थितियों का भी विरोध करते हैं। उन्होंने तात्कालिक समाज में व्याप्त विषमताओं पर प्रहार करते हुए उन परिस्थितियों को भी सामने लाने का प्रयास किया है जिसके कारण भारतवर्ष काफी वर्षों गुलामी की जंजीरों में जकड़ा रहा। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि लोकतंत्र के महत्त्वपूर्ण प्रहरी चाटुकारिता में लगे हुए हैं। स्वतंत्र हो जाने के बाद भी भारतवर्ष के सत्ता प्रधान लोगों की चाटुकारी प्रवृत्ति में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं आया। यही कारण है कि स्वतंत्र भारत के तात्कालिक प्रधानमंत्री महारानी एलिजाबेथ की चालाकी का भार भारतवासियों के कंधों पर लाद देना चाहते हैं। रानी एलिजाबेथ के स्वागत में खड़ी समझौतावादी नीति पर जोरदार प्रहार करते हुए कवि ने लिखा है–

''आओ रानी, हम ढोयेंगे पालकी
यही हुई है राय जवाहर लाल की
रफू करेंगे फटे–पुराने जाल की
यही हुई है राय जवाहर लाल की।''[7]

नागार्जुन ने अपने साहित्य के माध्यम से समाज के उन ठेकेदारों पर भी प्रहार किया है, जो अपने आपको समाज का शुभचिन्तक कहते हुए विभिन्न सामाजिक विसंगतियों को जन्म देते हैं। इस वर्ग में जमींदार, सेठ, साहूकार, नेता, सरकारी कर्मचारी, शिक्षक आदि आते हैं। वास्तव में नागार्जुन की प्रतिबद्धता केवल जनता के प्रति थी, दरिद्र परिवार में जन्म होने के कारण कवि के मन में शोषित और पीड़ित वर्ग के प्रति स्वाभाविक सहानुभूति है। उनकी कविताओं से यह स्पष्ट संकेत मिल जाता है कि दलित और अपमानित जनता एक न एक दिन अपने अधिकार को प्राप्त करके ही रहेगी। कवि जानते है कि आजादी केवल सत्ता परिवर्तन ही लेकर आयी। किन्तु कवि स्पष्ट शब्दों में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं कि आजादी केवल गिने चुने लोगों की बपौती नहीं है वरन सही अर्थों में इसका लाभ सभी को मिलना चाहिए। कवि कहता है कि–''व्यर्थ हुई साधना। त्याग कुछ काम न आया। कुछ ही लोगों ने स्वतंत्रता का फली खाया। इसलिए क्या लाठी गोली के प्रहार हमने झेले। इसलिए क्या डंडा–बेड़ी डलवाई हाथों और पैरों में।''[8] नागार्जुन का वैचारिक दृष्टिकोण समय–सम्य पर बदलता रहा है। वे कभी जयप्रकाश नारायण और कॉग्रेस का समर्थन करते है, तो कभी दोनों की आलोचना। दरसल वे सदैव जनता का पक्ष लेते हैं, वे किसी वाद या राजनीति से नहीं वरण जनता से अपनी प्रतिबद्धता जोड़ते हैं। वे कहते हैं–''क्या है दक्षिण क्या है वाम। जनता को रोटी से काम।'' वस्तुतः नागार्जुन के प्रहार की योजना सिर्फ बाहर के लिए ही नहीं थी, वरण वे अपने आपको भी हास–परिहास का माध्यम बनाते हैं। उन्होंने लिखा है–''यह वनमानुष। यह सत्तर साला उजबक। उमंग में भरकर सिर के बाल। नोचने लग जाता है। अकेले में बजाने लगता है। सीटीया। आए दिन।''

एक साहित्यकार के रूप में नागार्जुन की स्पष्ट धारणा थी कि साहित्य में व्यंग्य की संरचना साधारण जनजीवन से ही होती है। उनका कहना था–''लोग ऋषिकुल, गुरुकुल, की बात करते हैं। हमको लगता है कि आम जनता के बीच हम खुले मन से जाते हैं, वहीं हमारा गुरुकुल है। ये हँसना, रोना, गाना, चिढ़ना, खिझना यह सब हम उनसे लेते हैं।''[9] एक व्यंग्यकार के रूप में नागार्जुन का मूल्यांकन सही ढंग से होना चाहिए। उनके व्यंग्य के मूल्यांकन में उनकी व्यथा, उनके विक्षोभ, जनता की आकांक्षा और वैचारिक प्रतिबद्धता इन सभी तत्त्वों को ध्यान में रखना होगा। वास्तव में नागार्जुन के व्यंग्य में कितना विक्षोभ है, इसका पता कमलेश्वर की इन पंक्तियों से चल जाता है–''यह शब्द ब्रह्म की बारूद का डिपों है। यहाँ तनहाइयाँ नहीं बिकती। यहाँ शब्दों में अनुभव की बारूद भरी जाती हैं।''[10]

सच्चे अर्थों में नागार्जुन का काव्य संसार समाज की राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक आदि सभी विसंगतियों पर प्रहार करता है। देश की कोई भी ऐसी विसंगति नहीं है जिस पर नागार्जुन की वकिंम दृष्टि न पड़ी हो। उनके काव्य संग्रहों में युगधारा (1953), प्यासी पथराई आँखें (1962), उग्रतारा (1963), पत्रहीन नग्नगाध (1967), तालाब की मछलियाँ (1975), तुमने कहा था (1980), सतरंगे पंखोंवाली (1984), रत्नगर्भा (1984), ऐसी भी हम क्या, ऐसी भी तुम क्या (1985), इस गुब्बारे की छाया में (1989), भूल जाओ पुराने सपने (1994), अपने खेत में (1994), मैं मिलिटरी का बूढ़ा घोड़ा आदि अन्य रचनाओं में भी उन्होंने व्यंग्य लिखा है। 'युगधारा' हिन्दी कविता के विकास में नई मंजिल है। इस संग्रह की कविता दिल पर चोट करने वाली है, इसी तरह के एक अन्य संकलन 'तुमने कहा था' काव्य संकलन में नागार्जुन ने समाज की रुढ़ियों, जाति–पाति की कलुषित, सामाजिक व्यवस्था पर प्रहार किया है, यहाँ से नागार्जुन के व्यंग्यात्मक दृष्टिकोण में भी परिवर्तन दिखाई देता है। नागार्जुन की कविताओं में समाजिक, राजनीतिक परिदृश्य का दैनिक इतिहास दर्ज है। उनकी कविता में प्रगतिशीलता के साथ–साथ मानवीय संवेदनाओं का अद्भुत जुड़ाव हैं। धर्म और जाति–पाति के नाम पर हमारे समाज में लम्बे समय से झगड़ा चल रहा है। इस झगड़े का बहुत लोग बहुत लाभ उठाते हैं। आजकल तो झूठी एकता का ढिढ़ोड़ा पीटा जाता है जबकि सच्चाई यह है कि अब हमारे समाज में भेदभाव कुछ ज्यादा बढ़ गया है एकता का ढिढ़ोड़ा पीटने वालों पर नागार्जुन ने व्यंग्य करते हुए लिखा है–चमार को कोई रविदास कहके। नहीं बुलाता था। फिर भी वह युग था। आपसी एका का। दिनों की सद्भाव यात्रा। बिल्कुल नकली।

एकदम फीकी लगती है।''[11]

वस्तुतः नागार्जुन जितने बड़े कवि है, उतने ही बड़े उपन्यासकार। उन्होंने अपने उपन्यासों में राजनीतिज्ञों, सरकारी अधिकारियों, कर्मखरियों, जमींदारों एवं महंतों आदि पर व्यंग्य किया है। उनके उपन्यासों में बटेसरनाथ (1945), बलचनमा (1952), रतिनाथ की चाची (1953), नई पौधा (1953), दुःखमोचन (1957), वरूण के बेटे (1957), कुंभीपाक (1960), उग्रतारा (1963), इमरतिया (1968), पारो (1973), अभिनंदन (1992), आदि में व्यंग के तीखे स्वर देखे जा सकते हैं। ''बाबा बटेसर नाथ'' उपन्यास में नागार्जुन ने अभावग्रस्त ऐसे समाज का वर्णन किया है जिसमें सरकारी तंत्र और रुढ़िवादी विचारधारा के बीच सामान्य जनता दुःख–दर्द और अभाव की जिन्दगी जीते हैं। रुढ़िवादी विचारों का एक उदाहरण देखें–'रात को काला कौवा चिंखता रहता है कर्र–कर्र। दिन के समय गीदड़, हुआँ–हुआँ करता है।.... अबकी भारी आकाल पड़ेगा देख लेना।[12]

नई पौधे उपन्यास में नागार्जुन ने सामाजिक बुराइयों पर करारा प्रहारा किया है। विवाह जैसी पवित्र समाजिक मान्यता में दलाली और अनमोल विवाह का इन्होंने कड़ा विरोध किया है। एक अन्य उपन्यास 'कुंभी पाक' में शोषित महिलाओं के जीवन में विविध संघर्षों का वर्णन है। नारी शोषित समाज, समाज व्यवस्था पर प्रहार करते हुए नागार्जुन ने कहा है–''मालदार तो मतलब का ही सौदा करता है। पेट भरा हो और टेंट में काफी रकम हो तो हरी–हरी चरना चाहेगा आदमी''।[13]

''वरूण के बेटे'' मछवारा जीवन से सम्बन्धित उपन्यास है जबकि अभिनंदन उपन्यास में इन्होंने भ्रष्ट राजनीतिज्ञों पर प्रहार किया है। नागार्जुन ने अपने उपन्यासों के माध्यम से उन कर्मचारियों और अधिकारियों पर प्रहार किया है, जो वेतन से अधिक चढ़ावे पर ध्यान देते हैं। एक उदाहरण देखें–''लोक सेवा का व्रत जिनकी रंग–रंग को सोख चुका है, जिनके जीवन का दीप हमेशा औरों के लिए जलता रहा, ऐसें कार्यकर्त्ता निर्लिप्त भाव से यदि सार्वजनिक निधि से सौ–पचास लेतें तो इसमें कैसी बुराई।''[14]

कविता और उपन्यास के अलावा अपनी बाल–कहानियों में भी नागार्जुन ने सामाजिक बुराइयों पर प्रहार किया है 'आसमान में चाँद तेरे 'कहानी संग्रह में इन्होंने उस व्यवसाय पर प्रहार किया है जहाँ योग्यता के ऊपर महिमा और सोर्स हावी है–''कभी किसी परीक्षा में फर्स्ट या सेकेण्ड नहीं आई, वहीं अब गर्ल्स कॉलेज में हेड ऑफ़ डिपार्टमेंट है।''[15]

वास्तव में नागार्जुन का व्यंग्य केवल सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था तक ही सीमित नहीं है, वरण उसमें जीवन की समग्रता है। इससे उनके संवेदना की व्यापक भूमि का परिचय मिलता है। जीवन का यथार्थ उनमें आक्रोश उपजाता है और वे व्यंग्य की ओर जाते हैं। उनका व्यंग्य उनके समय से सम्बद्ध है। इस दृष्टि से वे हमारे समकालीन कहे जा सकते हैं। नागार्जुन साहित्य यथार्थ से व्यंग्य की तरफ यात्रा करते हुए केवल अपना आक्रोश ही व्यक्त नहीं करते, बल्कि वे दलितों के प्रति अपनी प्रतिबद्धता भी व्यक्त करते हैं। इनका साहित्य व्यंग्य के क्षेत्र में नई–नई अवधारणाओं की सतत् तलाश करती है। इनके यहाँ कदम–कदम पर नई आशाओं की किरणें टिमटिमाती रहती है। उनके व्यंग्य में जनता की वेदना, संघर्ष और आस्था है। आजकल गंभीर लेखन प्रायः अप्रासंगिक होता जा रहा है। नागार्जुन इस बात को जानते थे। अतः उन्होंने जनता की प्रतिबद्धता को स्पष्ट करने के लिए अपने साहित्य को सदैव व्यंग्य से प्रतिबद्ध बनाते रहें।

सन्दर्भ ग्रन्थ–

1. रोनाल्ड पाउलन– फिक्सन आफ स्टायर, 1967 पृ. 03
2. पेटर पेटरो–मार्डन स्टायर फार स्टडीज, 1982 पृ. 216
3. हजारी प्रसाद द्विवेदी–कबीर (पाचवाँ संस्करण) पृ. 164।
4. हरिशंकर परसाई–सदाचार की ताबीज, 1924 पृ. 10
5. डॉ. शेरजंग गर्ग–स्वातन्योत्तर हिन्दी कविता में व्यंग्य 1973 पृ. 27–28
6. नामवर सिंह, नागार्जुन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1996 पृ0 36
7. नामवर सिंह, नागार्जुन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1996 पृ. 101
8. नागार्जुन–युगधारा, यात्री प्रकाशन दिल्ली, 1953 पृ. 93
9. जनसत्ता– कलकत्ता, 6 नवम्बर 1998 पृ. 05
10. सापेक्ष 34 (जनवरी–मार्च अंक), नागार्जुन विशेषांक 1995 पृ. 39 (कमलेश्वर)
11. नागार्जुन–अपने खेत में, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997 पृ.60
12. नागार्जुन–बाबाबटेसरनाथ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1992 पृ. 59
13. नागार्जुन– कुंभीपाक, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1995 पृ. 80
14. नागार्जुन–अभिनंदन, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, 1992 पृ. 97
15. नागार्जुन– आसमान में चंदा तैरे, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, 1989 पृ. 68।

✦✦✦

*एम.ए. एम.फिल., बी.एड.
मधुराम उ.(+2)वि., ग्वालपाड़ा (मधेपुरा)
बिहार

महाकवि श्रीहर्ष की दृष्टि में काव्यतत्त्व-अलंकार

डॉ० रश्मि मिश्रा*

प्राचीन आचार्यों के मतों के आधार शब्दार्थ-युगल रूपी काव्य के तत्त्वों में रस, गुण, रीति, अलङ्कार, वक्रोक्ति, ध्वनि, औचित्य आदि को महत्त्व प्राप्त है। इनमें से अलङ्कार का सौन्दर्याधायक तत्त्व तथा काव्य के प्राण-तत्त्व के रूप में विवेचन प्राप्त होता है। अलङ्कार के सन्दर्भ में कहा गया है **वैचित्र्यमलङ्कारः**।

तात्पर्य है कि काव्य में वैचित्र्य ही अलङ्कार है। यह वस्तुतः कवि प्रतिभा का नैसर्गिक व्यापार है। जिसके माध्यम से कवि साधारण वस्तु को भी असाधारण बना देता है। भावों की उद्दीप्ति ही अलङ्कार का मूल है जो स्वयमेव वाणी को सौन्दर्यावेशित कर लोकोत्तर रूप प्रदान करती है।

भामह ने अलङ्कार की महत्ता का निर्वचन इन शब्दों में किया है-

न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् ।।[2]

तात्पर्य है कि सहज सौन्दर्य होने पर भी शब्दार्थशरीर वाले काव्य में अलङ्कार के योग से ही चारुता उत्पन्न होती है। अतः जो काव्योचित सौन्दर्यस्रोत हैं वे अलङ्कार हैं और जो अलङ्कार हैं वे काव्योचित सौन्दर्यस्रोत हैं।

इस प्रकार काव्य की अन्तःसत्ता है चारुता, चारुता का स्रोत है अलङ्कार और अलङ्कार का अभिव्यञ्जक है वाणी का वैचित्र्य।

भामह के दृष्टिकोण से काव्य का केन्द्रीय-तत्त्व **चारुता/सौन्दर्य** है और शब्दार्थस्वरूप में लोकोत्तर सौन्दर्य अलङ्कारजन्य है।

वामन ने अलङ्कार शब्द का प्रयोग सौन्दर्य तथा सौन्दर्यसाधन दोनों अर्थों में किया है। सौन्दर्यसाधन के अर्थ में अलङ्कार शब्द का प्रयोग व्याप्य-व्यापक भाव में है। व्यापक अर्थ में अलङ्कार दोषाभाव, गुण तथा अलङ्कार तीनों ही है तथा सीमित अर्थ में मात्र उपमादि शब्दालङ्कार।

वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानने वाले **आचार्य कुन्तक** के मत का आश्रयण भी वस्तुतः अलङ्कार में ही होता है जो इसके सूक्ष्म विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है। उनके अनुसार-

उभावेतौ (शब्दार्थौ)अलङ्कार्यौ तयोः पुनरलङ्कृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते ।।[3]

अतः अलङ्कार्य शब्दार्थ के लिए अलङ्कृति के रूप में कुन्तक को अभिप्रेत वक्रोक्ति नामधेय काव्य की आत्मा अलङ्कार ही है यह स्वतः सिद्ध है।

इसके अतिरिक्त ध्वनिवादियों ने भी अलङ्कार की सत्ता मानते हुए अलङ्कार-ध्वनि को स्वीकृति प्रदान की है। क्रमानुसार औचित्य भी सौन्दर्याधायक होने के कारण अलङ्कार में ही पर्यवसित हो जाता है।

जयदेव ने भी काव्य में अलङ्कार को उच्चतम महत्ता दी है-

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृतिः।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलङ्कृतिः।।[4]

विकास-क्रम : शब्दार्थशरीर काव्य के सर्वस्व अलङ्कार के विकास-क्रम को भरतमुनि (300 ई0पू0 से 200 ई0पू0) से लेकर भिखारीदास (1812-1900 ई0) के **काव्यनिर्णय** के परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है।[5]

महाकवि श्रीहर्ष अद्वैत वेदान्ती थे। अतः उनके काव्य में दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति हुई है। उन्होंने नैषध में जिन शब्दों और अर्थों का समायोजन किया है उनमें अलङ्कार प्राण-तत्त्व के रूप में ही प्रतिष्ठित हुआ है। यद्यपि कवि ने अपने काव्य में मणिमाला सदृश अलङ्कारों का ग्रथन किया है किन्तु ये सभी अलङ्कार उनके काव्य में साङ्ग्च के पुरुष के समान एक प्राण-तत्त्व के रूप में ही प्रतिष्ठित हैं। शब्दालङ्कारों और अर्थालङ्कारों में से महाकवि ने अपने सम्पूर्ण महाकाव्य में लगभग 53 अलङ्कारों के माध्यम से अपनी मनोवृत्तियों को अन्वित कर उक्ति को चमत्कारपूर्ण बनाकर अर्थ को पुष्ट किया है।

वर्णन क्रम में सर्वप्रथम शब्दालङ्कारों को लेते हैं। नैषध के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि महाकवि को अनुप्रास अलङ्कार सर्वाधिक प्रिय है। यही कारण है कि प्रायः सभी श्लोकों में अनुप्रास तथा उसके समस्त भेदोपभेदों का सम्यक्रूपेण निर्वाह किया गया है। अनुप्रास में भी कवि को अन्तिम वर्णों की समता सर्वाधिक प्रिय है जो उन्हीं के शब्दों में स्पष्ट है-

प्रथमचरमयोर्वा----------विलासः।। नैषध-13/54

अनुप्रास प्रयोग में कवि प्रायः ब, व, श, ष, न, ण तथा य, ज, में भेद नहीं करते, इसे श्रुत्यनुप्रास भी कहते हैं। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं-

कुलं सुधांशोर्बृहलं वहन्बृहु।। 1/110
स्मरहरः किममुं **बुभुजे विभुः**।। 4/60
स **विलोक्य बालाम्** ।। 6/13
संबिभ्रति श्रोत्रिय**विभ्रमं** यत् ।। 7/100
पुण्येन मन्ये पुनरन्यजन्म।। 8/33
निश्चित्य **शेषं** तम**सौ** नरे**शम्** ।। 14/13

छेकानुप्रास के कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं-

भ्रमामि ते **भौमि! सर**स्वती.....क**तमः** सुरो**त्तमः**।। 9/51
कल्याणि! कल्यानि .....कर्णयाकर्णतटायताक्षि ।। 8/57
ईशाणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये.....**समज्ञमज्ञम्** ।। 3/64

अन्त्यानुप्रास के कतिपय स्थल-

धार्यः कथङ्कारमहं भव**त्या** वियद्विहारी वसुधैवग**त्या** ।। 3/15
अपां हि तृप्ताय न वारिधा**रा** स्वादुः सुगन्धिः स्वदते तुषा**रा** ।। 3/93
तं कापि मेने स्मरमेव क**न्या** भेजे मनोभूवशभूयमन**्या** ।। 6/6
त्रयीमयीभूतवली विभङ्ग**ा** साहित्यनिर्वर्तितदृग्तरङ्ग**ा** ।। 10/74

कवि की सुकुमार प्रतिभा से प्रसूत अनुप्रास प्रयोग सहज सौन्दर्य से युक्त तथा अर्थगौरव को दृष्टिगत करते हुए ही हुआ है जिससे काव्य-चारुत्व में अतिशय वृद्धि हुई है।

काव्य में चारुत्व प्रदान करने के ही क्रम में यमक का भी आश्रयण हुआ है-

चतुर्दशत्वं कृतवान् .....**चतुर्दश**स्वयम् ।। 1/4
पदैश्चतुर्भिः सु**कृते** स्थिरी**कृते**.....प्रपेदिरे ।। 1/7
अवलम्ब्य दिदृक्षयाम्बरे.....रसालसङ्गतम् ।। 2/66
मौन**मानशे मानसे**वनी ।। 20/13

यमक प्रयोग में भी श, ष, स, य, ज, ण, न का भेद प्रायः नहीं है।

महाकवियों की उक्तिवक्रता ही काव्य में चमत्कार तथा रसनिष्यन्दिनी होती है। अतः श्रीहर्ष ने भी प्रसङ्ग की आवश्यकता के अनुसार प्रायः प्रत्येक अवसर पर श्लेष/काकु वक्रोक्ति का प्रयोग कर काव्य को जीवन्त किया है। वक्रोक्तिजन्य चमत्कार उनके काव्य का प्राण है। स्थल-स्थल पर उनके काव्य में इस वचन-चातुरी के प्रमाण मिलते हैं। वक्रोक्ति के सभी रहस्यों का उल्लेख नैषध में प्राप्य है। काव्य में चमत्काराधान के प्रेमी श्रीहर्ष की वक्रोक्ति के कतिपय विशिष्ट स्थल दर्शनीय है-

मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः....कीदृग्भविता तव क्षणः।। 1/137
धार्यः कथङ्कारमहं भवत्या .....वयसाप्यनेन।। 3/15
स्फुटति हारमणौ.....स मम व्यवधापितः।। 4/109

चमत्कार के चरम रहस्य के मर्मज्ञ श्रीहर्ष के काव्य में सर्वत्र चमत्कार ही है।

अपनी कवित्व-प्रतिभा के विलास के प्रदर्शन के साथ-साथ काव्य में चमत्कार का आधान करने के लिए महाकवि ने श्लेष का सर्वाधिक आश्रयण किया है। श्लेष के माध्यम से अपनी व्यापक मनोवृत्तियों को सीमित शब्दों में बाँधकर काव्य को पोषित किया है। यद्यपि श्लेष के प्रयोग द्वारा उनका पाण्डित्य प्रकट होता है तथापि कवि का मूल उद्देश्य प्रसङ्ग को सार्थकता प्रदान कर उस श्लोक का श्लोकत्व सिद्ध करना है।

काव्य में श्लेषालङ्कार के सर्वाधिक स्थल होने से कतिपय विशिष्ट चमत्कारिक श्लेष के उदाहरण द्रष्टव्य हैं-

इतीरता पत्ररथेन तेन हीणा च हृष्टा च बभाण भैमी ।
चेतो नलङ्कामयते मदीयं नान्यत्र कुत्रापि च साभिलाषम् ।।[6]

पूर्वोक्त पद्य से चार अर्थ निकलते हैं

चेतो न लङ्काम् अयते मदीयं - (1) मेरा चित्त लङ्कापुरी को नहीं जाता।
चेतो नलं कामयते मदीयं - (2) मेरा चित्त नल की कामना करता है।
चेतोनलं कामयते मदीयं- (3) मेरा चित्त अनल की कामना करता है।
च इतोनलं कामयते मदीयं - (4) मेरा चित्त अ-नल(नल-भिन्न)को भी नहीं चाहता।

यहाँ सभङ्गश्लेष के माध्यम से चमत्कार है।

मनस्तु यं नोज्झति.....द्विजराजपाणिग्रहाभिलाषं कथयेद् लज्जा।।[7]

द्विजराज-पाणिग्रहाभिलाषं-(1)चन्द्रमा को हाथ से पकड़ने की अभिलाषा ।
द्विज राज पाणिग्रहाभिलाषं-(2)हे द्विज! राजा नल के साथ विवाह की अभिलाषा।
द्विजराज-पाणिग्रहाभिलाषं-(3)हे द्विजराज! अपने विवाह की अभिलाषा ।

यहाँ भी सभङ्ग श्लेष का चमत्कार है।

स्थितिशालिसमस्तवर्णतां न कथं चित्रमयी बिभर्तु या ।
स्वरभेदमुपैतु या कथं कलितानल्पमुखारवा न वा।।[8]

वर्ण के विभिन्न अर्थ-जाति/रङ्ग/अक्षर रूप वर्ण चित्रमयी-आश्चर्य/आलेख्य; 'मुखारवा'-मुखों से प्राप्त शब्दों वाली/अनेक मुख वालों के शब्दों वाली; स्वरभेद-उदात्त, अनुदात्त भेद/स्वर्ग का अभेद। यहाँ अभङ्ग श्लेष का चमत्कार है।

यथोह्यमानः खलुभोगभोजिना....नलावरूढं वयसैव वेशितः।। 1/32
असाम यन्नाम तवेह...धिक्चेदमस्मद्विबु-धत्वमस्तु।। 10/48

इसके अतरिक्त श्लेषालङ्कार का उच्चतम रूप नैषध के 13वें सर्ग में पञ्चनलों के परिचय में प्राप्त होता है, जो संस्कृत साहित्य में अनुपमेय है। चारों देवता तथा नल के सन्दर्भ में चार-चार श्लोक प्रयुक्त हैं। इनमें प्रयुक्त श्लेष प्रसङ्ग की सार्थकता में पूर्णरूपेण सहायक है। साथ ही उस प्रसङ्ग का प्राण-स्वरूप है। इसमें भी पञ्चनली-वर्णन में प्रयुक्त श्लेष श्रेष्ठतम है-

देवःपतिःविदुषि! नैषधराजगत्या निर्णीयते न किमु न ध्रियते भवत्या।
नायं नलं खलु तवातिमहानलाभो यद्येनमुज्झसि वरः कतरः परस्ते ।।[9]

यहाँ वास्तविक नल का परिचय कराते हुए चार रूपधारी देवताओं को पृथक् किया गया है । इस श्लोक में प्रयुक्त श्लेष को यदि हटा दिया जाये तो श्लोक का श्लोकत्व ही समाप्त हो जायेगा।

श्रीहर्ष उपमा की महिमा से पूर्णतः भिज्ञ थे। अतः उन्होंने नैषध में एक से बढ़कर एक कमनीय उपमाओं का आधान किया है। यद्यपि नैषध में उपमा स्वतन्त्र रूप में तथा अनेक अलङ्कारों के साथ भी प्रयुक्त हुई है तथापि उपमामूलक अलङ्कारों का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। कतिपय दृष्टान्त द्रष्टव्य हैं-

अमुष्य विद्यारसनाग्रनर्तकी .....पृथक् जयश्रियाम्।। 1/5
अजस्रमभ्याससमुपेयुषा.....उदयं दिने दिने ।। 1/17
विवेश गत्वा स विलास...घनच्छायमिवाम्भसां निधिम्।। 1/74

श्लेषोत्थापिता पूर्णोपमा का एक उत्कृष्ट उदाहरण है

धिगस्तु तृष्णा तरलं .....कमलोदयः कियान् ।। 1/130
आलिङ्गतःकमलवत्करकस्त्वयाश्रं...रूचिकञ्चुकितश्चकास्तु।। 11/98
स्वधाकृतं यत्तनयै.....खचिता सुधैव ।। 22/119

उपमा के सभी भेदोपभेद नैषध में प्रयुक्त है। सभी उपमायें प्रसङ्गानुकूल तथा चमत्कार से परिपूर्ण है।

श्रीहर्ष की कल्पना शक्ति अप्रतिम है जिसके माध्यम से उन्होंने नल-दमयन्ती के पूर्वराग से विवाह एवं प्रथम रात्रि पर्यन्त कथानक पर विशाल महाकाव्य का निर्माण कर दिया। अपनी नवीन कल्पनाओं का चमत्कार दिखाने के लिए उन्होंने उत्प्रेक्षा का सर्वाधिक आश्रयण किया है । कुछ विशिष्टतम उत्प्रेक्षा के उदाहरण निम्नलिखित हैं-

यदस्ययात्रासु बलोद्धतं.....पङ्कीभवदङ्कतां विधौ।। 1/8
अजस्रभूमितट.....चेतोभिरिवाणिमाङ्कितैः।। 1/59
पुराकृतिस्त्रैणमिमां.....यशस्तज्जयजं प्रदातुम् ।। 7/15

नैषध के अनुशीलन पर श्रीहर्ष को उत्प्रेक्षा-सम्राट कहने में अत्युक्ति न होगी। उन्होंने स्वयं ही नूतन कल्पना करने में प्रवीण

कवियों को **उत्प्रेक्षा-कवि** की उपाधि दी है-

प्रिये! पश्योत्प्रेक्षाकविभिः.....चषकः।।[10]

जिस प्रकार महाकवि कल्पनाओं के धनी थे वैसे ही वाक्पटु भी थे। यह वाक्पटुता उनकी कल्पना को अतिशय चमत्कृत करती है। अतः उनके काव्य में अतिशयोक्ति का भी एक विशेष स्थान है जिससे महाकवि की अतिशयोक्ति में आस्था स्पष्ट होती है। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं-

अधारि पद्मेषु तदङ्घ्रिणा..... पार्विकशर्वरीश्वरः।। 1/20
स्वरुचारुणया.....माणिक्यमया यदालयाः।। 2/99
यदि त्रिलोकी गणनापरा.....स स्यात् ।। 3/40
अध्याहारः स्मरहरशिरश्चन्द्र.....कीर्तिपूरः।। 12/57

नैषध के अध्ययनोपरान्त अध्येता को यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि नैषधकार कुन्तक के विचित्र मार्ग के पथिक हैं जहाँ कवि अपनी रचना में एक ही अलङ्कार से सन्तुष्ट न होकर अनेक अलङ्कारों की योजना करता है। यही कारण है कि नैषध के लगभग सभी पद्यों में सङ्कर और संसृष्टि अलङ्कार प्राप्त है। सङ्कर और संसृष्टि वहाँ होता है जहाँ एक ही पद्य में दो या दो से अधिक अलङ्कार परस्पर निरपेक्ष या सापेक्ष रूप में रहते हैं। सङ्कर के कतिपय दृष्टान्त निम्नलिखित हैं-

दिगीशवृन्दांशविभूतिरीशिता..निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकाम्।। 1/6
कलसे निजहेतुदण्डजः..... चक्रभ्रममातनोति यत् ।। 2/32
उन्मात्तमासाद्य हरः..... विरहाधिदूनम् ।। 3/98

संसृष्टि के कतिपय उदाहरण-

निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथां.....महसां महोज्ज्वलः।। 1/1
भृशतापभृता.....सन्निधिः।। 2/53
दारिद्र्यदारिद्रविणौघ.....न लोकनाथम् ।। 3/25

उपर्युक्त अलङ्कारों के अतिरिक्त भी अन्य कई अलङ्कारदृष्टान्त, रूपक, निदर्शना, व्यतिरेक, भ्रान्तिमान, सम, विरोधाभास, समासोक्ति, उदात्त, अनन्वय, ससन्देह, तुल्ययोगिता, जाति, अप्रस्तुतप्रशंसा, अपह्नुति, व्याजोक्ति, अनुमान, काव्यलिङ्ग, सहोक्ति, दीपक, विशेषोक्ति, विभावना, परिकर, परिसङ्ख्या, आक्षेप, पर्याय, स्वभावोक्ति, प्रतीप, विषम, अन्योन्य, आशीः, परिणाम, असङ्गति, अर्थान्तरन्यास, भावोदय, अर्थापत्ति, उल्लेख, उपमेयोपमा, मीलन, हेतु, तुल्योगिता, समुच्चय, भावशबलता, असङ्गति, विशेष, पुनरुक्ताभास, प्रशंसा, स्मरण, समाधि आदि का यथास्थान प्रसङ्ग की आवश्यकता के आधार पर कवि ने काव्य में चारुत्व के आधान हेतु प्रयोग किया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि श्रीहर्ष के काव्य में अलङ्कारों का प्रयोग सौन्दर्याधायक तत्त्व मात्र नहीं अपितु प्राण-तत्त्व के रूप में हुआ है।

अतः अलङ्कार सौन्दर्याधायक भी हो सकते हैं और सौन्दर्य-स्वरूप भी। यह विवेचक की दृष्टि पर निर्भर करता है कि वह उन्हें किस रूप में स्वीकार करता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ–

1. नैषध का काव्यशास्त्रीय अध्ययन : डॉ0मथुरा दत्त जोशी ।
2. काव्यालङ्कार : भामह ।
3. वक्रोक्तिजीवितम् : आचार्य कुन्तक ।
4. चन्द्रालोक : जयदेव ।
5. भारतीय काव्यसमीक्षा में अलङ्कार-सिद्धान्त : डॉ0 रेवा प्रसाद द्विवेदी ।
6. नैषध : 3/67 ।
7. नैषध : 3/59 ।
8. नैषध : 2/98 ।
9. नैषध : 13/34 ।
10. नैषध : 22/144

✦✦✦

*एम0ए0,
पी-एच0डी0 (एस0 आर0 एफ0)।

परमिता

लेखकों से–

- 'परमिता' के लिए आपके विचार, सुझाव एवं लेख सादर आमंत्रित हैं। यह आपकी अपनी पत्रिका है अतः औपचारिक निमंत्रण की प्रतीक्षा न करें।
- 'परमिता' नये–नये विषयों, विमर्शों एवं मूल्यों के साथ ही नये एवं कम चर्चित लेखकों के प्रति संवेदनशील है। यह उनका अपना सशक्त मंच सिद्ध हो इसलिए इसमें सहभागी होना ही चाहिए।
- रचनाएँ कागज पर एक तरफ लिखी हुई या टाइप की हुई हों।
- शोध–लेख को कृपया संदर्भों के साथ भेजें तथा उसकी एक प्रति C.D. रूप में भी भेजने का कष्ट करें।
- रचना की मूलप्रति ही भेजें। फोटो स्टेट या कार्बन कापी पर विचार कर पाना संभव नहीं होगा।
- रचना के साथ अपना संक्षिप्त परिचय एवं फोटोग्राफ भी भेजें।
- रचनाएँ मौलिक और अप्रकाशित हों, यदि आपकी भेजी रचना कहीं स्वीकृत हो गयी हो तो कृपया सूचना देवें।
- यदि आप अप्रकाशन की स्थिति में अपनी रचना वापस चाहते हैं तो, रचना के साथ पता लिखा और टिकट लगा लिफाफा भेजें ।
- 'पुस्तक समीक्षा' के लिए पुस्तक की दो प्रतियाँ भेजें।

संपादकीय संपर्क:

N-1/61 R-1, शशिनगर कालोनी, सामनेघाट रोड
नगवाँ, लंका, वाराणसी (उ0प्र0) 221005

शोध-२०

अवध के नवाब और त्यौहार

आनन्द प्रकाश*

अवध में नवाबों का शासन बहुत ही महत्वपूर्ण रहा। नवाबों के एक सौ चौतीस (134) वर्ष के दीर्घकालीन शासन ने अवध को एक विशेष संस्कृति का स्थान प्रदान करने का अवसर दिया। अवध की संस्कृति का अर्थ आजकल उस सांस्कृतिक परम्परा से लिया जाता है जो उस शासन काल में चरम उत्कर्ष पर थी जिसकी कड़ी सआदत खाँ (1722) से प्रारम्भ होकर वाजिद अली शाह (1856) पर सम्पन्न हुई। यह सांस्कृतिक परम्परा वास्तव में भारतीय परम्परा थी यद्यपि इनमें प्राचीन हिन्दू संस्कृति पर ईरानी फारसी का स्पष्ट प्रभाव था। इस परम्परा ने जीवन के सभी क्षेत्रों पर अपना प्रभाव डाला था। दिल्ली के मुगल बादशाहों की परम्परा से लेकर समाज के निम्न वर्ग की मान्यताओं एवं परम्पराओं ने इसके निर्माण में सहायता की।[1]

जीवन को हर्षोल्लास से परिपूर्ण रखने एवं नीरसता से बचे रहने के उद्देश्य से मानव समाज ने आदि काल से ही अनेक त्यौहारों एवं उत्सवों का प्रावधान कर लिया था जो वर्तमान काल में भी परम्परागत रूप में प्रचलित है। नवाबों के काल में समन्वय की प्रवृत्ति के परिणाम स्वरूप अवध में गंगा–जमुनी संस्कृति की आधारशिला पड़ी और समृद्ध हुई। यह गंगा–जमुनी या संयुक्त संस्कृति अवध के शासकों के काल में इस प्रान्त के निवासियों के जीवन के हर क्षेत्र पर पूरी तरह हावी था।[2]

सभी महत्वपूर्ण त्यौहारों के अवसर पर दरबार में भी कार्यक्रम आयोजित किया जाता था एवं इन आयोजनों पर काफी धन खर्च किया जाता था। आसफउद्दौला साठ लाख रुपया प्रतिवर्ष होली तथा बसन्त के जश्न एवं मोहर्रम पर व्यय करते थे।[4] नवाब स्वयं त्यौहारों में भाग लेते थे। इस विषय में हिन्दू और मुसलमान दोनों के त्यौहारों में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं होता था। जिस प्रकार मुसलमानों के त्यौहारों के अवसर पर सरकार की ओर से आयोजन होते थे उसी तरह हिन्दुओं के त्यौहारों पर भी सरकार विभिन्न कार्यक्रमों का आयोजन करती थी। चूँकि अवध के शासक मुसलमान थे इसलिए मुसलमानों के त्यौहारों को सरकार के स्तर से मनाया जाना असाधारण घटना नहीं है, किन्तु मुसलमान शासकों द्वारा हिन्दू त्यौहारों को दरबार में मनाना और सरकारी कोष से बड़ी–बड़ी धनराशि खर्च करना वास्तव में एक असाधारण एवं प्रशंसनीय उदाहरण है।[5]

होली– अवध के शासक होली बहुत ही उत्साह, लगन एवं श्रद्धा से मनाते थे, अवध के शासक स्वयं होली खेलते थे। आसिफउद्दौला के होली खेलने का वर्णन उर्दू कवि मीर तकी मीर की मसनबी दर बचाने में मिलता है।[6]

"होली खेला आसफउद्दौला वजीर
रंग सोहबत से अजब है खुर्द व पीर"

आसफउद्दौला और सआदत खाँ होली के समारोह का आयोजन करते थे और इस समारोह में लाखों रुपये खर्च कर देते थे। लाखों रुपया नकद तथा जड़ाऊ आभूषण और बहुमूल्य वस्त्र लोली स्त्रियों (वेश्याओं) को भेंट स्वरूप देते थे। इसके अतिरिक्त होली के अवसर पर दरबारियों को मूल्यवान वस्त्र भी भेंट किया जाता था।[7] अवध के नवाब वजीरों के समान शहजादा मिर्जा सुलेमान शिकोह भी लखनऊ में अपने दरबार में बड़े धूम–धाम से होली मनाते थे, इसका वर्णन उनके दरबारी शायर इंशा की रचनाओं में मिलता है।[8]

होलिका दहन तथा पूजन के पश्चात् दूसरे दिन प्रातः में अबीर, गुलाल, केसर, कुमकुम तथा पिचकारी में रंग भर कर होली खेली जाती थी। इसमें सभी स्त्री पुरुष, बाल–वृद्ध, सभी ऊँच–नीच के भेदभाव को छोड़कर उन्मुक्त हृदय से सम्मिलित होते थे। सड़कों अथवा गलियों में भीड़ के साथ घूमते हुए होलिहारों पर स्त्रियाँ छज्जे पर से पिचकारी मारती तथा गुलाल छोड़ती थी। इसका वर्णन समकालीन शायर 'रंगीन' की रचनाओं में भी मिलता है।[9] होली खेलते समय मृदंग, शहनाई, झांझ आदि बाजे बजाने का वर्णन मीर तकी मीर की रचनाओं में भी मिलता है।[10] होली के अवसर पर पारस्परिक व्यंग विनोद तथा स्वांग भरने का वर्णन भी समकालीन शायरों की रचनाओं में मिलता है।[11] होली के अवसर पर सामयिक गीत गाने तथा खेल तमाशों का भी आयोजन होता था। समाज में यह दुर्व्यसन भी था कि लोग होली के अवसर पर मदिरा का पान भी करते थे। होली के अवसर पर उच्च वर्ग तथा सम्भ्रान्त परिवारों में एकदूसरे को बधाई देने का भी प्रचलन था। होली के अवसर पर अंग्रेज भी नवाब आसफउद्दौला को बधाई देते थे तथा रंग–बिरंगी आतिशबाजी भेंट करते थे और अन्त में नवाब भी खिलअत तथा इनाम व उपहार भी देते थे।[12]

बसन्त पंचमी– बसन्त के पर्व को भी अवध में धूमधाम से मनाया जाता था। अवध के शासक बसन्त के समारोह की विशेष व्यवस्था करते थे। नवाब वजीर आसफ उद्दौला बड़े हर्षोल्लास के साथ वसन्त का पर्व मनाते थे तथा इस अवसर पर आयोजित कार्यक्रमों पर अधिक धन व्यय करते थे।[13]

वसन्त के पर्व पर मजारों पर नृत्य एवं संगीत के आयोजन की भी परम्परा थी जिसमें हिन्दू तथा मुसलमान समान रूप से भाग लेते थे। इस दिन प्रायः पीले वस्त्र पहनने का प्रचलन था तथा हजारों की संख्या में एकत्र होकर नगर के बाहर लोग पीले कागज की पतंग पीली डोर से उड़ाते थे।[14] चौक में वेश्याओं के कोठे पर भी वसन्त का शमाँ बहुत ही आकर्षक होता था जिसको देखने के लिए कोठों के नीचे भीड़ लगी रहती थी।[15] अवध में वसन्त एक राष्ट्रीय पर्व के रूप में मनाया जाता था, जिसको मनाने में थोड़ी सी भी लापरवाही बरतने पर लोगों को उलाहना सुनना पड़ता था।

दशहरा– आश्विन मास के शुक्ल पक्ष की दशमी को विजय सूचक मानकर इस तिथि को पौराणिक काल से भारत में विजय दशमी के रूप में मनाया जाता था। दशहरे के पर्व पर भी अवध के नवाबों के समय में बड़ी धूम होती थी। इस पर्व पर हिन्दुओं के साथ मुसलमान भी नीलकंठ के दर्शन हेतु विभिन्न मंदिरों एवं स्थानों पर जाते थे। विशेषकर

नवाब तथा अमीर लोग अपने घोड़े और हाथियों को मेंहदी लगाकर, चांदी व सोने के आभूषणों एवं सामानों और स्वर्णजड़ित झूल एवं अमारियाँ (उस काल में विशेष कोठरी जैसी सवारी थी) अपने सैनिक दस्ते एवं उच्च पदस्थ मनसबदारों के साथ नीलकंठ का दर्शन करते थे। शाम के समय नृत्य एवं रंग–राग की सभा का भी आयोजन होता था।[16] दशहरे के समय में मुस्लिम बच्चे भी हिन्दू बच्चों के साथ टेसू राय की सूरत बनाकर इसे लकड़ी पर लटकाकर संध्या के समय नित्य हिन्दी के दोहे पढ़ते हुए द्वार–द्वार जाकर पैसा मांगते थे और जो पैसा एकत्रित होता था, उससे दशहरे के विशेष दिन मिठाई खरीद कर आपस में बांट लेते थे।[17]

दीपावली– दीपावली भी अवध के नवाबों के काल में बहुत चहल पहल एवं उत्सव का त्यौहार था। नगर की सजावट उत्साह एवं लगन से की जाती थी। लखनऊ में समस्त बड़े मोहल्ले दुल्हन की तरह सजाये जाते थे। लक्ष्मी और गणेश की पूजा की जाती थी। चौका पूजा जाता था तथा दीवाली भरी जाती थी। दीपावली को रात्रि में महिलाएँ बच्चों के नाम से अलग–अलग मिट्टी के खिलौने मांगती थी और तरह–तरह की मिठाइयाँ एवं खांड (चीनी) के खिलौने तथा लाई चूड़ा के साथ पहले पूरे घर में दिया जलाकर प्रकाश करती तत्पश्चात् घर के उस भाग को जहाँ खिलौने मिठाइयों के साथ रखे जाते थे तथा दीपकों के माध्यम से विशेष रूप से सजाती थी। इसी क्रिया को दीवाली भरना कहा जाता था।[18] दीपावली के पर्व पर प्रकाश एवं आतिशबाजी को महत्वपूर्ण एवं विशिष्ट समझा जाता था। इस समय लगभग समस्त घरों में प्रकाश होता था और आतिशबाजी छूटती थी तथा संध्या के समय हिंन्दू एवं मुसलमान सामान्य एवं विशिष्ट हर वर्ग के लोग अपने–अपने घरों से निकलकर नगर में प्रकाश देखने जाते थे। दीपावली के अवसर पर जुए का भी चलन सामान्य बात थी।[19]

जन्माष्टमी– कृष्ण जी के जन्म का पर्व जन्माष्टमी का अवध में विशेष महत्व था। जन्माष्टमी के दिन लोग घर–घर कृष्ण जी के जन्म का उत्सव मनाते थे। स्थान–स्थान पर रहस्य क्रीड़ा होती थी, जिनमें श्रीकृष्ण के हालात नृत्य व रंग और संगीत के माध्यम से प्रस्तुत किये जाते थे। इसके दर्शकों में हिन्दुओं के साथ साथ मुसलमनों की संख्या भी अधिक होती थी। यहीं नहीं उस काल में इस नाटक में चरित्र निभाने वाले कलाकारों में मुसलमान भी हिन्दुओं का अनुसरण करते हुए कंस का पुतला बनाकर उसके पेट में शहद भर देते थे फिर उसके पेट को फाड़कर शहद को कंस का खून समझ कर पीते थे।[20]

ईद– मुस्लिम त्यौहारों में ईद प्रमुख त्यौहार है जिन्हें सभी मुसलमान मनाते हैं चाहे वे किसी सम्प्रदाय के मतावलम्बी क्यों न हो। ईद का त्यौहार रमजान मास के रोजे कि, समाप्ती पर मनाया जाता है। ईद का चांद देखने के बाद बन्दूकें दगतीं तथा विगुल और नक्कारे बजते थे। इस दिन सभी मुसलमान ईदगाह जाकर एक साथ नमाज पढ़ते थे। नवाब की सवारी के साथ उमरा वर्ग, घुड़सवार तथा पैदल सैनिक टुकड़ी भी होती थी। इस जुलूस में पचास जोड़े ऊंट होते थे। इनके पीछे नीले रंग के परिधान में तोपखाने का दस्ता होता था। इसके पीछे हाथी गाड़ियाँ होती थी, जिनमें एक गाड़ी नवाब की होती थी। अन्य गाड़ियों में उमरा और विशिष्ट दरबारी होते थे। नवाब की गाड़ी के पीछे घुड़सवार होते थे, इस शान के साथ नवाब की गाड़ी ईदगाह पहुँचती और वापस होती थी।[22] चहार गुलजार शुजाई में आसफ उद्दौला की सवारी का ईदगाह जाने का तथा गरीबों और फकीरों को खैरात बांटने का विस्तृत विवरण मिलता है।[23]

बकरीद– सन् हिजरी के अन्तिम महीने जिलहज की दसवीं तारीख को बकरीद का त्यौहार होता था। अवध में नवाबी शासन काल में ईद के समान बकरीद भी बड़े धूम–धाम से मनाया जाता था। ईद के समान इस दिन भी नवाब की सवारी शान से निकलती थी। ईदगाह में नमाज के बाद नवाब ऊंट की कुरबानी करते और तोप दगती थी।[26] ईदगाह से वापस आने के बाद दरबार आयोजित होता था जिसमें लोग नवाब वजीर को नज्रें भेंट करते और ईनाम पाते थे। कुरबानी का प्रचलन शासक वर्ग के अतिरिक्त जनसाधारण में भी था। लोगों की कुरबानी करने तथा हज करने का विवरण समकालीन शायरों की रचनाओं में भी स्पष्ट रूप से मिलता है।[27]

शबे–बरात– सन् हिजरी के 'शाबन' नामक आठवें मास में शबे–बरात का त्यौहार आता है, इसके लिए निश्चित तिथि 'शावन' की पन्द्रहवीं रात्रि है। रात में जागकर कुरान पढ़ना, खुदा की उपासना करना, कब्रिस्तान में जाकर मृतकों के निमित्त प्रार्थना करना तथा दिन में रोजा रखने के अतिरिक्त इस दिन हलवा पकाने का और खिलाने का प्रचलन है।[28] अवध के मुसलमानों में चाहे वे शिया हो या सुन्नी शावन मास की पन्द्रहवीं रात का बड़ा महत्व था। उसे वे अधिक समृद्धि वाली रात मानते थे। साधारणतया लोगों का विश्वास था कि इस रात ईश्वर अपने बंदों की दुआएँ तथा प्रार्थनाएँ सुनता है और पूरी करता है। इसी कारण अधिकांश मुसलमान पूरी रात जागकर कुरान पढ़ते तथा अपने पूर्वजों तथा मृत सम्बन्धियों एवं मित्रों के निमित्त प्रार्थना तथा जीवित लोगों के लिए दुआएँ मागते थे। इस दिन मांस बिल्कुल नहीं बनता था। केवल विभिन्न प्रकार की रोटियाँ, मीठे चावल और विभिन्न प्रकार के मधुर व्यंजन बनते थे।[29] इस रात को आतिशबाजी तथा रोशनी का भी विशेष प्रबन्ध किया जाता था।[30]

शिया मुसलमानों के लिए इस रात की महत्ता और अधिक थी क्योंकि इसी रात को बारहवें इमाम का जन्म हुआ था। घर–घर में लोग दीप मालाएं प्रकाशित करते थे एवं विभिन्न प्रकार की आतिशबाजी छोड़ने एवं उसकी सुन्दरता देखने में मुसलमानों के साथ–साथ हिन्दू भी सम्मिलित होते थे।[31]

मोहर्रम– अवध के शासकों के काल में सबसे अधिक उत्साह, उल्लास एवं सज–धज के साथ जिसका आयोजन किया जाता था, वह था इमाम हुसैन की शहादत की यादगार में मनाया जाने वाला मुहर्रम।[32]

अवध में मनाया जाने वाला मुहर्रम सम्पूर्ण विश्व से निराला कहा जाता था। ताजियादारी में केवल शिया ही नहीं भाग लेते बल्कि हिन्दू और सुन्नी बराबर भाग लेते थे, इसका

प्रमाण आज भी नक्खास से उठने वाला जौ का हरा ताजिया, जिसे हिन्दू उठाते हैं।[33] अवध में मोहर्रम की धूमधाम का क्रम मोहर्रम मास की पहली तारीख से प्रारम्भ हो जाता था और दसवीं तारीख को समाप्त होता था। मुहर्रम का चांद देखने के पश्चात् स्त्रियां अपनी चूड़ियाँ तोड़ देती थी और गहने उतार देती थी। लोग हरे एवं काले रंग के वस्त्र धारण करते थे। स्थान–स्थान पर मजलिसों का आयोजन किया जाता था। घरों–घरों में ताजियादारी होती थी। विभिन्न प्रकार के जुलूस निकलते थे। हिन्दू और मुसलमान महिलाएँ एकत्रित होकर शोकपूर्ण लय में दोहे गाती थी। मातम करने वालों के लिए प्रत्येक सम्प्रदाय के लोग स्थान–स्थान पर सबीले लगाते थे तथा शरबत और संतरे का प्रबन्ध करते थे।[34] इमामबाड़ों की सजावट व रोशनी का प्रबन्ध इतना अधिक शानदार होता था कि देखने वालों की आँखें चकाचौंध हो जाती थी। अवध के सभी शासक मुहर्रम में भाग लेते थे। शुजाउद्दौला बड़ी भक्ति एवं सम्मान के साथ अजादारी करते तथा आसफउद्दौला बड़ी धूम से ताजियादारी करते थे और प्रायः खून में डूब जाते थे।

मुहर्रम की पांच तारीख को बच्चों को इमाम हुसैन के नाम पर फकीर बनाया जाता था। सांतवीं मोहर्रम को हजरत कासिम की (मेंहदी) शादी का जुलूस निकलता था। उसी तरह मोहर्रम की आठवीं तारीख हजरत अब्बास से जोड़ दी गयी। दसवीं मोहर्रम को ताजिया उठता था, ताजिया हिन्दुस्तानी वस्तु है। इसका आविष्कार भारत में हुआ और लोकप्रियता प्राप्त किया। हर वर्ग के लोग ताजियादारी करते थे और ताजिए उठाते थे। चांदी से लेकर लकड़ी और कागज के ताजिए बनते थे। कुछ लोग हांथी दांत, चंदन एवं सनोबर की लकड़ी के ताजिए बनवाते थे। हिन्दुओं के ताजिए भी बड़ी संख्या में उठते थे।[35]

अंत में हम कह सकते हैं कि इस काल में त्यौहारों पर इनसे सम्बन्धित विभिन्न धार्मिक प्रथाएं भी निभाई जाती थी। लेकिन इनके मनाने का साधारण ढंग धार्मिक से अधिक सामाजिक हो गया था। त्यौहारों में हर तरफ प्रसन्नता एवं प्रफुल्लता एवं मस्ती का वातावरण हो जाता था। नगर की भव्य सजावट की जाती थी और दियों को प्रकाशित किया जाता था तथा आतिशबाजी का प्रबन्ध होता था। धनी मनसबदार एवं विशिष्ट वर्ग के लोग एक दूसरे के घर मिलने जाते थे और बधाई देते थे और इन लोगों के प्रभाव से साधारण जनता में भी यह रीति प्रचलित थी।

उपरोक्त काल के त्यौहारों को मनाने के विषय में एक विशेष महत्व की बात यह भी दिखाई पड़ती है कि इनके धार्मिक मान्यताओं में भी हिन्दू और मुसलमानों में मेल–मिलाप का मार्ग प्रशस्त हुआ। सामाजिक दृष्टिकोण से तो यह एक दूसरे के निकट आये ही हिन्दुओं के कुछ त्यौहार ऐसे थे जिनकी कुंछ रीतियों को मुसलमान भी अपनी मान्यता के अनुसार निभाते थे एवं मुसलमानों के कुछ त्यौहारों की रीतियों को हिन्दुओं में भी निभाने का चलन था।

अतः यह स्पष्ट होता है कि अवध के नवाबों की सहिष्णुतावादी नीति के परिणामस्वरूप ही अवध में एक विशेष संस्कृति का जन्म और विकास हुआ। जो आज तक गंगा–जमुनी या लखनवी संस्कृति के नाम से जानी जाती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ–

1. माहेश्वरी प्रसाद– जाने आलम वाजिद अली शाह, पृ0 18
2. अवध अंक– नया दौर (डा0 अख्तर बस्तवी), पृ0 212
3. नजमुल गनी– तारीख–ए–अवध, भाग–2, पृ0 218 व भाग–3, पृ0 155
4. अवध अंक– नया दौर (डा0 अख्तर बस्तवी), पृ0 212
5. योगेश प्रवीन– बहारे अवध, पृ0 68
6. हसन, मिर्जा मुहम्मद 'कतील', रूकआत–ए–कतील, पृ0 82,83,93
7. खाँ, इंशा अल्लाह 'इंशा'– कुल्लियात–ए–इन्शा, पृ0 249
8. जैन, डा0 ज्ञानचन्द– उर्दू मसनबी शुमाली हिन्द में, पृ0 375
9. मीर तकी 'मीर'– कुल्लियात–ए–मीर, पृ0 580
10. वही, पृ0 789, 789
11. इबादत बरेलवी–कुल्लियात–ए–मीर, पृ0 1061
12. नजमुल गनी– तारीख–ए–अवध, भाग–2, पृ0 218
13. अली, मिसेज मीर हसन, ''आवजरवेसन्स आन द मुसलमान्स आफ इण्डिया'', पृ0 217–218
14. हुसैन, मिर्जा जफर– कदीम लखनऊ की आखरी बहार, पृ0 175
15. उमर, डा0 मुहम्मद– अठारहवीं शदी में हिन्दुस्तानी मआशरत, पृ0 703
16. योगेश प्रवीन– बहारे अवध, पृ0 66
17. गुरु शरण लाल– शाने अवध, पृ0 49
18. गुरु शरण लाल– शाने अवध, पृ0 50
12. योगेश प्रवीन– ताजदारे अवध, पृ0 27
20. अली, मिसेज मीर हसन, आवजरवेशन्स आन द मुसलमान आफ इण्डिया, भाग 1, पृ0 262–265
21. हरचरण दास– चहार गुलजार शुजाई, पृ0 225 ब
22. अली, मिसेज मीर हसन– आब्जरवेशन्स आन द मुसलमान आफ इण्डिया, भाग 1, पृ0 256–263
23. इबादत बरेलवी– कुल्लियात–ए.मीर, पृ0 175
24. रेहाना बेगम– अवध के सामाजिक जीवन का इतिहास, पृ0 270
25. अली, मिसेज मीर हसन– आबजरवेशन्स आन द मुसलमान आफ इंडिया, भाग 1, पृ0 300–302
26. वही
27. गुरुशरण लाल– शाने अवध, पृ0 47–58
28. योगेश प्रवीन– ताजदारे अवध, पृ0 15
29. योगेश प्रवीन– बहारे अवध, पृ0 50
30. जगदीश सहाय– अवध में नवाबी शासन का इतिहास

✦✦✦

*शोध–छात्र, इतिहास विभाग,
सामाजिक विज्ञान संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

शोध-२१

मौर्यकालीन प्रशासनिक व्यवस्था की रूपरेखा

कुणाल किशोर*

प्राचीन भारत की राजनीतिक एवं प्रशासनिक इतिहास के क्षेत्रों में मौर्यों का शासन काल एवं उनकी प्रशासनिक व्यवस्था को एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है । मौर्यों की तात्कालिक राजनीतिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था के विषय में समस्त जानकारियाँ हमें मेगस्थनीज की 'इंडिका', चाणक्य (कौटिल्य) के 'अर्थशास्त्र' एवं सम्राट अशोक के अभिलेखों तथा अन्य कई साहित्यिक एवं पुरातात्विक स्रोतों से मिलती है । इन सभी स्रोतों के अनुसार, मौर्य शासकों ने न सिर्फ एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की, बल्कि इसे स्थायित्व प्रदान करने के लिए एक सुदृढ़ प्रशासनिक व्यवस्था भी कायम किया । मौर्य–प्रशासन का मुख्य उद्देश्य राज्य को स्थायित्व प्रदान कर लोक हितकारी कार्य करना था । इस प्रशासन की शुरुआत मौर्य शासक चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में हुई । इसने अपने राजनीतिक गुरु एवं मंत्री चाणक्य कौटिल्य की सहायता से मौर्य साम्राज्य को स्थायित्व प्रदान करने के उद्देश्य से एक सुसंगठित प्रशासनिक व्यवस्था की स्थापना किया । आगे चलकर मौर्य सम्राट अशोक ने अपने कुशल प्रशासनिक कार्यों के द्वारा एवं शासन के क्षेत्र में राजत्व और देवत्व में सम्बन्ध स्थापित करके इस प्रशासनिक व्यवस्था को लोक कल्याणकारी बनाने का प्रयास किया जो काफी सफल रहा ।

प्रशासनिक सुविधा की दृष्टिकोण से मौर्य प्रशासन चार भागों में बँटा हुआ था।

1.केन्द्रीय प्रशासन (Central Administration)

2.प्रान्तीय प्रशासन (Provincial Administration)

3.स्थानीय प्रशासन (Local Administration)

4. नगर प्रशासन (Town Administration)

1.केन्द्रीय प्रशासन : मौर्यों की केन्द्रीय प्रशासनिक व्यवस्था के अन्तर्गत् निम्नलिखित व्यवस्था स्थापित थी ।

(क) राजा या सम्राट : मौर्यकालीन केन्द्रीय प्रशासनिक व्यवस्था में प्रशासन एवं समस्त शक्तियों का सर्वोच्च राजा या सम्राट होता था। शासन की समस्त शक्तियाँ उसी में निहित होती थी। वह शासन का सर्वोच्च शासनाध्यक्ष होता था। वह साम्राज्य का प्रमुख शासक, न्याय धीश, धर्म–प्रवर्तक और सेनापति होता था। वह स्वयं प्रत्येक विभाग का निरीक्षण करता था और राज्य के प्रमुख अधिकारियों की नियुक्ति करता था। मंत्रियों में विभागों का बँटवारा और गुप्तचरों की नियुक्ति वह स्वयं करता था। प्रमुख सेनापति के रूप में सैनिकों की नियुक्ति, सेना की व्यवस्था, विग्रह तथा सन्धि का दायित्व राजा पर ही था। साम्राज्य का सर्वोच्च न्याय धीश भी सम्राट ही होता था। इस प्रकार, मौर्य काल में राजा ही शासन सबकुछ यथा कार्यपालिका, विधायिका, न्यायपालिका एवं सैनिक मामलों का सर्वोच्च होता था ।

मौर्य शासक इतना शक्तिशाली होते हुए भी यानी कि मौर्य शासकों को इतना शक्ति प्राप्त होते हुए भी स्वेच्छाचारी नहीं थे । वे सदैव प्रजा के हित का चिन्तन करते थे । वे अपने आपको प्रजा का ऋणी समझते थे और सुशासन के द्वारा ही वह इस ऋण से मुक्ति के विषय में सोचते थे । अतः मौर्य शासक अत्याचारी और स्वेच्छाचारी शासक न होकर उदार एवं लोककल्याणकारी राजा थे । वे सदैव अपने प्रजा को खुशहाल देखना चाहते थे, इसलिए उनलोगों ने हमेशा जनहित एवं लोकोपकारी कार्य किया ।

(ख) मन्त्रिपरिषद : मौर्य सम्राटों को शासन–व्यवस्था या प्रशासनिक कार्य में सहयोग देने के लिए एक मन्त्रिपरिषद की व्यवस्था थी । इसमें बारह से लेकर बीस मन्त्री रहते थे । इन मन्त्रियों प्रधान या मुख्य मन्त्रियों और पुरोहित को नियुक्ति के पूर्व में इनके चरित्रों को खूब जाँचा–परखा जाता था, जिसे उपध परीक्षण कहा जाता था। मन्त्रि परिषद के प्रत्येक सदस्य को 12000 पण वार्षिक वेतन दिया जाता था तथा प्रधान या मुख्यमन्त्री को 48000 पण वार्षिक वेतन दिया जाता था । ये मन्त्रिगण राजा के प्रशासनिक कार्यों में सहयोग किया करते थे । यानी राजा समस्त शासन का संचालन मन्त्रिपरिषद के राय लेकर ही करता था । राज्य के उच्च पदाधिकारी मन्त्रियों की सम्मति से नियुक्त होते थे । राजदूतों और गुप्तचरों की नियुक्ति में भी मंत्री राजा को परामर्श देते थे । प्रत्येक प्रशासनिक विषयों में मन्त्रियों से परामर्श लिया जाता था । इस परिषद की बैठकें गुप्त रूप से होती थी और बहुमत के आधार पर निर्णय लिया जाता था । यद्यपि मंत्रिपरिषद का राजा पर पूर्ण नियंत्रण था पर मन्त्रिपरिषद को कोई भी निर्णय राजा मानने के लिए बाध्य नहीं था ।

(ग) नौकरशाही या आमात्य मण्डल : राजा और मन्त्रि परिषद के अलावा केन्द्रीय शासन के संचालन के लिए मौर्य शासकों ने अनेक विभागों का गठन किया था जिसको तीर्थ कहा जाता था । प्रत्येक विभाग एक अध्यक्ष के अन्तर्गत होता था जिसे 'आमात्य' कहा जाता था । इनकी संख्या अठारह थी जिनका उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र में किया गया है।

(घ) अध्यक्ष : अठारह अमात्यों के अतिरिक्त अर्थशास्त्र में 28 अध्यक्षों का भी विवरण मिलता है जो आमात्यों के अंडर में काम करते थे ।

(ङ) सैन्य संगठन : मौर्य शासकों ने अपने साम्राज्य की सुरक्षा के लिए एक विशाल एवं स्थाई सेना का भी गठन किया था । कौटिल्य और मेगस्थनीज दोनों ही मौर्यों की सेना का उल्लेख करते हैं ।

(च) पुलिस व्यवस्था : आन्तरिक सुरक्षा और अपराध तथा अपराधियों पर नियंत्रण रखने के लिए मौर्यों ने पुलिस–प्रशासन की व्यवस्था की थी। नगर में शान्ति सुव्यवस्था बनाए रखने का जिम्मेदारी 'नगराध्यक्ष' की थी ।

(छ) गुप्तचर व्यवस्था : आन्तरिक सुरक्षा और अपराध तथा अपराधियों पर नियंत्रण रखने के लिए मौर्यों ने पुलिस व्यवस्था के साथ–साथ गुप्तचरों की भी व्यवस्था किया था ।

न्याय व्यवस्था :

मौर्यों के शासनकाल में न्याय–व्यवस्था भी अच्छी थी । न्याय–व्यवस्था में राजा ही सर्वोच्च न्यायाधीश होता था । मौर्यों के काल में खासकर चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में केन्द्रीय न्यायालय सबसे बड़ा न्यायालय था । यह दो प्रकार का था। 'धर्म स्थीय न्यायालय' एवं 'कण्टकशोधन न्यायालय' । धर्म स्थीय न्यायालय में दीवानी सम्बन्धी मामलों का निर्णय होता था । इस न्यायालय में न्याय धर्मशास्त्र में दक्ष तीन 'धर्मस्थ' या व्यावहारिक एवं तीन आमात्य मिलकर करते थे । दूसरा न्यायालय यानी कंटकशोधन न्यायालय में फौजदारी सम्बन्धी मामलों का निर्णय होता था । इस न्यायालय में तीन 'प्रदेष्ट्रि' एवं तीन आमात्य मिलकर न्याय करते थे । इस न्यायालय के नीचे जनपद, स्थानीय, द्रोणमुख, संग्रहण तथा ग्राम न्यायालय आदि थे ।

राजस्व व्यवस्था या कर प्रणाली :

मौर्यों की राजस्व व्यवस्था बहुत सुदृढ़ थी । राजस्व विभाग का एक प्रधान होता था, जो 'समाहर्ता' कहलाता था। समाहर्ता गाँव की कृषि–योग्य भूमि, लोगों के व्यवसाय, आय–व्यय और प्रत्येक परिवार से मिलने वाले कर की मात्रा की जानकारी रखता था । वह साम्राज्य की आय बढ़ाने का प्रयत्न करता था । वह विभिन्न अध्यक्षों, उपाध्यक्षों, गोप इत्यादि की मदद से कर उगाहता था । 'सन्निधता' राजकीय कोष की देखभाल करता था। खनिज पदार्थों एवं उनके कारखानों से प्राप्त होने वाली आय को 'वनकर' कहा जाता था। स्थल एवं जलमार्ग से प्राप्त होनेवाला कर वाणिज्यपथ कर कहलाता था । इन करों से प्राप्त धन का एक बड़ा भाग राजपरिवार एवं राजकर्मचारियों तथा जनहित के कार्यों; सिंचाई, सड़कों की व्यवस्था एवं अन्य लोकहितकारी कार्यों पर खर्च होता था ।

2. प्रान्तीय प्रशासन :

प्रशासनिक सुविधा के दृष्टिकोण से सम्पूर्ण मौर्य साम्राज्य कई प्रान्तों में बँटा हुआ था, जहाँ प्रान्तीय प्रशासनिक व्यवस्था प्रचलित थी । चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में प्रान्तों की निश्चित संख्या ज्ञात नहीं है, परन्तु अशोक के समय में निम्नलिखित प्रान्तों का उल्लेख अभिलेखों से मिलता है ।

प्रान्त	राजधनी
उतरापथ	तक्षशिला
अवन्तिराष्ट्र	उज्जयिनी
दक्षिणापथ	सुवर्णगिरि
कलिंग	तोसाली
प्राशी (प्राची)	पाटलिपुत्र

इन सभी प्रान्तों में से प्राशी या प्राची प्रान्त को छोड़कर इन प्रान्तों का प्रशासन राजपरिवार के ही किसी व्यक्ति द्वारा होता था, जिन्हें अशोक के अभिलेखों में 'कुमार महामात्य' या 'आर्यपुत्र महामात्य' कहा गया है । प्राशी या प्राची प्रान्तीय प्रशासनिक–व्यवस्था भी केन्द्रीय प्रशासनिक–व्यवस्था के आधार पर ही संगठित थी । केन्द्रीय सरकार प्रान्तीय सरकारों पर कड़ी निगरानी रखती थी ।

स्थानीय प्रशासन :

मौर्यकाल में प्रशासनिक सुविधा की दृष्टिकोण से प्रान्तों को छोटी–छोटी प्रशासनिक इकाइयों में विभक्त किया गया था। प्रान्तों को जिला या स्थानीय में विभक्त किया गया था। जिला प्रशासन का प्रधान 'स्थानित' होता था । वह 'समाहर्ता' के नियंत्रण में कार्य करता था । एक जिला या स्थानीय में करीब 800 ग्राम रहते थे ।

जिला या स्थानीय से छोटी प्रशासनिक इकाई द्रोणमुख थी । इसमें 400 ग्रामों या गाँवों को सम्मिलित किया गया था । 200 ग्रामों को मिलाकर संग्रहण बनता था ।

शासन की सबसे छोटी इकाई 'गाँव' थी । इसका प्रशासन 'ग्रामिक' के जिम्मे था । यह निश्चित करना कठिन है कि ग्रामिक की नियुक्ति राज्य द्वारा होती थी या ग्रामीण स्वयं ही उसे चुनते थे, परन्तु इतना निश्चित है कि वह गाँव के बुजुर्गों की सहायता से प्रशासन चलाता था । उसका प्रमुख कार्य राजस्व वसूली एवं स्थानीय समस्याओं को निबटाना था । वह अपराधों की रोकथाम भी करता था । ग्रामिकों के कार्यों पर गोप नियंत्रण रखते थे । एक गोप के जिम्मे करीब 10 ग्राम थे । गोप और अन्य ग्राम प्रशासन के अधिकारियों की देखभाल में 'प्रदेष्टा' भी 'समाहर्ता' की मदद करते थे ।

4. नगर प्रशासन :

मौर्य साम्राज्य की स्थापना तक भारत में अनेक नगरों की स्थापना हो चुकी थी । हड़प्पा के नगरों के पतन के पश्चात् अनेक आर्थिक–सामाजिक और राजनीतिक कारणों से छठी शताब्दी ई.पू. में पुनः नगरों का उदय हुआ । इसे नगरीकरण का द्वितीय चरण माना जाता है । नगरों के उदय और विकास ने अनेक नई समस्याओं को जन्म दिया । अतः

इनके समाधान के लिए चन्द्रगुप्त मौर्य ने नगर–प्रशासन (Municipal Administration) की तरफ भी ध्यान दिया । 'इण्डिका' और 'अर्थशास्त्र' से इस विषय पर प्रकाश पड़ता है।

मेगास्थनीज, यूनानी राजा सेल्यूकस निकेटर के दूत के रूप में चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में पाटलिपुत्र आया और बहुत दिनों तक यहाँ रहा। उसने अपनी पुस्तक 'इण्डिका' में पाटलिपुत्र के नगर प्रशासन का विस्तृत विवरण दिया है। मेगास्थनीज के अनुसार 30 सदस्यों का एक बोर्ड नगर–प्रशासन की देखभाल करता था। यह बोर्ड 6 समितियों में विभक्त था। प्रत्येक समिति में 5 सदस्य होते थे। पहली समिति शिल्पियों एवं कारीगरों के कार्यों की देखभाल करती थी तथा उनके लिए उचित मजदूरी की व्यवस्था भी करती थी। दूसरी समिति विदेशियों की देखभाल करती थी। तीसरी समिति नगर में होनेवाले जन्म एवं मृत्यु का ब्यौरा रखती थी। चौथी समिति व्यापार–वाणिज्य एवं माप–तौल की प्रणाली पर निगरानी रखती थी। पाँचवीं समिति कारीगरों द्वारा तैयार किए गए माल की देखभाल एवं उनकी बिक्री का उचित प्रबंध करती थी। छठी एवं अन्तिम समिति बिक्री कर वसूलती थी। इन कार्यों के अतिरिक्त संयुक्त रूप से म्यूनिसिपल बोर्ड, सार्वजनिक भवनों, बाजारों, बन्दरगाहों आदि का देखभाल भी करता था। बोर्ड के सदस्यों को 'एस्टिनोमई' या 'नगर कमिश्नर' कहा जाता था । यद्यपि मेगास्थनीज सिर्फ पाटलिपुत्र के प्रशासन का ही वर्णन करता है तथापि संभवतः साम्राज्य के अन्य नगरों में भी इसी प्रकार की व्यवस्था प्रचलित थी।

चाणक्य (कौटिल्य,) मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य का राजनीतिक गुरू एवं उसका प्रधनमंत्री था। इसने अपनी पुस्तक 'अर्थशास्त्र' में पाटलिपुत्र के नगर प्रशासन का उल्लेख किया है। यद्यपि वह बोर्ड और नगर–समितियों का उल्लेख नहीं करता है तथापि अनेक ऐसे पदाधिकारियों का उल्लेख करता है जो मेगस्थनीज द्वारा वर्णित कार्य करते थे। कौटिल्य के अनुसार नगर प्रशासन का प्रधान 'नागरक' नगराध्यक्ष या पुर प्रमुख होता था। वह आग से नगर की सुरक्षा का व्यापक प्रबंध करता था। दुर्भिक्ष के समय राजकीय गोदाम से अन्न वितरण करवाता था। महामारी को रोकने एवं नगर की स्वच्छता बनाए रखने का कार्य भी वही करता था। रात्रि में नगर में आवागमन को नियंत्रित रखा जाता था। नगराध्यक्ष के कार्यों पर समाहर्ता नियंत्रण रखते थे। नगर 4 वार्डों में विभक्त था। प्रत्येक वार्ड एक 'स्थानिक' के जिम्मे था। वह 'नागरक' और 'गोप' के मध्य एक कड़ी का काम करता था। गोप जनगणना पदाधिकारी था, जो 10से 40 घरों के सदस्यों की संख्या, उनकी जाति, गोत्र, व्यवसाय, पशुओं और आय–व्यय का हिसाब रखता था। प्रत्येक बाहरी व्यक्ति को नगर में आने पर गोप की सूचना देनी पड़ती थी। नगर–प्रशासन की यह व्यवस्था संभवतः बाद में भी चलती रही। अशोक के अभिलेखों में भी नगर व्यावहारिक का उल्लेख मिलता है जो नगराध्यक्ष के समान ही कार्य करते थे।

इस प्रकार इन समस्त तथ्यों का अवलोकन व विश्लेषण करने के उपरान्त निष्कर्ष के तौर पर हम कह सकते हैं कि मौर्यों ने एक ऐसी सुव्यवस्थित शासन प्रणाली की नींव डाली कि जिससे उसके साम्राज्य की स्थिरता और सुदृढ़ता प्राप्त हुई तथा इनके प्रशासनिक व्यवस्था बाद के शासकों के लिए भी अनुकरणीय सिद्ध हुई।

सन्दर्भ ग्रन्थ–

1. सहाय, डॉ. शिवस्वरूप– 'प्राचीन भारतीय शासन और विधि', मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2005, पृष्ठ– 334–345
2. विद्यालंकार, सत्यकेतु– 'प्राचीन भारतीय शासन–व्यवस्था और राजशास्त्र', श्री सरस्वती सदन, नई दिल्ली, पृष्ठ 181–219
3. चौधरी राधाकृष्ण– प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, भारती भवन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, पटना, 2000, पृष्ठ– 147–166
4. मुखर्जी, प्रो. राधकुमुद– चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल राजकमल प्रकाशन, 1990, पृष्ठ– 65–221
5. शास्त्री, के.ए. नीलकण्ठ– नन्दमौर्ययुगीन भारत मोतीलाल बनारसी दास, 1969, पृष्ठ– 191–213
6. पांथरी, आचार्य भगवती प्रसाद– मौर्य साम्राज्य का सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ– 107, 112
7. विद्यालंकार, सत्यकेतु– मौर्य साम्राज्य का इतिहास, श्री सरस्वती सदन, नई दिल्ली, 1986, पृष्ठ– 154–297, 573–601
8. प्राचीन भारत– प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 2000, पृष्ठ– 52–55

✦✦✦

*NET (U.G.C.)

प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्त्व विभाग

पटना विश्वविद्यालय, पटना

शोध-२२

मुगल काल में स्त्रियों के सौन्दर्य प्रसाधन

रीगल सिंह*

भारतीय शास्त्रों में स्त्रियों के सोलह श्रृंगार अथवा अंग–प्रत्यंग के श्रृंगार करने की प्रथा प्राचीन काल से चली आ रही है। स्त्रियाँ साधारणतः अपने श्रृंगार प्रसाधनों और वेश–भूषा के बारे में अधिक ध्यान देती थीं। वे अपने समय का बहुत बड़ा हिस्सा (यदि पूरा समय नहीं तो) अपना शारीरिक आकर्षण बढ़ाने और खूबसूरत दिख सकने में लगाती थीं और फलतः वे आकर्षक लगती थीं।

अबुल फजल ने स्त्रियों के सौन्दर्य प्रसाधन की सोलह मदों की इस प्रकार चर्चा की है–स्नान, तेल मलना, सिर के बाल गूँथना, सिर को ऊपरी रत्नों से सजाना, चंदन का लेप करना, भिन्न–भिन्न प्रकार के वस्त्र धारण करना, जाति विशेष के चिह्न लगाना, अक्सर मोतियों और सोने के आभूषणों से सजाना, आँखों में काजल लगाना, इयरिंग पहनना, नथुनी पहनना, गले में गहने पहनना, फूलों या मोतियों की माला पहनना, पान खाना और प्रलोभन उत्पन्न करने और चालाकी के गुणों से सम्पन्न होना।[1]

इसी प्रकार केशवदास ने भी स्त्रियों के श्रृंगार–प्रसाधन की सोलह मदों की चर्चा की है। द्विज माधव के मंगल चंडीर गीत में हमें सुल्तानों के श्रृंगार प्रसाधनों की विस्तृत चर्चा की है। यथा प्रातः क्रियाएँ, स्नान, सुन्दर वस्त्र पहनना, बालों को सजाना, काढ़े गये सिर के बालों के बीच सिंदूर की रेखा सजाना, शरीर पर केसर व अन्य सुगंध मलना, हाथों पर मेंहदी रचाना, स्वर्ण आभूषण पहनना, पान खाकर ओठों को रंगना और दांतों को मिश्री से मलना, आखों में अंजन लगाना आदि।[2]

द्विज माधव के 'मंगल चंडीर गीत' में हमे खुल्लना के श्रृंगार प्रसाधनों की विस्तृत चर्चा मिलती है, यथा, सिर के बाल काढ़ना और उनका खूबसूरत जुड़ा बनाना जिसमें फूल भी गुंथे होते थे; आखों में काजल लगाना और भौंहों को रंगना, मोती के इयरिंग, नाक में नथुनी, उंगली में अंगूठी और गले में हार, पैरों में नुपूर और उंगलियों में अंगूठियां, पाव रंगना, बाजूबंद धारण करना, पट (सिल्क की साड़ी) आदि।[3]

सूर तथा तुलसी ने अपनी रचनाओं में सोलह श्रृंगार को नवसप्त[4] तथा षट–दस[5] श्रृंगार के रुप में वर्णन किया दर्शाया है जिसमें उबटन, मज्जन, मिस्सी, स्नान, सुवसन, केश–विन्यास, अंजन, माँग में सिन्दूर, महावर, मेंहदी, ठोढ़ी पर तिल बनाना, अंगराग लेपन, आभूषण, फूलों की माला तथा पान खाना आदि सम्मिलित है। सूरदास ने भारतीय काव्य परिपाटी एवं परम्परा के अनुसार सोलह श्रृंगार के नखसिख–सिंगार या अंग–प्रत्यंग का श्रृंगार भी कहा है।

सकल सिंगार कियो ब्रजबनिता, नखसिख लौं भल ठानि।

तुलसी ने इस अंग–प्रत्यंग के श्रृंगार को ही 'सहज–सिंगार'[6] की उपाधि दी है। सूरदास ने इसी को अंग–प्रत्यंग सिर से पाँव तक सोलह अंगों– केश, अँगुली, नयन, जीव, दरान, कुच, ललाट, नाभि, कपोल, नितम्ब, जाँघ एवं कलाई–को निहारकर शीघ्र श्रृंगार करने का उल्लेख करते हैं।[7]

वह सोभा निरखत अँग–अँग की, हरी निहारि–निहारि।
चकित देखि नागरि सुख वाकौ तुरत सिंगार–निसरि।।

श्रृंगार का सबसे पहला उपकरण उबटन आदि लगाकर स्नान करना है। तुलसी और सूरदास ने उबटन को श्रृंगार का आवश्यक अंग मानते हैं। पुरुषों और स्त्रियाँ दोनों ही उबटन[8] लगाती थी जो चेहरे और शरीर के अन्य हिस्सों में मला जाता था ताकि उनको साफ किया जा सके और वे अधिक चमकदार और खूबसूरत मालूम पड़े। सूर की गोपियाँ तथा राधा शरीर को सुगंधमय एवं स्वच्छ करने के लिए तेल, उबटन लगाकर, केसर आदि सुगंधित द्रव्य डालकर नहाती तथा मैल निकालती थी।

स्नान और तत्पश्चात् सौन्दर्य प्रसाधन के लिए व्यापक प्रबंध किये जाते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दू पुरुषों और स्त्रियों के लिए दिन का काम शुरु करने के पहले स्नान सबसे प्राथमिक और जरुरी आवश्यकता थी। वे सामान्यतः नदी या तालाब के बहते पानी में हर सुबह स्नान करना अपना धार्मिक कर्त्तव्य मानते थे। मुगल साम्राज्य के प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण नगरों में स्नानघर हुआ करते थे। सिर्फ आगरा में ऐसे करीब 800 स्नानघर थे जिनका कारोबार बहुत जोरों से चलता था।[9] ऐसे स्थानों पर स्नान का पर्याप्त और अच्छा प्रबंध किया जाता था और ग्राहकों को सुंगधित तेल, पिसा हुआ चंदन, लौंग और संतरे निःशुल्क दिये जाते थे।[10]

यद्यपि प्राचीन संस्कृत कृतियों में सुश्रुत और वात्सायन ने साबुन के उपयोग की चर्चा की है पर इस अवधि में ऐसा लगता है कि वे साबुन का उपयोग जानते ही नहीं थे या भूल गये थे और उसके स्थान पर हर्रे का उपयोग किया जाता था।[11] दांतों की स्वच्छता पर इतना ध्यान दिया जाता था कि लोगों के बीच यह सामान्य अभ्यास था कि वे हर सुबह

बिस्तर छोड़ने के बाद दातून[12] और अन्य उपायों से अपने दाँत और जीभ साफ करते थे। इस अभ्यास से उनके मसूढ़े और दाँत इतने मजबूत हो जाते थे कि 100 वर्षों के वृद्धों के भी दांत प्रायः स्वस्थ और मजबूत देखने को मिलते थे।[13] बदायूँनी ने दाँत साफ करने के लिए खरके के उपयोग की चर्चा की है।

बालों को चिकुर[14], केस[15], बार[16], अलक[17] कहा गया है। विशेषकर ऊँचे और खुशहाल वर्गों की महिलाएं अपने बालों को सावधानी से सजाती और उन पर पूरा ध्यान देती थी। लंबे बाल खूबसूरती के चिह्न समझे जाते थे।[18] उस समय भी बालों को कंघी से व्यवस्थित किया जाता था। यह लकड़ी धातु अथवा जानवरों की सींग से बनायी जाती थी।[19] मुस्लिम महिलाएँ चोटी बनाती थी जो लटकती रहती थी। लम्बे बाल खूबसूरती के चिह्न समझे जाते थे।[20] कवि तुलसीदास ने अपने रामचरितमानस में 'स्त्रियों के आभूषण' के रुप में सिर के सुन्दर बालों की चर्चा की है।[21] करीब 12 वर्षों तक उम्र की लड़कियाँ सिर पर थोड़े से बाल रखती थीं और छोटे लड़को की तरह उसे सिर की एक ओर गोलाकार बांध लेती थी।[22] जवान लड़कियां अपने सिर के बालों का जूड़ा बना लेती थी (जिसे आम तौर पर 'कबरी' या 'चोटी' कहा जाता था)।[23] वे जूड़े को फीते से बाँधती थीं और उसे सुन्दर मोतियों, फूलों और रत्नों से सजा लेती थी। उनके बाल बराबर संवारे हुए होते थे, उनको काढ़ कर उनकी चोटी बना ली जाती थी और उसमें विभिन्न प्रकार के सुगंधित तेल लगाये जाते थे।[24] भारतीय वास्तुकला के पुष्ट प्रमाणों–मंदिरों, गुफाओं[25] द्वारा बालों के अनेक केश–विन्यास जूड़ा आदि का उदाहरण मिलने पर भी सूर की गोपियाँ या राधा प्रायः बेनी अथवा खुले बालों में ही दृष्टिगत होती है। बेनी या चुटिया[26] अनेक प्रकार की ढीली या कसी अथवा फूलों द्वारा अंलकृत होती है।[27] केश–विन्यास में सूरसागर में 'पटिया पारना' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है।

मध्यकालीन भारत में सम्भवतः बालों में तेल के साथ–साथ सुगंधित द्रव्य फुलेलादि का प्रयोग आम बात हो गई थी। अबुल फजल ने सम्राट अकबर के दरबार में विविध फूलों से तेल, धूप, लोबान निकालने तथा उनके मूल्यों की सविस्तार से सूची दी है।[28]

केश–सज्जा के बाद श्रृंगार में आँखों में अँजन, माथे पर बिन्दिया, हाथों पर मेंहदी, पैरों में महावर तथा सुन्दरता बढ़ाने के लिए गाल, ठोड़ी पर तिल आदि बनाने की प्रथा थी। आँखों में काजल लगाने की प्रथा प्राचीन भारतीय परम्परा का पालन मुगलकालीन भारत में दृढ़ता के साथ होता था। इसलिए तुलसीदास[29], सूरदास[30], केशवदास[31] के साथ–साथ ऐतिहासिक समसामयिक स्रोतों में भारतीय नारियों में आँख में काजल, हाथों में मेंहदी तथा पैरों में महावर लगाने के उद्धरण प्राप्त होते हैं।[32]

सूरसागर में रोली (रोरी) के मुख पर मलने का उल्लेख किया गया है जबकि आजकल इसका प्रयोग टीकादि लगाने के लिए प्रयोग किया जाता है।[33] हिन्दू खासकर उस समय जबकि वे घर से बाहर निकलते थे अपने माथे पर चंदन का तिलक लगाते थे। सेंदुर अथवा सिंदूर प्रायः स्त्रियों द्वारा ही माथे पर बिन्दी तथा माँग को भरने के लिए लगाया जाता था। राधा के केसर के बीच सिंदूर की बेंदी लगाने का सूरसागर में उल्लेख किया गया है।[34]

भारत में प्राचीन काल से चंदन, केसर, कपूर, मृगमद तथा अनेक पुष्पों के चूर्णादि के लेपन तथा उसको धूपबत्ती के रुप में जलाने की प्रथा के लिए प्रसिद्ध है। कपूर, बकोल तथा लौंग भी सुगंधित द्रव्य में गिने जाते थे।[35] अकबरकालीन समाज में सम्राट का सुगंधित द्रव्यों–इत्र, तेल, फुलेल, पुष्प–राग रंगादि का विस्तृत वर्णन उनके मूल्यादि की सूची के साथ वर्णित है।[36] विशेषकर ऊँचे वर्गों की स्त्रियाँ विभिन्न प्रकार के इत्र और सुगंधित तेल इस्तेमाल करती थी।[37] नूरजहाँ की माँ के बारे में कहा जाता है कि उसने गुलाबों से एक नये इत्र का आविष्कार किया जिसका नाम 'इत्र–ए–जहाँगीर' रखा।[38] जहाँगीर लिखता है कि उस प्रकार का अच्छा और कोई इत्र नहीं है।[39] लाहौर और बनारस इस प्रकार के दुलर्भ इत्र बनाने के लिए प्रसिद्ध थे।[40]

सन्दर्भ ग्रन्थ–

1. आईन–ए–अकबरी, अनु0 सरकार, भाग 3, दिल्ली, 1989, पृ0 342–343।
2. केशव दास, कवि प्रिया, सम्पा0 लक्ष्मी निधि चतुर्वेदी, दारागंज, प्रयाग, 1952, पृ0 40।
3. द्विज माधव, मंगल चंडीर गीत, सम्पा0 एस0 बी0 भट्टाचार्य, कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1952, पृ0 125–126, 166।
4. रामचरितमानस, सम्पा0 माता प्रसाद गुप्त, इलाहाबाद 1/322; सूरसागर, सम्पा0 नन्ददुलारे वाजपेयी, वाराणसी, वि0 सं0 2021, 3450।
5. सूरसागर, 2115।
6. रामचरितमानस, 1/194/2।
7. सूरसागर, 3479।
8. देव, देवसुधा, सम्पा0 मिश्रबन्धु, लखनऊ, वि0 स0 2005, पद 122, पृ0 90।
9. मेडेलस्लो, मेडेलस्लो ट्रैवेल्स इन वेर्स्टन इण्डिया, सम्पा0 एम0 एस0 कम्मिसरियाट, बम्बई, 1931, पृ0 36।

10. जान फ्रायर और सर थामस रो, ट्रैवेल्स इन इण्डिया इन दि सेवेनटींथ सेन्चुरी, लंदन, 1873 पृ0 43।
11. टी0 सी0 दासगुप्ता, आस्पेक्ट्स आफ बंगाली सोसाइटी, कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1935, पृ0 48।
12. करेरी, दि इण्डियन ट्रैवेल्स आफ थेवनाट एण्ड करेरी, सम्पा0 एस0 एन0 सेन, नई दिल्ली, 1949, पृ0 168।
13. मेडलस्लो, पृ0 85।
14. सूरसागर, 1673, 3475।
15. वही, 1779।
16. वही, 3235।
17. वही, 2321, 2642।
18. मेडेलस्लो, पृ0 50।
19. पियट्रो डेलावेला, द ट्रैवेल्स आफ ए नोबुल रोमन इन टू दि ईस्ट इण्डिज एण्ड अरेबियन डेजर्टस, लंदन, 1664, पृ0 37।
20. बदायूँनी, मुन्तखब–उत्त–तवारीख, अनु0 लो, भाग 2, पटना, 1973, पृ0 172–175।
21. रामचरितमानस, गीता प्रेस, उत्तर काण्ड, दोहा 101, चौपाई 1, पृ0 962।
22. मनूची, स्टोरिया डी मोगोर, अनु0 विलियम इरविन, लंदन, 1907–1908, भाग 3, पृ0 40।
23. पृथ्वीराज, बेलीकृष्ण रुक्मिणी बेली, गोरखपुर, 1953, दोहा 85, पृ0 18।
24. मनूची, पूर्वोद्धृत, भाग 2, पृ0 34।
25. तेरहवीं शताब्दी में खुजराहों के सूर्य मंदिर में गंधर्व नारियों की अगणित प्रकार की केश–सज्जा तथा जुड़े हैं। बौद्धकालीन अजंता की गुफा के चित्रों में नारियों की केश–सज्जा दर्शनीय है।
26. चोटी शब्द का प्रयोग प्रायः बालकों के संदर्भ में अधिकता प्रयुक्त हुआ है।
27. सूरसागर, 4310।
28. आईन–ए–अकबरी, अनु0 ब्लाकमैन, भाग 1, पृ0 978–993।
29. गीतावली, गीता प्रेस गोरखपुर, 1/35।
30. सूरसागर, 642, 2807।
31. कविप्रिया, चौथा प्रभाव, कवित्त 17।
32. सावित्री चन्द्र, सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में समाज और संस्कृति (सूर, तुलसी और दादू के विशेष संदर्भ में), नई दिल्ली, 1976, पृ0 120।
33. सूरसागर, पृ0 642।
34. वही, 3229।
35. वासुदेव शरण अग्रवाल, हर्षचरित. एक सांस्कृतिक अध्ययन, पटना, 1957, पृ0 130।
36. आईन–ए–अकबरी, अनु0 ब्लाकमैन, भाग 1, पृ0 78–93।
37. वही, पृ0 78–93; पेलसर्ट, जहाँगीर्स इण्डिया, अनु0 डब्लू0 एच0 मोरलैण्ड और पी0 गेईल, दिल्ली, 1972, पृ0 65।
38. तुजुक–ए–जहाँगीरी, अनु0 रोजर्स एण्ड बेवरीज, भाग 1, लंदन, 1909–1941, पृ0 271; मनूची, पूर्वोद्धृत, भाग 1, पृ0 163–164।
39. वही, पृ0 271।
40. मान्सरेट, द कमेन्टरी आँफ फादर मान्सरेट, अनु0 जे0 एस0 होयलैण्ड और एस0 एन0 बनर्जी, लंदन, 1922, पृ0 160।

✦✦✦

*शोध–छात्रा
इतिहास विभाग
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ
वाराणसी

"ध्वनिस्फोटौ तयोः सम्बन्धः"

करुणाकर मिश्रः*

ध्वनिः वर्णाः पदं वाक्यमित्यास्पदचतुष्टयम्।
यस्याः सूक्ष्मादिभेदेन वाग्देवीं तामुपास्महे।।

वेदपुरुषोपकारकषडङ्गोपकारकं सर्वशास्त्रोपकारकं व्याकरणशास्त्रं पाणिनीयप्रक्रियापरिष्कारदर्शनभेदेन त्रिधा विभक्तमिति स्वीकुर्वन्ति वैयाकरणाः। यत्र ध्वनिस्फोटौ प्रासादायेते। अनयोः सम्बन्धसन्दर्भेऽपि अत्र महान् विचारो वर्तते। विषयस्यास्योपादेयता राष्ट्रियपात्रतापरीक्षायाम्महती अस्ति। तत्र सन्नद्धताधिवेलम् ध्वनिनिरूपणे ध्वनिस्फोटयोः सम्बन्धनिरूपणेऽभूत् क्लेशोऽधिकः; विविधनिबन्धावलोकने तत्तत्सम्प्रत्ययस्य अस्पष्टत्वात् विषयः निरूप्यः इति कृत्वा यथामति अत्र अनयोः क्रमशः स्वरूपं ततः अनयोः सम्बन्धवर्णनं निरूप्यते।

ध्वनिः –"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुबिद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।।"

वैश्विकं सर्वं ज्ञानं शब्दाधीनं न कश्चिदपि प्रत्ययः शब्दानुगमादृतते प्रवर्तते इति शाब्दिकशिरोमणेः भर्तृहरेः समुद्घोषः इदानीं शाब्दिकानां चेतांसि रमयतितराम्। ननु कः शब्दः? येन सर्वं भाषतेऽत्रास्माकं

यथोत्तरमुनिः भाष्यकारः प्राह– "प्रतीतपदार्थकः ध्वनिः शब्दः। यद्यपि प्रथमतया येनोच्चारितेन0, इति शब्दं परिभाषमाणः स्फोटात्मकं नित्यं शब्दं प्राह तथापि व्यावहारिके जगति शब्दः ध्वनिरूप एव इत्यादि स्वीचकार। अथ शब्दपरिभाषाघटकध्वनिविचारः प्रस्तूयतेऽत्र कस्तावत् ध्वनिः इति।

1. व्युत्पत्तिः –"ध्वनयति स्फोटं व्यनक्तीति ध्वनिः"

2. भर्तृहरिः –"यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरूपजन्यते।
सः स्फोटः शब्दजाः शब्दाः ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः।।"

एवं रीत्या शब्दजन्यत्वे सति शब्दत्वं ध्वनित्वमिति फलति अत्र शब्दानित्यत्ववादिनां पक्षोऽयम् अतः शब्दजन्यत्वमन्यथा नित्यत्त्वे जन्यत्वाभावः।

3. आनन्दवर्धनः–काव्यस्य आत्मा ध्वनिः बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः। तेन हि ध्वनिरहिततत्त्वमकाव्यत्वम्।

तद्भेदः – ननु ध्वनिरयं भेदरहितं, भेदसहितः वा नाद्यस्तथाहिः "इह द्विविधो हि ध्वनि प्राकृतः वैकृतः"

प्राकृतध्वनिः – येन विना अनभिव्यक्तं स्फोटरूपं न परिच्छद्यते शब्दाभिव्यक्तिकाले ध्वनिस्फोटयोः नीरक्षीरन्यायेन पृथक्त्वेन अनुपलम्भात् तं स्फोटं तस्य ध्वनेः प्रकृतिं स्वभावमिव मन्यते। ततश्च प्रकृतौ स्फोटस्वभावे, स्फोटरूपे भवः वर्तमानः प्राकृतः इति व्युत्पत्या प्राकृतपदस्य शब्दाभिव्यक्तिनिमित्ते ध्वनौ प्रयोगः।

वैकृतध्वनिः– प्राकृतेन ध्वनिना अनभिव्यक्तं स्फोटस्वरूपं येन प्रचित–प्रचिततरं कालं पुनः–पुनः अविच्छेदेन उपलभ्यते सः वैकतः। अत्र कश्चन प्राह–"शब्दस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतोध्वनिरिष्यते।

स्थितिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते।।"

प्राकृतध्वनिः शब्दोपलब्धिं प्रति कारणत्वमङ्गीकरोति तत्कथमित्यत्र भर्तृहरिः वेदत्रयमुपस्थापयति–

1. ध्वनिरूत्पद्यमानः श्रोत्रं संस्करोति। तच्च संस्क्रियमाणं शब्दोपलब्धौ द्वारतां प्रतिपद्यते।

2. अभिव्यक्तिवादी– शब्द एव ध्वनिसंसर्गात् प्राप्त संस्कारः श्रोत्रस्य विषयत्वमुपगच्छति।

3. केचित् – ध्वनिः शब्दश्रोत्रयोः अनुग्रहे वर्तते।

एवं रीत्या ध्वनिः सर्वं प्रत्ययं प्रति कारणम्।

स्फोटस्वरूपम्–व्याकरणशास्त्रस्य दार्शनिकभित्तेराधारः स्फोटः सम्मन्यन्ते वैयाकरणाः। वादस्यास्य प्रारम्भः वेदादिग्रन्थेषु दृश्यतेऽत्र वाग्विश्वा भुवनानि यज्ञे, ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म इति लिङ्गम्। केचित् स्फोटायनाचार्यः वादस्यास्य प्रतिष्ठापकास्तन्न तस्य तद्विषयकग्रन्था. दर्शनात्। अत्र सहजभावेन उदेति जिज्ञासा यत् कस्तावत्स्फोटः – व्युत्पत्तिः –स्फुटति– अभिव्यक्तीभवति अर्थः यस्मात् सः स्फोटः।

तथाहि–अर्थविषयकोपस्थितिजनकतावच्छेदकीभूतशक्तिमत्वम् स्फोटत्वम्।

वाचस्पत्यम्–पूर्वपूर्ववर्णानुभवसहितचरमवर्णानुभवव्यङ्ग्यः, अर्थप्रत्यायकः, अखण्डः, शब्दप्रत्यायकः स्फोटः।

नागेशः–अस्ति वाक् चतुर्विधा। परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरी। अत्र मध्यमा नादव्यङ्ग्यः स्फोटः। ननु स्फोटोऽयं भेदसहितः भेदरहितः वा अत्रोच्यते भेदसहितः। तथाहि– "वर्णपदवाक्यभेदेन स्फोटस्त्रिधा। तत्रापि जातिव्यक्तिभेदेन पुनः षोढ़ा। अखण्डपदस्फोटोऽखण्डवाक्यस्फोटश्चेति सङ्कलनयाष्टौ स्फोटाः"। अत्र अष्टविधेषु स्फोटेषु वाक्यस्फोटस्य प्रामुख्यं तथाहि–वाक्यस्फोटः मुख्यः, तस्यैव लोकेऽर्थबोधकत्वात्, तेनैवार्थसमाप्तेः च। अपि च "वाक्यस्फोटोऽतिनिष्कर्षः तिष्ठतीति मतिर्मम" इत्यति लिङ्गात्।

अत्र नैयायिकाः–एतेषाम्मते भवति पदेषु वाचकता, वर्णाः अनित्याश्च। ननु वर्णानामनित्यत्वन्तर्हि पदवाकत्वमपि न सम्भवति यतः उत्पन्नविनष्टवर्णसहभावाभावात् पदस्यापि

अनित्यत्वं यतः वर्णावलिः सार्थकः पदम्; तस्य अनित्यत्वात् कथं पदवाचकत्वमिति चेत् न; संस्कारद्वारा तदुत्पादयितुं शक्यत्वात्।

अत्र सांख्यानुयायिनः –एतन्मतेऽखण्डस्फोटः प्रतिवर्णेभ्योऽतिरिक्तं घटाकाररूपं शब्दचयैः अभ्युपगम्यते तेन शब्दविशेषः स्फोटः पदाख्योऽर्थस्फुटीकरणात्।

अत्र वैयाकरणाः – एतन्मते स्फोट एव वाचकाः न तु वर्णाः स्फोटानुभवानन्तरं विहितसंगतेः अर्थधीः सुमुत्पादनात्।

अत्राक्षेपः– (1) ननु स्फोटो नित्य एकः तर्हि अर्थबोधे भेदः न स्यात् परञ्चभेदः दृश्यते तत्कथम् अत्रोच्यते–"यथा

मणिकृपाणादौ मुखमेकभनेकधा।
तथैव ध्वनिषु स्फोटः एक एव विभिद्यते।।"

(2) ननु अस्य एकत्वं नित्यत्वं विविधार्यप्रकाशकत्वं तर्हि सर्वपदार्थप्रतीतिः कुतो न अत्रोच्यते– "येन क्रमेण नादव्यङ्ग्यानुभूताः वर्णाः तेन क्रमेण स्मृत्युपरूढानां वाचकत्वेन उपस्थितत्वात् नानार्थप्रतीतिः न।"

ध्वनिस्फोटयोः सम्बन्धः –ध्वनिस्फोटयोः अविनाभावः सम्बन्धोऽथवान्योन्याश्रयभावोऽस्ति। अनयोः सम्बन्धविषय–मेदम् प्राथम्येनोत्तरमुनिः भाष्यकारः तपरस्तत्कालस्य इति सूत्रनिर्वचनाधिवेलमुत्थापयामास। तत्र तेन निरूपितं यत्– "एवं तर्हि स्फोटः शब्दः, ध्वनिः शब्दगुण"। अनेन ज्ञायते यत् स्फोटात्मकश्शब्दः पदार्थः ध्वनिस्तु गुणः तदाश्रयत्वात् यतः गुणवत्वं द्रव्यसामान्यलक्षणम्। वस्तुतः इमौ ध्वनिस्फोटौ शब्दत्मकौ अत्र लिङ्गम् –

"ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते।
अल्पो महांश्च केषाञ्चिदुभयं तत्स्वभावतः।।"

अत्रानयोः व्यङ्ग्यञ्जकभावोऽपि दृश्यते; तथाहि– ध्वनयति स्फोटं व्यनक्तीति ध्वनिः एवं रीत्या ध्वनिः व्यञ्जकः स्फोटः व्यङ्ग्यः। अत्रानयोः कार्यकारणाभावोऽपि ज्ञेयः।

तथाहि–

"द्वावुपादानशब्देषु शब्दो शब्दविदो विदुः।
एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते।।"

तर्हि अनेन शब्दभेदौ उभौ कार्यकारणभावेनान्वितौ अवगम्येते। अत्र कार्यकारणभावस्य व्यत्यासः दृश्यते कदाचित् य कारणत्वम् अङ्गीकरोति सः कार्यत्वमपि स्वीकरोति। यः कार्यत्वं स्वीकरोति सः कारणत्वमङ्गी करोति। यतोहि श्रोतृदृष्ट्या ध्वनिः श्रोतुः स्मृत्युपरूढानां शब्दानामभिव्यक्तिं करोति अतः ध्वनिः कारणम् स्फोटः कार्यम् परञ्च वक्तृदृष्ट्या स्फोटः कारणम् ध्वनिः कार्यः यतः स्फोटरूपेण हृदये विद्यमानशब्दतत्त्वस्य बाह्याभिव्यक्तिः ध्वनिना जायते।

निष्कर्षः–शब्दजन्यत्वे सति शब्दत्वं ध्वनित्वम्। काव्यस्य आत्मा वा। अर्थविषयकोपस्थिति जनकतावच्छेदकीभूत शक्तिमत्त्वम् स्फोटत्वम्। ध्वनिर्द्विविधः– प्राकृतो वैकृतश्च। स्फोटोऽष्टविधः। वैयाकरणमते शब्दमात्रमेवध्वनिः। साहित्यिकमतते व्यङ्ग्यादिकं ये विरूपयन्ति ते ध्वनयः। उभौ शब्दगुणौ अविनाभावमूलकौ कार्यकारणभावान्वितौ व्यङ्ग्यञ्जकभावसम्पृक्तौ इति दिक्।।

✦✦✦

*शोधच्छात्रः, शिक्षा–संकायः
राष्ट्रिय–संस्कृत–विद्यापीठः
तिरुपतिः (आ.प्र.)

☞ शोधार्थियों से निवेदन है कि शोध-आलेख अधितम् 2000 शब्दों का ही भेजें, जो कि हिन्दी फान्ट Kruti Dev- 010 अथवा अंग्रेजी फान्ट Times New Roman में टाइप करें।
☞ शोध-आलेख की प्रिंट कापी तथा सी.डी. दोनों रूप के साथ अपना फोटोग्राफ भी अवश्य भेजें।
☞ शोध-आलेख प्रकाशन हेतु पत्रिका की आजीवन सदस्यता आवश्यक है।

शोध-२४

सल्तनत काल में धर्मान्तरण (1200-1526ई0)

सुशील कुमार सिंह*

हिन्दुस्तान पर मुसलमानों की फतह कोई इत्तेफाक वाक़आ नही था, बल्कि उनके द्वारा एक ख़ास मकसद के लिए किए गए सिलसिलेवार मुकाबले का ही नतीजा था कि उन्होने हिन्दुओं के रक्षात्मक प्रतिरोध को नेस्तानाबूद कर हिन्दुस्तान की सरजमीं पर अपना पैर रखा। फॉरस साम्राज्य को अपने घोड़े के टापों से रौदने के पश्चात मुस्लिम जलजला मुल्क की पश्चिमी सीमाओं पर दस्तक देने लगी। अरब, बार-बार काबुल राज्य से पराजित होने के पश्चात सिन्ध की ओर रूख किये और आखिरकार 711 ई0 में इसे जीत लिया[1]। फिर भी अरब कई कोशिशों के बावजूद लगभग 350 वर्षो तक सिन्ध में ही सिमटकर रह गए [2]। आखिरकार अरबो के अधूरे ख्वाबों (हिन्दुतान पर मुस्लिम विजय) को तुर्को ने ही अंजाम तक पहुँचाया।

तुर्को के हुकुमत करने के पूर्व हिन्दुस्तान की बहुसंख्यक अवाम हिन्दू थी। पूरे मुल्क पर उनका राज्य था, अधिकांश भूमि के स्वामी वहीं थें। परन्तु तुर्की हुकुमत की स्थापना के पश्चात हिन्दुओं की ख़ास स्थिति में परिवर्तन आ गया था वे शासक वर्ग की जगह शासित वर्ग से ताल्लुक रखने लगे, इसके साथ-साथ सबसे खराब हालात मज़हबी तौर-तरीकों को लेकर हुए जिससें दोनो मज़हबो के मध्य वैमनस्य और हसद (ईर्ष्या) की एक व्यापक दरार उत्पन्न हो गई थी।

हिन्दुस्तान में इस्लाम केवल एक नया मत ही नहीं था बल्कि यह हिन्दुत्व के ठीक विरोधी मत था। हिन्दुत्व की तालीम थी की किसी भी मज़हब की तौहिनी मत करो, वहीं मुसलमान मानते थे कि जो धर्म बूतपरस्ती में ऐतकाद करते है उसे नेस्तानाबूद कर देना ही मज़हब का सबसे बड़ा उसूल है [3]। मुल्क का इस्लामिक सिद्धान्त इस्लाम के अलावा किसी अन्य मज़हब के वजूद को कबूल नहीं करता मुसलमानों के सिवाय राज्य का कोई धर्मावलम्बी इस्लामी मुल्क का वाजिब वासिन्दा नही माना जाता था, फिर भी कुछ गैर-मुसलमानों जिन्होने इस्लाम धर्म कबूल करने से इन्कार कर दिया, के वजूद को स्वयं पैगम्बर के नेतृत्व में इस्लामी राज्य के प्रारम्भ से ही अपने दायरे में सहन करना पड़ता था। इस्लाम में अविश्वासियों (गैर-मुसलमानों) को दो प्रमुख वर्गो अथवा वे जिनके पास अपने अभिव्यक्त धर्म ग्रन्थ थे और काफिर-अविश्वासी (नास्तिक) में विभाजित कर दिया गया था। पैगम्बर ने मदीना के यहूदी और इसाई मतालम्बियों को अहल-ए-किताब के रूप में जायज ठहराया और उनसे जजिया प्राप्त करने के बदले में सुरक्षा और आंशिक मज़हबी सहूलियत अदा की जाती थी। कुरान में व्यक्त किया गया है-

तुम उनके साथ संघर्ष करो जों अल्लाह में विश्वास नहीं करते न ही निर्णायक दिन में विश्वास करते है जो निषिद्ध नहीं बनाते हैं, जिसको अल्लाह ओर उसके दूत ने निषिद्ध बनाया है जो पुस्तक की जनता के मध्य सत्य उपदेशों का अनुसरण नही करते हैं जब तक वे स्वेछापूर्वक जजिया नहीं देते है और बिल्कुल शान्त नहीं होते हैं[4]।

इस्लाम के आने के पूर्व भी यहां कई संम्प्रदाय मौजूद थे और उनके बीच बहस-मुबाहिसा होते थें[5] लेकिन इस देश के राजे राज्य की ओर से किसी भी धर्म का दलन नही करते थे, न ही ऐसी कोई परम्परा थी कि गैर-हिन्दुओं को द्वितीय या तृतीय श्रेणी का नागरिक माना जाए। किन्तु सल्तनत की स्थापना के साथ ही हिन्दुस्तान की धर्म निरपेक्ष नीति समाप्त हो गई । सुल्तान तथा नबाब खुलकर मुसलमानों का साथ देने लगे तथा हिन्दुओं के साथ वहीं बर्ताव किया जाने लगा जो गुलामों से किया जाता है इसका प्रमाण तात्कालिक मुस्लिम लेखकों ने अपने ग्रन्थ में उद्धरित किया है।

इस्लाम का सर्वाधिक मुख्य मकसद था पूरे विश्व में प्रसार। इस्लाम के चार प्रमुख ग्रन्थों कुरान, हदीस, हिदाया तथा सिरात उन नबी में इस्लाम के पैरोकारों को इस मक़सद की प्राप्ति के लिए हिदायत दी गई है। अतः मुसलमानों के अक्ल में शक शुब्हे की कोई गुंजाइश नहीं थी। इस्लामीकरण की प्रक्रिया इस्लामी शाहंशाहों तथा सैनिकों के मतानुसार इस मक़सद की पूर्ति गैर-मुसलमानों के दमन, अधीनीकरण तथा उनके प्रादेशिक सीमा के अधिग्रहण बिना संभव नहीं, इसी कारण इस्लाम का प्रचार एवं प्रसार तथा जंग और फतह एक दूसरे के पूरक बन गए[7]। हिन्दुस्तान में मुस्लिम हुक्मरानों एवं विजेताओं ने ज़बरजस्ती धर्मान्तरण के कार्य को वरीयता दी। अरबों की सिन्ध विजय महमूद गजनी के आक्रमण के दौरान पराजित हुक्मरानों, प्यादों तथा उनके आवाम को ज़बरजस्ती इस्लाम कबूलने को मज़बूर किया जाता था। भीषणतम् मुकाबले के बावजूद हिन्दू राजे पराजित हुए तथा नये शासकों ने धर्मान्तरण की प्रक्रिया शुरू की। अलाउद्दीन खिलजी के सेनाध्यक्ष मल्लिक काफूर ने द्वारसमुद्र के पराजित राजा के सम्मुख इस्लाम में धर्मान्तरण, मौत अथवा हर्जाने के रूप में बहुत बड़ी राशि में से एक विकल्प के चुनाव करने की पेशकश की[8]। लेकिन मुहम्मद बिन तुगलक के शासन काल मे पराजित हिन्दू शासकों के धर्मान्तरण की प्रक्रिया को ही वरीयता दी जाती थी। इसका ज्वलन्त उदाहरण है कि वारंगल अभियान के दौरान काम्पिल के राजा के सभी ग्यारह पुत्रों को इस्लाम मत मे दीक्षित करने के लिए बाध्य किया गया। जब फिरोज तुगलक ने जाजनगर पर आक्रमण किया तो उसने शिखर के राजपुत्र को कैद कर के इस्लाम मत कबूल करने पर मज़बूर किया एवं उसका नया नामकरण शक खाँ हुआ[9]।

जंग के दौरान आम-अवाम आसानी से दुश्मनों के हाथ

लग जाते थे। गुजरात के काफूर हजारदिनारी तथा मालवा के हसन(खुसरो खाँ) युद्ध–बन्दियों के अपवाद मात्र ही नहीं है, चूँकि ये ख्यातिप्राप्त हुए इसलिए उन्हे गुलाम बनाने तथा इनके धर्मान्तरण की कथा प्रसारित की गई। बहुत बड़ी संख्या में धर्मान्तरण इसी प्रकार हुए। मुस्लिम शासक युद्ध–बन्दियों को इस्लाम कबुलवाने में काफी रूचि रखते थे। समर के दौरान मस्तूरात (महिलाओं) एवं बच्चों को गुलाम बनाना ज्यादा आसान था। इब्न उल असीर के अनुसार ''कुतुबुद्दीन ऐबक ने हिन्दुस्तान पर आक्रमण किया उसने जंग में काफी लोगों की हत्या की तथा बहुत बड़ी संख्या में युद्ध–बन्दियों एवं धनसम्पत्ति के साथ वह अपने वतन वापस लौटा''[10]। इसी लेखक के अनुसार ''शिहाबुद्दीन ने बनारस में हिन्दुओं का भयंकर नरसंहार किया तथा मस्तूरात एवं बच्चों के अतरिक्त किसी को भी नहीं छोड़ा गया[11] और ये महिलाएँ एवं बच्चे गुलाम बना लिए गए।'' इतने अधिक मात्रा में हिन्दुओं को गुलाम बनाया गया कि मुफ़लिसी में जी रहे तुर्क सैनिकों को भी, जिनके पास इस अभियान के पूर्व एक भी गुलाम नहीं था, अभियान बाद अनेक गुलामों का स्वामी बन बैठा[12]।

सन 1231 में सुल्तान इल्तुतमिश ने ग्वालियर पर आक्रमण किया एवं बहुत बड़ी संख्या में उसने गुलाम हस्तगत किए[13]। मिन्हाज सिराज जुरजानी के अनुसार युद्ध– बन्दियों की तथा उसके ही द्वारा बन्दी बनाये गए राणा के आश्रितों की गणना ही नहीं की जा सकती थी[14]। अवध में चंदेल वंश के त्रैलोक्यवर्मन (मिन्हाज के दलाकी व मलाकी) के साथ युद्ध के बारे में इतिहासज्ञों का कथन है कि ''काफिरों की महिलाएँ, बच्चों तथा आश्रित बड़ी संख्या में विजेता के हाथ लगे[15]।'' सन 1253 में रणथम्भौर के आक्रमण में भी बलबन ने बड़ी संख्या में युद्ध–बन्दी बनाए[16]। सन 1259 मे हरियाणा में आक्रमण के दौरान भी स्त्रियों और बच्चों को गुलाम बनाया गया[17]। बलबन के काम्पिल, पटियाली तथा भोजपुर के दो बार के अभियान में बड़ी संख्या में महिलाओं और बच्चों को बन्दी बनाया गया। कटिहार में तो उसने आठ वर्ष से अधिक उम्र के पुरूषों को कत्ल करने का आदेश दिया तथा बचे हुए महिलाओं और बच्चों को बन्दी बना कर अपने साथ ले गया[18]।

मुस्लिम सुल्तानो मे गुलाम बनाने की प्रक्रिया काफी लोकप्रिय थी। अलाउद्दीन के पास 50000 गुलाम थे[19] जिनमें अधिकतर छोटी उम्र के ही लड़के थे, [20] और निश्चय ही युद्ध के दौरान बन्दी बनाए हुए थे। जियाउद्दीन बर्नी ने अलाउद्दीन खिलजी के शासन काल में दिल्ली में गुलाम मण्डी का जिक्र किया है जहाँ गुलामो की खरीद बिक्री हुआ करती थी[21] ।सबसे ज्यादा दास रखने वाले फिरोज तुगलक ने एक फरमान जारी किया था– जिसे किसी स्थान को जीता जाए, वहाँ के बन्दियों की छटाई की जाय तथा उनमे जो सबसे अच्छे हो उन्हें शाही दरबार में भेजा जाए[22]। अल्पकाल में ही उसके पास 180000 गुलाम संग्रहीत हो गए[23]। मुहम्मद तुगलक तो महिलाओं कों गुलाम बनाने के लिए कुख्यात था। शिहाबुद्दीन अहमद अब्बास उसके बारे में यहॉ तक लिखते हैं कि, '' सुल्तान काफिरों के ऊपर आक्रमण करने में कभी ढिलाई नहीं बरतते, गुलामों की संख्या इतनी अधिक हो जाती है कि प्रतिदिन हजारों की संख्या में गुलामो की खरीद–फरोख्त बहुत सस्ते दाम में होती है[24]।'' इब्नबतूता अपने यात्रा संस्मरण में लिखता है कि ईद के दिन जो हिन्दुओं के स्त्रियों को जो राग अलापती थी, उसके उपरान्त सुल्तान इन्हे अपने भ्राता, कुटुम्बी, जमाता तथा मित्रों में बाट देता था[25]। मुहम्मद तुगलक की जब कोई हिन्दू वन्दना करने जाता था तो हाजिब और नबीब बिस्मिलाह के स्थान पर हिदाक अल्लाह (ईश्वर तुमको सत्पथ पर लाए) उच्चारण करते थे।

फिरोज तुगलक ने अपनी बादशाही के दौरान एक ब्राह्मण को केवल इस लिए जिन्दा जला दिया कि उसने कहा कि तुम्हारा भी मजहब आला है और हमारा भी मजहब[26]। सुल्तान सिकन्दर लोदी ने भी कुरूक्षेत्र और मथुरा के हिन्दू तीर्थ स्थानों पर अनेक प्रतिबन्ध लगा कर अपनी मजहबी कट्टरता से आम अवाम को रूबरू करवाया। उस काल कि एक महत्वपूर्ण घटना है कि कटेहर निवासी लोधन नामक एक ब्राह्मण ने कुछ मुसलमानों के समक्ष यह कहा कि इस्लाम सत्य है और मेरा धर्म भी सत्य है। मामला सिकन्दर तक पहुँचा तो उसने ब्राह्मण से कहा कि या तो वह इस्लाम पर ईमान लाए या इन्कार करने पर उसका कत्ल कर दिया जायेगा अन्त में उस ब्राह्मण को जलाकर मार दिया गया, [27] जबकि इस्लाम में मुर्दों को भी जलाना हराम है।

हिन्दुओं को धर्मान्तरण कराना केवल तात्कालिक परिस्थितियों से उतपन्न एक संयोग मात्र नहीं था। इसलिए ऐसे कई वाकआ हैं जिससे साबित होता है कि जंग के अलावा भी सुल्तानों ने अपने हिन्दू आवाम को धर्मान्तरित कराने में सरकारी महकमों का खुलकर प्रयोग किया। सरकारी खजानों से मस्जिदों, सरायों तथा खानख्वाहों का निर्माण तथा रख–रखाव करना। इनका निर्माण आमतौर पर हिन्दू मन्दिरों के भग्नावेशों पर ही किया जाता था। यहॉ खुदा की इबादत के अलावा धर्म परिवर्तन के कार्य खुलकर होते थे। कुछ शासक जैसे कश्मीर के सिकन्दर बुतशिकन(1394–1417), अपनी सम्पूर्ण प्रजा को इस्लाम ग्रहण करने के लिए बाध्य करते थें[28]।

मुस्लिम सुल्तानों ने सोची–समझी रणनीति के तहत हिन्दुओं पर बहुत सारे आर्थिक बंदिश तथा आर्थिक दबाव लगाया जिससे गरीब, बेबस, निरीह हिन्दू जनता मत–परिवर्तन के प्रति उन्मुख हुई। इब्नबतूता लिखता है कि सुल्तान कुतुबुद्दीन मुबारक शाह खिलजी (1316–1320) धर्मान्तरित हिन्दुओं को सम्मानसूचक शाही पोषाक (खिल्अत) एवं स्वर्ण –आभूषण देकर हौसलाअफजाई करता था[29]। बंगाल में जो राजा निश्चित समय पर खराज अदा नहीं करता था उन्हे इस्लाम मजहब कबूल करने के लिए मज़बूर किया जाता था[30]। अफीफ स्वीकार करते हैं कि फिरोज अपने अमलों में हिन्दुओं को धर्मान्तरित करने के स्पष्ट आदेश दे रखा था [31]। फिरोज तुगलक के द्वारा तहरीर

है कि उसने हिन्दुओं को रज़ामन्दी से इस्लाम कबूल करने का लालच देने के लिए जजिया कर को रद्द कर दिया था और इससे निज़ात पाने के लिए हर तरफ से ही दल के दल लोग धर्मान्तरित होने लगे[32]।

बलात धर्म–परिवर्तन के अलावा रज़ामन्दी से धर्म–परिवर्तन भी हुए जो अपवादस्वरूप थे। एक बार निजामुद्दीन औलियॉ ने दुःख के साथ कहा था कि ''बहुत से (हिन्दू) इस्लाम को एक सच्चे धर्म के रूप में जानते हैं, मगर वे इसे स्वीकार नहीं करते' और 'उन्होने (हिन्दुओं ने) इस्लाम को अपने दिलों में उसी प्रकार निकाल दिया है जैसे आटे से (गूंथते समय) एक बाल को निकाल दिया जाता है''[33]। इससे स्पष्ट होता है कि रज़ामन्दी से धर्म–परिवर्तन की संभावनाएँ काफी कम थीं, फिर भी कुछ मामलातों में रज़ामन्दी से धर्म–परिवर्तन हुए। सूफी मशाइखों की गतिविधियॉ भी धर्मान्तरण के प्रति सक्रिय थीं एवं स्वैच्छिक धर्मान्तरण के तहत जो लोग इस्लाम स्वीकार करना चाहते थे उनकी इन सूफियों ने ज़रूर मदद की होगी। कहीं–कहीं इन लोगों ने भी धर्मान्तरण के कार्य हेतु जोर'–जबरजस्ती किया। तवारीखों में ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि खुद के मजहब से खफा हिन्दुओं ने खुशी से इस्लाम स्वीकार किया है। कुछ लोग किसी मुस्लिम महिला के मोहब्बत में दिवाने होकर, कुछ ने धन के लालच में कुछ ने ताल्लुकदारों के चलते, कुछ ने व्यावसायी व आर्थिक बन्दिशों के चलते इस्लाम पर ईमान लाया।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर हम देखते हैं– मुसलमानों ने अपने मज़हब के प्रचार–प्रसार के लिए हर तरह के हथकण्डों का प्रयोग किया, इन्हीं बातों के दरम्यान प्रसिद्ध इतिहासकार सीताराम गोयल ने लिखा कि ''अल–बिलाधुरी से शुरू करके, जो कि नौवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अरबी भाषा में लिखा करता था, सैयद महमूदुल हसन तक जो कि बींसवी शताब्दी के चौथे दशक में अंग्रेजी में लिखा करता था, हमने बारह सौ वर्षो से भी अधिक समय के अस्सी इतिहासों से उद्धरण दिए हैं। हमारे उद्धरण में इकसठ बादशाहों, तिरसठ सैनिक कमाण्डरों और चौदह ऐसे सूफियों का उल्लेख है जिन्होने बड़े–छोटे 154 स्थानों पर, जो कि पश्चिम में खुरासन से लेकर पूर्व में त्रिपुरा तक और उत्तर में ट्रांसोक्सियाना से लेकर दक्षिण में तमिलनाडु तक फैले हुए थे, ग्यारह सौ वर्षो तक हिन्दू मन्दिरों को नष्ट किया। अधिकतर मामलों में मन्दिर को नष्ट करने के बाद उनके स्थान पर और प्रायः मन्दिरों की निर्माण सामग्री से मस्जिदें, मदरसे और खानकाहें आदि बनवाई गई। सम्बन्धित मूर्तिभंजक को यह तौफिक देने के लिए कि वह इस पवित्र कार्य द्वारा मुहम्मद द्वारा चलाए मज़हब की खिदमत कर पाया, हर बार अल्लाह का शुक्रिया अदा किया जाता था''[34]। संक्षेप में मुस्लिम सुल्तानों, आक्रान्ताओं, कुछ सूफियों, अमीरों या जिसे भी मौका मिला उन्होने दूसरे मज़हबों के इबादत गृहों को नष्ट किया, हिन्दुओं का इस्लामीकरण करने के लिए हर प्रकार के तौर–तरीकों का इस्तमाल किया और इसमें वे काफी हद तक सफल भी रहे।

सन्दर्भ ग्रन्थ–

1 वेग, पृ0 77–79, भारगाटेन, पृ0 217
2 सिंह, अशोक, सल्तनत काल में हिन्दू प्रतिरोध पृ0 22
3 दिनकर, रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय पृ0 269
4 The Quran, sura 2(Barat) verse29 trs. By Hashim Amir Ali ,Japan 1974
5 The Quran, sura 8 verse 36-39
6 अल–बिरूनी, तहकीक–ए–हिन्द, पृ0 3 अनु0 नूर नबी अब्बासी,
7 एम 0 मुजीब, द इण्डियन मुस्लिम (लंदन, 1967) पृ0, 67–68
8 के0 एस0 लाल, खिलजीज, पृ0 247
9 याह्या पृ0 129, फरिश्ता I पृ0 147
10 इब्न असीर, कमील उत् तवारीख, पृ0 250
11 इब्न असीर, कमील उत् तवारीख, पृ0 251
12 तारीख फकुद्दीन मुबारकशाह, पृ0 20
13 फरिश्ता I पृ0 66 तथा मिन्हाज, पृ0 175
14 मिन्हाज, इलिएट तथा डाउसन, पृ0 348
15 मिन्हाज, इलिएट तथा डाउसन, पृ0 367
16 मिन्हाज, इलिएट तथा डाउसन, पृ0 371
17 मिन्हाज, इलिएट तथा डाउसन, पृ0 380–81
18 बर्नी, पृ059, फरिश्ता, पृ0 77
19 शम्स सिराज अफीफ, तारीख–ए–फिरोजशाहीं, (कोलकाता, 1890), पृ0 272
20 बर्नी, पृ0 318 तथा लाल, खिलजीज, 214–215
21 बर्नी, 314–315
22 अफीफ, पृ0 267
23 अफीफ, पृ0 270
24 मसालिक उल अबसार, पृ0 580
25 मदनगोपाल, इब्नबतुता की भारत यात्रा, चौथी आवृत्ति, पृ0 71
26 तुगलककालीन भारत, रिजवी, खण्ड 2 पृ0 149–150
27 तारीखे दाउदी, पृ0 59–60
28 फरिश्ता, पृ0 341
29 इब्नबतूता, भोयेजेज, सम्पादन–सी डेफ्रेमेरी तथा बी0 आर0 सेग्विनेट्टी (पेरिस 1857) पृ0 197–98 तथा लाल, खिल्जीज, पृ0 305
30 सत्य कृश्ण विश्वास, वंशस्मृति (बंगला), कोलकाता, 1926, पृ0 6–10
31 अफीफ, पृ0 268–69 तथा ईश्वरीप्रसाद करौना तुर्कस, पृ0 331
32 फुतूहोत–ए–फिरोजशाही, फिरोजतुगलक, इलिएट तथा डाउसन , पृ0 386
33 फवाद–उल–'फवाद पृ0 150, 195–97
34 हिन्दू टेम्पल्सः व्हाट हैपन्ड टु दैम, दि इस्लामिक एवीडैन्स खण्ड पृ0 245

✦✦✦

*शोध–छात्र
इतिहास विभाग
सामाजिक विज्ञान संकाय,
बी.एच.यू., वाराणसी

शोध-२६

बौद्धकालीन राजनीति में स्त्रियों की भूमिका

डॉ0 अवधेश सिंह*
विनय कुमार सिंह**

प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था में स्त्रियों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। उनका सम्मान और आदर आदर्शात्मक और मर्यादायुक्त था। वे पुरुषों के सदृश थीं। उन्हें आत्मविकास और उत्थान करने की स्वतंत्रता थी। विवाह, शिक्षा और सम्पत्ति में उन्हें अधिकार भी प्राप्त थे। कन्या, पत्नी और माता के रूप में उनके प्रति समाज की स्वाभाविक निष्ठा और श्रद्धा रही है। इनके द्वारा विभिन्न रूपों में किया गया योगदान महत्वपूर्ण रहा है। भारतीय धर्मशास्त्रों में नारी सर्व–शक्तिसम्पन्ना मानी गयी तथा विद्या, शील, ममता, यश और सम्पत्ति की प्रतीक समझी गई। शनैः शनैः समाज में उनका स्थान महत्वपूर्ण होता गया और पुरुष उनके बिना अपूर्ण समझा गया।[1] स्त्री, स्नेह और सन्तान, ये तीनों मिलकर ही पूर्ण पुरुष होता है और स्त्री से उत्पन्न सन्तान उस स्त्री के पति की होती है।[2] 'श्री' और 'लक्ष्मी' के रूप में वह मनुष्य के जीवन को सुख और समृद्धि से पुंजित करने वाली कही गई।[3] शरीर की पूर्णता विवाहिता पत्नी से ही सम्भव थी।

स्त्रियों की दशा में युग के अनुरूप परिवर्तन होता रहा। सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक उत्तरदायित्वों का निर्वहन करने के साथ ही साथ स्त्रियों का राजनीति में भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। बौद्धकालीन राजनीति में भी उनकी भूमिका महत्वपूर्ण थी। बौद्ध युग में स्त्रियाँ प्रायः शिक्षित और विद्वान हुआ करती थीं, जो शासन–व्यवस्था और राज्य के प्रबन्ध में दक्ष होती थीं तथा शासक और अभिभावक के अभाव में स्वयं प्रशासन का संचालन करती थीं।

छठीं शदी ई0पू0 और उसके तत्काल बाद की राजनीतिक स्थिति पर सर्वोत्तम प्रकाश बौद्ध ग्रन्थों से मिलता है। बौद्ध ग्रन्थ 'अंगुत्तरनिकाय' में षोडश महाजनपदों की सूची उपलब्ध है जो भगवान बुद्ध के काल में विद्यमान थे। जातकों में कोशल और काशी के संघर्ष की अनेक कथायें मिलती हैं और बुद्ध के समकालीन कोशल नरेश प्रसेनजित ने अपनी पुत्री महाकोशला का विवाह मगध नरेश बिम्बिसार से किया और काशी का एक गाँव दहेज के रूप में प्रदान किया।[4] प्रसेनजित और बिम्बिसार ने एक–दूसरे के बहन से विवाह किया था। जब अजातशत्रु ने अपने पिता बिम्बिसार की हत्या कर दी तो प्रसेनजित ने क्रुद्ध होकर दहेज में दिया गया काशी के एक ग्राम की आय भेजनी बन्द कर दी। इसके परिणामस्वरूप दोनों में युद्ध हुआ परन्तु अन्त में संधि हो गयी तथा प्रसेनजित ने अपनी पुत्री वाजिरा का विवाह अजातशत्रु से करके काशी का वह गाँव पुनः वापस कर दिया। ये वैवाहिक सम्बन्ध राजनीतिक दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण रहे। वाजिरा कोशल के प्रधान माली की पुत्री मल्लिका की पुत्री थी जो प्रसेनजित की पत्नी थी। मल्लिका प्रसेनजित को बौद्धधर्म का सिद्धान्त समझाती थी तथा राजकीय समस्याओं का समाधान भी करती थी। मल्लिका के कहने पर ही उसने मल्लिकाराम नामक विहार बनवाया था। अपनी रानियों की धर्मलाभ इच्छा पूर्ति के लिए उसने बुद्ध से विद्वान भिक्षु को अन्तःपुर में प्रवचन के लिए भेजने का अनुरोध किया था।

वत्स जनपद जो मगध और अवन्ति के मध्य स्थित था, इसके उत्तर में कोशल, दक्षिण में चेदि, उत्तर–पश्चिम और दक्षिण में क्रमशः शूरसेन, पाल और अवन्ति और पूर्व में काशी थी। तत्कालीन भारत में इसकी गणना छः महानगरों में की जाती थी। वत्स का शासक उदयन वज्जि संघ के अध्यक्ष चेरक की पुत्री मृगावती से विवाह किया था। साम्राज्य स्थापना के लिए हुए संघर्ष में भौगोलिक दृष्टि से उदयन की स्थिति कमजोर थी क्योंकि वह चतुर्दिक शक्तिशाली राज्यों से घिरा था। अपनी स्थिति सुरक्षित करने के लिए उसने विवाह नीति का आश्रय लिया जो उसके रसिक स्वभाव के अनुकूल थी। अपने प्रेम संबंधों के कारण वह प्राचीन कथाओं में नायक के रूप में प्रसिद्ध है।[5] अवन्ति नरेश प्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता के साथ विवाह की कथा 'धम्मपद अट्ठकथा' में विस्तार से वर्णित है। भास के प्रसिद्ध नाटक ''स्वप्नवासवदत्ता'' में भी इस वैवाहिक कथा का वर्णन है। स्वप्नवासवदत्ता, प्रियदर्शिका, रत्नावली, धम्मपद अट्ठकथा, मिलिन्दपन्हो, कथासरित्सागर में उसके अनेक वैवाहिक संबंधों और विजयों का वर्णन है। इन वैवाहिक संबंधों का राजनीतिक दृष्टि से काफी महत्व है। उदयन का विवाह मगध के राजा दर्शक की बहन पद्मावती के साथ हुआ था जिसके परिणामस्वरूप मगध उदयन का मित्र बन गया।

नायनिका (नागमिका) अंगीय कुल के महारठी मनकयिरों की पुत्री थी। नागानिका का विवाह सातवाहन नरेश शातकर्णि प्रथम से सम्पन्न हुआ। कर्नाटक में उसके कुछ सिक्के मिले हैं। इससे प्रकट होता है कि यह वंश पर्याप्त रूप से शक्तिशाली था। अतः इस वैवाहिक संबंध ने शातकर्णि को शक्ति विस्तार में महत्वपूर्ण सहयोग दिया। नानाघाट अभिलेख से भी शातकर्णि (शातकर्णि) की सफलताओं के ऊपर प्रकाश डालता है। शातकर्णि की मृत्यु के उपरान्त उसके पुत्र वेदश्री और शक्तिश्री अवयस्क थे। अतः शतकर्णि प्रथम की पत्नी नागनिका ने संरक्षिका के रूप में शासन का संचालन किया। इस काल में रानियाँ 'देवी' अथवा 'महादेवी' की उपाधि धारण करती थी। इस काल की

दो रानियों–नागनिका (शातकर्णि प्रथम की रानी) तथा गौतमी बलश्री (गौतमीपुत्र शातकर्णि की माता) ने प्रशासन में सक्रिय रूप से भाग लिया। गौतमी पुत्र शातकर्णि को एक ब्रह्मणस और क्षत्रियदर्प मानमर्दन कहा गया है। इस राजा ने वर्णसंकरता को रोका। इससे प्रकट होता है कि उस समय अन्तर्जातीय विवाह शास्त्रीय दृष्टि से अच्छे नहीं थे परन्तु अन्तर्जातीय विवाह होते रहे। सातवाहन काल में स्त्रियों की दशा संतोषजनक थी। माताओं के नाम पर सम्बोधित पुत्रों के उदाहरण हैं। गौतमी पुत्र शातकर्णि, वशिठीपुत्र पुलमाली समाज में श्रेष्ठ स्त्रियों की राजनीतिक मान्यता की ओर संकेत करते हैं। नागनिका, गौतमी, बलश्री के उदाहरण इस बात के स्पष्ट प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि पतियों के साथ उनकी स्त्रियाँ भी शासन संचालित करती थीं। इसके लिए उन्हें वाल्यकाल में ही पर्याप्त शिक्षा ही जाती थी। राजकीय कार्यों के अतिरिक्त स्त्रियों को धार्मिक कार्य करने की भी अनुमति थी। नागनिका ने अपने पति के साथ दो अश्वमेध यज्ञ किये थे। इस काल का कोई भी साक्ष्य उपलब्ध नहीं है जिससे यह प्रतीत हो कि स्त्रियों में पर्दाप्रथा प्रचलित थी। यह स्त्रियों के राजनीतिक महत्वाकांक्षा का द्योतक है।

बौद्ध काल की प्रमुख स्त्रियों में महाप्रजापति गौतमी, यशोधदा, नन्दा, खेमा, आम्रपाली, विशाखा आदि है।

(1) महाप्रजापति गौतमी– यह महाराज शुद्धोदन की पत्नी और महात्मा बुद्ध की मौसी थी। आनन्द के बहुत कहने पर बुद्ध ने इन्हें संघ में प्रवेश कर दीक्षित करने का निर्णय लिया था और तभी से बौद्ध संघ में स्त्रियाँ भिक्षुणी बनने लगी।

(2) यशोधरा– यह बुद्ध की पत्नी थी। इन्होंने भी प्रवज्जा ग्रहण की थी तथा संघ के नियमों का अनुपालन का आश्वासन दिया था।

(3) नन्दा– यह महाप्रजापति गौतमी की पुत्री एवं बुद्ध की बहन थी। इसने भी बुद्ध से दीक्षा प्राप्त की थी।

(4) खेमा– यह मगध सम्राट बिम्बिसार की पत्नी एवं रानी थी। इसने प्रवज्जा ग्रहण की थी तथा बौद्धधर्म एवं संघ के विकास में अपना योगदान दिया था।

(5) आम्रपाली– यह वैशाली की गणिका थी, जिसने बौद्ध धर्म को स्वीकार किया था। इसने उद्यान, जन बौद्ध संघ को दान में प्रदान किया था।

(6) विशाखा– यह अंग जनपद के भद्दिय ग्राम के श्रेणि की पुत्री थी। इसने अपना धन बौद्ध संघ को दान में दिया था जिससे श्रावस्ती में पूर्वाराम विहार का निर्माण हुआ। बुद्ध प्रायः इसी विहार में विश्राम किया करते थे। बाद में विशाखा बौद्ध संघ की संरक्षिका बन गयी थी।

बौद्ध युग में स्त्रियाँ शिक्षित और विद्वान हुआ करती थीं। बौद्ध आगमों की शिक्षिकाओं के रूप में इन्होंने ख्याति प्राप्त की थी। थेरी गाथा की कवियित्रियों में 32 आजीवन ब्रह्मचारिणी और 18 विवाहिता भिक्षुणियाँ थीं। उनमें शुभा, सुमेधा, अनोपमा उच्चवंश की कन्यायें थीं।[6] संयुक्त निकाय से ज्ञात होता है कि सुभद्रा नामक भिक्षुणी व्याख्यान देने में प्रसिद्ध थी। राजगृह के सम्पत्तिशाली सेठ की पुत्री 'भद्राकुण्डकेशा' अपनी विद्या और ज्ञान से सबको आकृष्ट करती थी। एक जातक से विदित होता है कि एक जैन पिता की चार पुत्रियों ने देश का भ्रमण करते हुए लोगों को दर्शनशास्त्र पर वाद–विवाद करने पर चुनौती दी थी।[7]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि बौद्ध युग में स्त्रियों की स्थिति सामान्य थी। स्वयं महात्मा बुद्ध ने अपने प्रारम्भिक काल में स्त्रियों को संघ प्रवेश की अनुमति नहीं दी थी। क्योंकि वे जानते थे कि उनके प्रवेश से संघ के नियम व व्यवस्था भंग हो जायेगी। स्त्रियों के संघ प्रवेश के मामले को लेकर उनके निकटतम प्रिय शिष्य आनन्द ने उनसे बहुत तर्क–वितर्क किया तथा अन्त में स्त्रियों को संघ में प्रवेश कराने की अनुज्ञा प्राप्त की। परन्तु महात्मा बुद्ध ने कह दिया कि स्त्रियों के प्रवेश से धर्म चिरस्थायी न रह पायेगा। जिस प्रकार से पाला पड़ने पर सभी फसल नष्ट हो जाती है उसी प्रकार स्त्रियों के प्रवेश से धर्म भी विनष्ट हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि महात्मा बुद्ध का स्त्रियों के प्रति बहुत अधिक विश्वास और भरोसा नहीं था। स्त्रियों के अस्थिर विचार, नियम और व्यवस्थाओं को पूर्णतः न पालन करने की क्षमता तथा चंचल मन ही इस अविश्वास के कारण थे। परन्तु उनमें अनेकानेक गुण भी थे जिसके कारण वे 'देवी' और 'श्री' के रूप में सम्मानित थी। बौद्धकाल में इनकी स्थिति सामान्य थी।

सन्दर्भ ग्रन्थ–

1. मनु0 9.45
   एतावानेव पुरुषो यज्जायाऽऽत्माप्रजेतिह।
   विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्तासा स्मृतांगना।।
2. महाभारत, आदिपर्व, 74.40, वृहस्पति, 25.11
3. वृहत् संहिता, 74.5, मनु, 9.26
4. बिम्बिसार सुता आसुसंत एको च विस्सुता,
   असो को आसि तेस तु पुज्जतेजो वलिद्धिको
   वे भातिके मातरो सो हन्त्वा एकूनकं सतं
   सकते जम्बूदीपस्मि एकरज्जमपापुणि।।
5. हार्नर, विमेन अंडर प्रिमिटिब बुद्धिज्म, दूसरा अध्याय
6. जातक, सं0 301

✦✦✦

* प्राध्यापक, प्रा0 इतिहास विभाग,
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
मुहम्मदाबाद, गोहना, मऊ

** शोध छात्र, प्रा0भा0इ0,
सं0 एवं पुरातत्त्व विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

शोध-२८

'छायावाद' और 'रविकिरण मंडल' का काव्य

चपले मनोहर गंगाधर राव बन्नालीकर*

भाषा मानव की अभिव्यक्ति का प्रमुख साधन है, अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए उसने अपनी इच्छानुरूप ध्वनि प्रतीकों से अर्थ संकेत बनाए जिसके कारण भाषा का विकास होता रहा। मानव की पहली प्राथमिकता है अपने मानस की अभिव्यक्ति। भाषा चाहे वह अंतर्राष्ट्रीय हो या कबीले की, वह प्राथमिकता देती है अपनी आत्माभिव्यक्ति को ही। भारतीय बहुभाषिकता में हम एक भारतीय समाज–संस्कृति विचारधारा का दर्शन कर सकते हैं। भारतीय भूखंड का मानव लगभग एक ही प्रकार का विचार करता है, यह हम भारतीय साहित्य के अध्ययन से जान सकते हैं।

मानव कहीं भी हो, वह अपनी अभिव्यक्ति को प्रधान मानता है, किन्तु विशाल भूखंड में भिन्न भाषीय तत्वों में एक प्रकार की अभिव्यक्तियाँ भारतीय मानसिकता की एकता के सूचक तत्व हैं। यह तत्व हिन्दी और मराठी साहित्य में प्रचलित सन् 1918 से 1936 तक के काव्यांदोलनों के अध्ययन से स्पष्ट होता है।

सन् 1918 से 1936 का काल खण्ड हिन्दी और मराठी साहित्य में विशेष उल्लेखनीय है। इस युग की हिन्दी काव्यधारा को छायावाद (1918–1936) और मराठी में रविकिरण मंडल नाम से अभिहित किया गया जिसे दोनों साहित्य में आधुनिक कविता का स्वर्ण युग; कहा गया। इन दोनों साहित्य की काव्यधारा पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने से यह ज्ञात होता है कि दोनों काव्यधाराओं में पर्याप्त अंतर और अधिकांश समानता दिखई देती है। अतः इन दोनों पर विचार करने पर हमें सहज जिज्ञासा हो सकती है कि वे कौन–से बिन्दु हैं जो दो भाषा–भाषी साहित्य–समाज की भिन्न जीवन शैली, रहन–सहन आदि में समान तत्व हैं।

छायावाद की अवधारण और उसके संबंध में निर्मित अनेक वाद–विवाद, उसका आधुनिक कविता में स्थान, इससे अधिकांशतः हम परिचित हैं। अतः प्रथमतः हम मराठी साहित्य के 'रविकिरण मंडल' के संबंध में संक्षिप्त जानकारी प्राप्त करेंगे तथा इससे संबंधित समानता विषमता के कारणों की खोज करेंगे।

'रविकिरण मण्डल' मराठी साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसके नामकरण की विवेचना करते हुए डॉ. रणसुभेजी ने लिखा है– "सन् 1920 से 1923 के समय महाराष्ट्र के अन्य भागों से पुणे में पढ़ाई के लिए आए हुए नवयुवक काव्य चर्चा के लिए प्रत्येक रविवार को एक स्थान पर इकट्ठा होते थे। परंपराबद्ध मराठी कविता, केशवसुती संप्रदाय तथा अन्य कवि, इन कवियों की सीमाएं आदि विषयों पर चर्चाए होने लगी। सन् 1923 में इन्होंने इसका नामकरण किया "रविकिरण मंडल।"[1] इस संबंध में 'महाराष्ट्र शारदा मंदिर' नामक संस्था का महत्वपूर्ण योगदान रहा जिसके सदस्य कवि अनततनय, प्रा. श्री .ना. चाफेकर केशवकुमार अत्रे, अज्ञातवासी मायदेव, अधिकारी गोपिनाथ तळवळकर, ग.ह. पाठील, रानडे, यशवत, माडखोलकर वि.द. घाटे, माधवराव पदवर्धन, मनोरमाबाई रानडे आदि थे और इन सभी में काव्य–साहित्य आदि के संबंध में चर्चा होती रही, अतः यह चर्चा छुट्टी के दिन रविवार को होती थी और साथ में चायपान करने के लिए ये लोग एकत्रित होते थे। अतः इसे 'सन टी क्लब' नाम दिया गया जिसका आगे चलकर रविकिरण मंडल नामकरण किया गया।

कविता के क्षेत्र में रविकिरण मंडल ने अपूर्व यश प्राप्त किया तथा साथ ही साथ अपूर्व आलोचना का सामना किया जिसके रूप में हम छायावाद के संदर्भ में याद कर सकते हैं। छायावाद को प्रथमतः अश्लील और असामाजिक घोषित कर महावीर प्रसाद द्विवेदी ने निराला की कविता को अस्वीकार किया। इसी प्रकार रविकिरण मंडल के कवियों को 'प्रणय की पढ़री' में अभ्रण करने वाले भक्त की संज्ञा देकर उस पर असामाजिकता का आरोप लगाया तो "कुछ लोगों ने नवनिर्माण के जनक मानकर स्वागत किया, कुछ ने नए नौटंकीवाले (तमासगीर) कहकर अपमान किया।"[2] अतः इस आलोचना को प्रति उत्तर देने के लिए इन कवियों ने अपनी काव्यविषयक भूमिका स्पष्ट करने वाला संकलन 'किरण' नाम से प्रकाशित किया, साथ ही 'शलाका' उषा 'मधुमाधव', प्रभा आदि का प्रकाशन किया। अतः इस संदर्भ में अपनी भूमिका और आलोचकों को उत्तर देने के लिए पंत, निराला ने भी अपना मंतव्य प्रस्तुत किया। स्वप्रमाणित करने की यह प्रवृत्ति दोनों काव्य धाराओं में समान रूप से प्रचलित रही। यही कारण है कि प्रारंभ में दोनों काव्यांदोलनों को अपनी काव्य भूमिका स्पष्ट करनी पड़ी। इन कवियों की काव्यवस्तु तथा अभिव्यक्ति अपने स्थूल जीवन, समाज तथा व्यक्तिगत प्रेम से आपूर्ण थी। प्रेम का व्यापक और व्यक्तिगत संदर्भ लेकर इन्होंने काव्य रचना की जिसमें मिलन की उत्कंठा, त्याग, प्रणय, संयोग के क्षण चित्र आदि की भरपूर अभिव्यक्ति थी, जो नितांत वैयक्तिक होकर भी समाज संलग्न थी। अतः इसका संदर्भ हम छायावाद से ले सकते हैं। यह सभी तत्व लगभग छायावाद में दृष्टिगोचर होते हैं।

"छायावादी कविता ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए बाधक छंद के बंधनों को तोड़ा तथा मुक्तछंद का प्रचलन किया।"[3]

शहरों के सीमित क्षेत्र में रहने लगा है। जो लगातार बढ़ते हुए 2025 तक 61 प्रतिशत हो जायेगा। भारत में 2001 के अनुसार 28 प्रतिशत जनसंख्या शहरी थी जो 2011 तक 32 प्रतिशत से ऊपर हो जायेगी उसका प्रभाव अति जलदोहन पर पड़ेगा।

4. भारत की भौगोलिक संरचना के आधार पर जल चक्र व बदलते मौसम का प्रभाव– भारत के उत्तर पर्वतीय भाग में जून से सितम्बर की वर्षा के सापेक्ष्य 'पश्चिमी विक्षोभ' की वर्षा से हिम ग्लेशियरों का प्रभाव बढ़ता है। जो 'ग्लोबल वार्मिंग' के कारण दिन पर दिन कम होता जा रहा है। जिससे पृथ्वी रूपी माता की नदी रूपी नाड़ी सूखती जा रही है। जब माता का उद्गम स्रोत सूखेगा, तब मनुष्यों के भौतिक सुख के अनियोजित विकास के कारण मनुष्यों की नाड़ियां कम जल या प्रदूषित जल के कारण सूखेंगी ही।

पृथ्वी पर सूर्यातप का प्रभाव और उसके विकिरण का अनुपात बिगड़ने के कारण पृथ्वी का तापमान 2 सेंटीग्रेट बढ़ गया है जिससे पूरे विश्व में गर्मी का प्रभाव बढ़ने लगा है, भारत जैसे देश में तीन जलवायु ठण्डी, गर्मी और वर्षा में ठण्डी और वर्षा पर गर्म भारत में कम समय में अतिवृष्टि की समस्या और वर्षाकाल के पूर्व मानसून का आ जाना अति गर्मी के प्रभाव के कारण है। जिसका निदान केवल वृक्ष लगाना है। जिसका पूरे विश्व के साथ ही साथ भारत पर भी जलचक्र की प्रक्रिया में बाधा आयी है। भारत जैसे देश में वर्षा को प्रभावित करने वाला 2009 में एलनीनो, लानीना, द0 दोलन, तिब्बत पठार का कम तपना या 85 अरब डालर का तेल आयात कर उसे नष्ट करना कारण है।

5. कम लागत व आसान तरीकों से वाटर हार्वेस्टिंग (जल संचयन) व पूर्ण सुरक्षा– वाटर हार्वेस्टिंग मूलतः गाँवों की नहीं कंकरीट के जंगलों की अवधारणा है। जहां जलरिचार्ज करने के लिए स्रोत कम या नहीं के बराबर है और जल उपभोग की कैपसिटी जलदोहन का रूप ले लिया है। अमेरिका, यूरोपीय देश, अर्जेण्टाइना, दक्षिणी अफ्रीका, आस्ट्रेलिया आदि देशों में जहां शहरों का विकास सरकारी माध्यम से सुनियोजित हुआ है वहां सरकारी प्रयास से वाटर हार्वेस्टिंग की जा रही है, वहीं भारत के शहर अनियोजित (व्यक्तिगत) विकास के द्योतक होने से हार्वेस्टिंग की कैपसिटी नहीं है। हाँ मल जल बैंक बनाकर हर घर में जहां से जल लेते हैं उस जल चक्र को चला सकते हैं।

6. जल प्रदूषण का स्वास्थ्य पर प्रभाव– स्वच्छ जल जीवों के लिये अति महत्वपूर्ण और आवश्यक है। वहीं जीवमण्डल में पोषक तत्त्वों के संचरण तथा चक्रण में सहायता करता है। एक प्रतिशत जल जो पीने योग्य है वह भूमिगत, सरिता, मृदा, झील, वायुमण्डलीय जल के रूप में स्थित है जो औद्योगीकरण, नगरीकरण तथा जनसंख्या की तीव्र वृद्धि के कारण जलदोहन शुरु हुआ है। जल की स्वयं की शुद्धीकरण की प्रक्रिया के बावजूद भी मानव के दुर्व्यवहार के कारण ही जल प्रदूषण होता है।

जल प्रदूषण को रोकने हेतु भारत सरकार ने 1974 में 'जलप्रदूषण नियंत्रण अधिनियम' बनाया है। फिर भी मानव पर इसके कारण हैजा, तपेदिक, पीलिया, अतिसार, पैराटाइफाइड, पेचिस, असबेस्टोसिस, मिनामाता रोग होता है वहीं विषाक्त रसायनों से जलीय पौधों एवं जन्तुओं की मृत्यु हो जाती है। नदियों, झीलों तथा तालाबों के प्रदूषित जल द्वारा सिंचाई से उपयोगी मृदावासी–सूक्ष्मजीव यथा बैक्टीरिया मर जाते हैं। सागरों में 'आयल स्लिक्स' से जीव मर जाते हैं।

7. जल प्रदूषण पर सरकारी, गैर सरकारी संस्थाओं एवं सामाजिक संगठनों द्वारा किये गये जागरुकता के उपाय– जल प्रदूषण पर सरकार द्वारा 1974 से बनाये गये अधिनियम और गैर सरकारी संस्थाओं द्वारा अपने स्तर से किये जा रहे प्रयास के बावजूद हम प्रदूषित जल पीने के लिये अभिसप्त है। हम 2009 में अगस्त के अन्तिम दिनों में वाराणसी में रहते हुए प्रकृति की क्रूर स्वरूप (सूखा की स्थिति) को देखकर और ग्राउण्ड वाटर की भयावह स्थिति देखकर हम सहृदयी जन, जल से निकाले गये मछली की तरह तड़प रहे हैं। एक तरफ 100 फीट तक ग्राउण्ड वाटर प्रदूषित हो चुका है वहीं यह पिछले 10 सालों में 60 फीट से 120 फीट नीचे ग्राउण्ड वाटर लंका और छित्तूपुर, बी0एच0यू0 में चला गया है।

अगर यह प्रदूषण और ग्राउण्ड वाटर के नीचे बढ़ने का रफ्तार रहा तो भारत सहित पूरे 10^{0} अक्षांश से 40^{0} अक्षांश का अति मानव दबाव का क्षेत्र रेगिस्तान में परिवर्तित हो जायेगा।

सन्दर्भ ग्रन्थ–

1. ऋ0 1 म0, 159 सूक्त, 2–3 मन्त्र
2. ऋ0 1.16.112.6 मन्त्र, याभिरन्तकं जसमानमारणे भुज्युं याभेरव्यथिभिर्जिजिन्वथुः।
3. ऋ0 5.47.5, इदं वपुर्निवचनं जनासश्चरन्ति यत्रद्यस्तस्थुरापः। द्वेयदीं विमृतो मातुरन्ये इहेह जाते यम्या सबन्धू।।
4. जनांकिकी, कुमार एवं गुप्ता, पृ0 407

✦✦✦

*शोध–छात्र
कला संकाय
संस्कृत विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

अतः इसी प्रकार रविकिरण मंडल की कविता में छंदबद्ध और मुक्त छंदयुक्त कविता की रचना की गई। डॉ. रणसुभेजी के अनुसार–''रविकिरण मंडल ने मराठी छंदों को व्यवस्थित तथा शास्त्रीय रूप दिया।''[4]

छायावाद और रविकिरण मंडल की वर्ण्य विषय तथा वस्तुगत प्रवृत्तियाँ लगभग समान दिखाई देती हैं जिसमें प्रकृति चित्रण, सौन्दर्य बोध, नारी के प्रति नवीन दृष्टिकोण, प्रकृति का विविधामी चित्रण मानवीकरण आदि समान हैं, तथा मन के राग–विराग, सूक्ष्म–स्थूल रहस्य आदि में लगभग समानता दिखाई देती है। किन्तु रूपगत प्रवृत्तियाँ तथा भाषा शैली के संदर्भ में भिन्नता दिखाई देती है। छायावादी कवियों ने मुक्त छंद, महाकाव्य (कामायनी) लंबी कविता आदि का प्रयोग किया है। अतः रविकिरण मंडल की रूपगत प्रवृत्तियाँ व्यापक हैं, जिसमें प्रगीत के साथ सुनित, दीर्घ कविता, रूबाईयाँ, स्फूट कविता, महाकाव्य, खण्डकाव्य, गजल, भावगीत, लावणी आदि का विविधांगी प्रयोग किया गया तथा इसके साथ ही ''काव्यगायन की परंपरा को अत्याधिक लोकप्रियता मिली जिसका योगदान मंडल को देना पड़ा।''[5] रविकरण मंडल की गरिमा और मराठी साहित्य में मंडल के स्थान को रेखांकित करते हुए एक आलोचक ने लिखा है–''रविकिरण मंडल ने काव्य क्षेत्र में जो कार्य किया है उसका पिछले सौ सालों में कोई सानी नहीं है।''[6]

सारांशतः इस विवेचन से हम इस निर्णय पर पहुँच सकते हैं कि कोई भी भाषा भाषी समाज हो, उसकी अपनी संस्कृति होती है और भारतीय भूमंडल के भाषा–भाषी समाज की संस्कृति लगभग एक समान है और प्रत्येक भाषा–भाषी लगभग एक प्रकार की अनुभूति करता है जिसे अभिव्यक्त करने के लिए वह विविध साधनों का प्रयोग करता है जिससे अभिव्यक्ति में अनेक समानताएँ आती हैं जिसमें सांस्कृतिक तत्व निहित होते हैं और जिसे हम सांस्कृतिक वैचारिक एकता के चिह्न भी कह सकते हैं और इस सोच और विचार की अभिव्यक्ति से हम युगीन संदर्भ में मानव की वैचारिक एकता के तत्व खोज सकते हैं। अतः यह कहना अतिवाद न होगा कि हिन्दी मराठी में प्रचलित छायावाद और रविकिरण मंडल भारतीय भूमंडल की एक कालिक वैचारिक अभिव्यक्ति का प्रमाण है।

और इस सोच और विचार की अभिव्यक्ति से हम युगीन संदर्भ में मानव की वैचारिक एकता के तत्व खोज सकते हैं। अतः यह कहना अतिवाद न होगा कि हिन्दी मराठी में प्रचलित छायावाद और रविकिरण मंडल भारतीय भूमंडल की एक कालिक वैचारिक अभिव्यक्ति का प्रमाण है।

सन्दर्भ ग्रन्थ–

1. प्रादेशिक भाषा और साहित्येतिहास, डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे– पृ. 34
2. रविकिरण मंडळाची निवडक कविता, अनुराधा पोतदार, वसंत कामेटकर– पृ.3
3. छायावाद, नामवर सिंह– पृ. 132
4. प्रादेशिक भाषा और साहित्येतिहास, रणसुभे सूर्यनारायण – पृ. 36
5. प्रदक्षिणा, काव्य रा.श्री. जोग
6. रविकरण मडळाची निवड़क कविता, अनुराध पोतदार–पृ. 12

✦✦✦

*शोध–छात्र
हैदराबाद विश्वविद्यालय
हैदराबाद

शोध-२८

ASSESSING SPEAKING AT BASIC LEVEL

Devender Singh*

The development of oral proficiency varies from person to person, place to place and of course from time-to-time. Basic skills always develop much before advanced skills, but setting a scale for basic level has always been an avoidable problem. When a teacher is asked to evaluate learners' progress, which is not as easy as testing grammar or vocabulary with pen and paper test, he/she feels quite uncertain as about how it can be done with the learners having diverse background and uneven progress. Before designing a test and its methods, the teachers have to face at least the following questions-

i. What is basic level?
ii. Does this basic level remain same for the native and the second language learners?
iii. Which method of testing is the most appropriate one?
iv. What are the requirements for making a test valid, reliable, and authentic?
v. What sort of preparation does a teacher need?

The most frequent problems for teachers start occurring when the learners have different levels of linguistic proficiency. Before evaluation, the teacher needs an authentic definition of the proficiency level to be tested. According to one authentic reliable source, basic level in English language is "A simplified form of English limited to 850 selected words, included for international communication." Since August 2008, I have been the part of English Language Proficiency Course teaching team. This Course was designed at the Institute of Lifelong Learning, University of Delhi for achieving basic and intermediate levels in some specified learners. From my experience of teaching English Language Proficiency Course, after discussion on this issue with many experts in this field, and through the reference of relevant literature, I have realized that the definition of the Basic-level English given in some standardized English language dictionaries is accepted equally and widely. According to Macmillan English Dictionary for Advanced Learners (International Student Edition, 2006.), the Basic English is "A simple form of English consisting of 850 words, as well as some international and scientific words...for use as an international language." This definition covers three aspects of the level it defines i.e. word limit, range of the words, and their use. But, in fact, the problem with this definition is that it is the generalization of what the European linguists and language teachers have experienced. The conditions for basic-level proficiency in English language may be different in India and other such countries where English is either second or foreign language.

Since I have been a teacher of English language for at least for four years, I have noticed that a person having knowledge of just 500 word of a language can achieve the basic level of that language. After meeting with my students in language teaching classes, I, like other language teachers, have also felt the need of assessment. But the problem is that there is no such thing or formula that can be used for definite test of general oral ability. Grammar, vocabulary, and pronunciation all fall under the category of general proficiency. However, the results of studies and practical experience have been very helpful in setting the scales for those whose home language is other than English. The particular scale that I have found suitable for my students includes fluency, grammar, accuracy, intelligibility, appropriateness, adequacy of vocabulary for purpose, relevance and adequacy of content. This scale for oral assessment ranges from little knowledge and evidence of meaningful utterances (graded as Basic-1) to quite fluent, structured, intelligible pronunciation accent, and occasional grammatical errors (graded as Basic-2), and in the colleges of the University of Delhi, this scale can be very useful because more than 60 per cent of our students belong to either rural or sub-urban area. Most of them have studied English language till 10^{th} or 12^{th} class. Therefore, most of them do have the competence of basic-level English, but the medium of study upto school level becomes a great barrier in oral performance in English even at basic level. Being the part of the ELPC team is an exciting experience and more exciting is my meetings with the learners at three different centres in three different roles i.e. as a coordinator, teacher, and assessor. Through two mid-terms and one final assessment, it has become very clear to me that assessing speaking, not only at basic level but at any level, needs certain criteria rather than marks for performance. For example, some speaking tasks

should be designed for the learners on the basis of the work done in language proficiency classes. Role-play, pair work, information gap exchange, narrating a picture story, discussion, basic-level social etiquettes, etc. can be very useful in assessing oral proficiency. I as an assessor generally design a test including questions on general introduction, role-play, pair work, and describing a picture. This method has proved to be the most suitable and convenient one. The most positive part of this exam is that it gives time to the learners to gather their courage and to get themselves out of exam-phobia. After general introduction, the learners have a chance to shift their attention from the fear of speaking before the assessors to their immediate roles. Replying to the questions or asking questions normalizes and enables them to convert their competence into desired performance. The task of saying a few sentences about the picture given to them proves to be extremely helpful in compelling them for using their unstructured competence into simple structured sentences. This sort of activity awakens the learners' creativity, and simultaneously enhances the level of confidence specially when the assessor appreciates the learners for transforming their imagination into structured and appropriate utterances.

A test of speaking ability is usually an achievement test, and in cases of a foreign or a second language its validity has always been a problem. Validity implies whether the test measures what it is intended to measure (Weir, 1990). Conversational fluency in a foreign language generally comes after one to three years. Now the question that crops up is how we can make the learner fluent at basic level just after teaching them a 100 hours course. I can try to answer this question on the basis of my experience with the learners at my centre. Having made some experiments and used some fluency building exercises, I have come to the conclusion that the learners can achieve the targeted fluency level if the teacher teaches them the method of using their finite knowledge in generating infinite number of structures. Chomksian Generative Framework should be used to enable them in generating optimum number of meaningful structures from limited random input (Noam Chomsky, 1957, 1964). For example, my students at Dyal Singh College knew the meaning of the words like wake-up, wash, drink, water, bathe, worship, breakfast, go, college, come back, lunch, evening tea, play, study, watch TV, dinner, study, go, bed, sleep, etc. but none of them could use them fluently in small structures for telling their routine. Then I gave them some basic structures, and made them use these words in sentences. To my utter surprise, in just the second round of speaking, they attained the fluency level I wanted. Some of them went a step forward and added some minute details of their routine in a very coherent way. Therefore, the validity of the test depends completely on the attitude of the teacher in the classroom. Validity can also be described as "the single most critical element in constructing a foreign language test." (Nakamura, 1995: 126). If the face validity of the test is good, it certainly promotes the motivation in the learners for speaking (Hughes, 1989). Furthermore, a test cannot be reliable if classroom teaching is not valid and authentic. Reliability and validity are mutually exclusive, but even a valid and reliable test can be useless if it is not practical (Bachman, 1990).

The basic level testing in speaking does not require highly trained examiners or raters, but teaching a foreign language certainly needs skilled and qualified teachers. Although the setting of the test does not resemble the real life situations, it does not mean that the test is not valid and authentic. The rater or assessor maintains the validity of the test by testing the defined proficiency level, and the situations created in the classroom or the exam hall are always applied by the learners in real life situations. The purpose of the test should be to raise or improve the level of learners' understanding of oral communicative ability, to familiarize them with the concept of various language functions, to realize them, and so on and so forth.

Assessment should have correspondence with good teaching, and it should have a corrective influence on bad teaching. The students who have been taught communicatively should be assessed in the same way, because good teaching always makes them learn to communicate effectively in variety of situations. At one particular center where I was one of the assessors, I gave the students at least two chances of elicitation by calling them in pairs and giving them two individual tasks of speaking. By the time the first one spoke, the other observed and simultaneously collected relevant information against some possible questions to be asked by the assessor. This resulted in getting what I was aimed at. In fact, "the key to effective oral proficiency testing

lies in matching elicitation techniques with the purpose constraints of the testing situations. "(Madeson, 1980). Oral proficiency is a difficult and perplexing problem for many language teachers because of the lack of effective and efficient assessment instruments; moreover the accurate measure of the oral proficiency takes considerable time and efforts to get valid and reliable results. Although the assessors were given a scale, it was not possible for the assessors to go by the scale with all the learners. Besides applying a specific scoring procedure, I also tried communicative assessment scale to check their communicative competence rather than rating them on the basis of their oral performance alone.

Therefore, at basic level, testing of oral proficiency needs to test speech disorder, expressive language deficit, autism, articulation disorder (it can be avoided to certain extent at basic level), pragmatic disorder, shuttering, grammatical competence, intelligibility to the listener, appropriateness, elicitation, etc. but before testing, the assessor should ensure that the learners have undergone appropriate training, and received sufficient input to transmute the speech message from their brain to mouth. The assessor should also be very clear about the definition of the level to be assessed. Basic level, for example, includes simple sentence structures (with just Subject-Verb-Object, Subject-Verb-Complement, and Subject-Verb-Adverb patterns), an understanding and use of familiar expressions, basic phrases aiming at satisfying concrete needs, direct exchange of simple information (like on routine matters), ability to use background knowledge for immediate need of description, understanding emergency scenarios, and ability to fulfil the basic communicative needs during a tour or dealing with an international affair.

Further Reading

Chomsky, N. Syntactic Structures. The Hague: Mouton, 1957.]

Chomsky, N. Current Issues in Linguistic Theory. In J. Fodor & Katz (Eds.), 1964.

Collier, V., & Thomas, W. How Quickly can Immigrants Become Proficient in School

English? Journal of Educational Issues of Language Minority Students, 5, 26-38, 1989.

Hughes, A. Testing for Language Teachers. Cambridge:Cambridge University Press. (1989)

Krashnen, Stephen. Principles and Practice in Second Language Acquisition, New York: Pergamon Press, 1982.

Omaggio Hadley, A. Teaching English in Context. 2nd Ed. Boston. MA:Heinle & Heinel.

Nagata, H. Testing Oral Ability: ILR and ACTEL ral proficiency interviews. Brown 7 Yamashita eds. Npp. 108-118.

Turner, J. Assessing speaking. Annual Review of Applied Linguistics, Vol 18, pp. 192-207, Cambridge: Cambridge University Press (1998)

Underhill, N. (1987) Testing Spoken Language: A Handbook of Oral Testing Techniques. Cambridge: Cambridge University Press.

Weir, C. J. Communicative Language Testing with Special Reference to English as a Foreign Language. Exeter: University of Exeter(1988).

Judi Pearsall, The Concise Oxford English Dictionary 10th Ed., 2001, p. 112.

One of those is Australian Citizenship Act, 2007 which defines Basic-level English on the basis of thedefinition given by Common European Framework for Reference.

The scale used for Test in English for Educational purposes (TEEP), Associated Examining Board, England (Weir, 1993: 43-44)

Collier, V., & Thomas, W. in Journal of Educational Issues of Language Minority Students, 1989, 5, 26-38, deal with the question of time taken by the immigrants in becoming proficient in school English.

The key to effective oral proficiency testing (Madeson, 1980) in which the assessor manages to get information from the learner.

✦✦✦

*Lecturer
Ram Lal Anand College (Eve.)
University of Delhi

कष्ट में है माँ भारती का मन्दिर

मधुज्योत्स्ना*

सर्वविद्या की राजधानी तीनों लोकों से न्यारी काशी विश्व की सबसे प्राचीन जीवित महानगरी है। यह अपने स्थापना काल से ही कला-संस्कृति, भाषा, साहित्य, ज्ञान-विज्ञान, धर्म और अध्यात्म का केन्द्र रहा है। देवाधिदेव, आदिदेव, महादेव के त्रिशूल पर स्थित इस पुरातन नगर को मन्दिरों का नगर होने का गौरव की प्राप्त है। यहाँ देवी-देवताओं के अनेक मन्दिर हैं।

देवी-देवताओं के मन्दिरों के बीच इस प्राचीन महानगर में एक ऐसा भी अद्वितीय मन्दिर है जिसमें किसी देवी-देवता की प्रतिमा की जगह राष्ट्र के भौगोलिकीय लघु प्रतिरूप की मूर्तिमान रूप में स्थापना की गई है। "भारतमाता के मन्दिर" के नाम से चर्चित "राष्ट्रदेवता" का यह मन्दिर आजादी के योद्धाओं के लिए चर्चित विश्वविद्यालय "महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ" के परिसर में चित्रकला विभाग के समीप स्थित है।

इस मन्दिर के संस्थापक काशी के चर्चित स्वतंत्रता संग्राम सेनानी एवं काशी विद्यापीठ के संस्थापक स्व0 बाबू शिवप्रसाद गुप्त जी है।[1] उनके निजी, एकल प्रयास से ही इस मन्दिर का निर्माण 1918 में शुरू हुआ राष्ट्रदेवता के इस मन्दिर की स्थापना के विषय में बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने एक विज्ञप्ति उस समय जारी की है, जो इस प्रकार है –

ओऽम वन्दे मातरम्

भारतमाता के उभारदार मानचित्र की कल्पना संयोगवश हृदय में उत्पन्न हुई। संवत् 1970 (1913) ई. विक्रम के जाड़ों में करॉंची कांग्रेस से लौटते हुए मुम्बई जाने का अवसर मिला। वहाँ से पूना जाना हुआ। वहाँ श्रीमान् घोड़ो करवे का विधवाश्रम देखने गये। आश्रम में जमीन पर भारतमाता का एक मानचित्र बना हुआ देखा। था तो वह मिट्टी का ही पर उसमें पहाड़ और नदियाँ ऊँची नीची बनी थीं, बड़ा सुन्दर लगा। इच्छा हुई थी ऐसा ही एक मानचित्र काशी में भी बनाया जाय। यह केवल एक संस्कार था, जो सम्भवतः कुछ ही दिन में मिट जाता, पर संयोगवश इसके बाद विदेश यात्रा करनी पड़ी। लन्दन के ब्रिटिश म्यूजियम में इस प्रकार के अनेक छोटे-बड़े मानचित्र देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यह भी एक संयोग था पर उससे पूर्व की संस्कार और भी दृढ़ हो गया। इसे लेकर घर लौटा। भारत का इच्छा प्रबल हो रही थी। गुरुजनों और मित्रों से परामर्श और विचार के बाद यह बात चित्त में बैठ गयी की मानचित्र संगमरमर का हो तो उत्तम, क्योंकि वह अधिक टिकाऊ और अधिक उपयुक्त भी होगा। इस निश्चय के बाद कलाकार और शिल्पी की खोज होने लगी। बहुत यत्न के बाद काशी निवासी श्री दुर्गाप्रसाद जी ने यह भार उठाया और बड़े परिश्रम तथा बड़ी योग्यता से निभाया कार्यारम्भः सम्वत् 1975 तदनुसार वर्ष (1918 ई.) में हुआ और 5-6 वर्ष के परिश्रम में समाप्त हो भी गया। पर अनेक बाधाओं और विघ्नों के कारण, जिन पर मनुष्य का वश नहीं, कुछ समय तक सर्वसाधारण के लिए मातृभूमि का दर्शन सम्भव न हो सका।

अन्त में निवेदन केवल यह करना है कि जिस मन्दिर में भारतमाता की मूर्ति स्थापित है उसका शिलान्यास 24 लक्ष्य गायत्री पुरश्चरण के उपरान्त बासन्ती नवरात्रि के प्रथम दिन चैत्र शुक्ल प्रतिपदा संवत् 1984 वि. चांद्र, सौर 20 चैत्र, संवत् 1993 वि. 2 अप्रैल 1923 को श्री भगवानदास जी के करकमलों द्वारा हुआ था। प्रथम दर्शन के उपलक्ष्य में चारों वेदों के चार-चार पाठ होकर पूर्णाहुति महात्मा मोहनदास करमचन्द गांधी के करपात्र से महानवमी (आश्विनशुक्ल 9) संवत् 1993 तदनुसार 25 अक्टूबर 1936 को हुई। सर्वसाधारण के दर्शनार्थ पाटोद्घाटन संवत् 1993 को विजयादशमी के शुभ दिन उन्हीं के पुनीत हाथों से हुआ।

ॐतत् सत् ब्रह्मार्पणमस्तु।

शिवप्रसाद गुप्त[2]

भारतमाता मन्दिर का संक्षिप्त विवरण

सतह या भूतल पर सफेद और काले संगमरमर पत्थरों से बनी सम्पूर्ण भारतवर्ष की भौगोलिक स्थिति को दर्शाती माँ भारती की यह मूर्ति, पवित्र भारतभूमि की सम्पूर्ण भौगोलिक स्थितियों को अनुपातिक रूप में प्रगट करती है, जिसका पूर्ण विवरण इस प्रकार है।

1. माँ भारती के इस भूगोलीय प्रतिमा में मैदान और सपाट भूमि और समुद्र के फैलाव को दिखाने के लिए 1 इन्च = 6.4 मील के पैमाने का निर्धारण किया गया है।[3]

2. पर्वत और पठार की ऊँचाई और समुद्र की गहराई को दर्शाने के लिए 1 इन्च= 2000 फीट का पैमाना निर्धारित किया गया है।[4]

3. संगमरमर के इस मानचित्र में समुद्र तट से ऊँचाई को दिखाने के लिए 500, 1000, 2000, 3000, 6000, 10000, 15000, 20000 और 25000 फुट की ऊँचाई को स्पष्ट रेखाओं द्वारा काट कर दिखाते हुए अंकित किया गया है। संगमरमर पत्थर के उभार वाले इस नक्शे में ऊँचाई के अंकन की इस व्यवस्था से इस महादेश के प्रत्येक चर्चित नगर की समुद्र तट से ऊँचाई का पता लग जाता है।[5]

4. पूरब से पश्चिम 32 फुट 2 इन्च तथा उत्तर से दक्षिण 30 फुट 2 इन्च के पटल पर बनी माँ भारती की इस प्रतिमूर्ति के रूप के लिए 762 चौकोर ग्यारह इन्च वर्ग के मकराने के सफेद और काले संगमरमर के घनाकार टुकड़ों को जोड़कर भारत महादेश के इस भूगोलीय आकार के मूर्तिरूप प्रदान किया गया है। माँ भारती की इस पटलीय मूर्ति के माध्यम से भारत राष्ट्र को पूर्व से पश्चिम तक 2393 मील तथा उत्तर से दक्षिण 2316 मील के चौकोर भूखण्ड दिखाया गया है। वस्तुतः इस पटलीय मूर्ति से वास्तविक भारतभूमि 405500 गुना अधिक लम्बाई

और उतनी ही चौड़ाई वाली है। गणितीय गणना में इस आंकड़े से वास्तविक भारतभूमि इस पटलीय मूर्ति से एक अरब चालीस करोड़ तीस लाख पचास हजार गुनी बड़ी है।[6]

5. माँ भारती के इस मूर्ति पटल में हिमालय सहित जिन 450 पर्वत चोटियों को दिखाया गया है उनकी ऊँचाई पैमाने के अनुसार 1 इन्च में 2000 फिट की ऊँचाई को दर्शाती है।[7]

6. इस मूर्ति पटल में छोटी बड़ी आठ सौ नदियों को उनके उद्गम स्थल से लेकर अन्तिम छोर तक दिखाया गया है।[8]

7. माँ भारती के इस भूगोलीय मूर्ति पटल पर भारत के लगभग समस्त प्रमुख पर्वत, पहाड़ियों, झीलों, नहरों, और प्रान्तों के नामों को अंकित किया गया है।[9]

8. माँ भारती के इस भूगोलीय पटल के निर्धारित चौकोर आकार में आने वाले भारत भूमि से हटकर उत्तर से पामीर के पठार, तिब्बत और तुर्किस्तान और पूरब में ब्राह्म देश, मलय प्रायद्वीप और पश्चिम में अफगानिस्तान, बलूचिस्तान, अरब समुद्र को दिखाया गया है।[10]

9. माँ भारती के इस भूपटलीय मूर्ति के निर्माण के लिए भूमापन विभाग के 1917 में उपलब्ध कराये गये नक्शे को पाँच गुना विस्तार देकर छः वर्षो के अनवरत प्रयास के पश्चात् ठोस संगमरमर पत्थरों को जोड़कर यह रूप बन सका।[11]

10. माँ भारती के इस विशाल पटलीय मूर्ति का शिलान्यास सन् 1926 में चैत्र शुक्ल प्रतिपदा रविवार के दिन काशी के महान् विद्वान डॉ0 भगवान दास जी के कर कमलों से सम्पन्न हुआ था।[12]

11. माँ भारती के "पटलीय मूर्ति मन्दिर" का शुभ उद्घाटन 25 अक्टूबर सन् 1936 में महात्मा गांधी के करकमलों से हुआ।[13]

यह ऐतिहासिक मन्दिर चौकोर भूखण्ड पर जमीन से लगभग 4 फिट ऊँचे चबूतरे पर एक विशाल महाकक्ष (हाल) में बना हुआ है। इस चबूतरे पर यह महाकक्ष 45×40 फुट क्षेत्र में बीचों-बीच बना है। जिसके चारों ओर में छायारहित खुला हुआ चबूतरा बना है। इस चबूतरे पर चढ़कर मन्दिर में प्रवेश के लिए चबूतरे के बगल से उत्तर दक्षिण दोनों तरफ से सात-सात डण्डों की पत्थर की सिढ़ियां बनी हुई हैं, जिससे इस विशाल चबूतरे पर चढ़कर मन्दिर में प्रवेश करने की व्यवस्था है। इस मन्दिर में प्रवेश के लिए पश्चिमी भाग से तीन ऊँचे दरवाजे बने हुए है। माँ भारती के मन्दिर में प्रवेश के लिए बने ये तीनों दरवाजे पश्चिमी भाग पर मन्दिर के महाकक्ष से सटे 20×15 आकार के बरामदे में खुलते हैं।

राष्ट्र देवता के इस मन्दिर के उद्घाटन के समय 25 अक्टूबर 1936 को राष्ट्रपिता महात्मागांधी ने जो विचार व्यक्त किये वह इस प्रकार है –

दिनांक 25 अक्टूबर सन् 1936 ई. भारत माता मन्दिर के उद्घाटन के समय महात्मा गाँधी का सन्देश : –

इस मन्दिर में किसी देवी-देवता की मूर्ति नहीं है। यहाँ संगमरमर पर उभारा हुआ एक मानचित्र-भर है। मुझे आशा है कि यह मन्दिर सभी धर्मों, हरिजनों-समेत, सभी जातियों और विश्वासों के लोगों के लिए एक सार्वदेशिक मन्च का रूप ग्रहण कर लेना और इस देश में पारस्परिक धार्मिक एकता, शान्ति तथा प्रेम की भावनाओं को बढ़ाने में बड़ा योगदान देगा।

इस तीर्थ का उद्घाटन करते हुए मेरे मन में जो भावनाएं उमड़ रही है उनको मैं शब्दों में व्यक्त नहीं कर पा रहा हूँ। प्रेम की पुकार नहीं टाली जा सकती । मैं प्रेम की पुकार पर ही अपने दो प्यारे-प्यारे मरीजों को और गाँव के अपने काम को छोड़कर, गाँव से चलकर यहाँ काशी में आ गया हूँ। सन्त मीराबाई के शब्दों में, प्रेम एक कच्चे धागे जैसा कोमल, जरा से झटके से टूटने वाला, लेकिन स्वयं जीवन जितना ही मजबूत होता है। प्रेम लोगों को हजारों मील दूर से खींच लाता है मैं भी शिव प्रसाद के स्नेह के सामने टिक नहीं सकता था। मैं इस तीर्थ का उद्घाटन करने योग्य बिल्कुल ही नहीं हूँ, परन्तु शिवप्रसाद के स्नेह में मैं अपनी सीमाओं, अपनी अपात्रता को बिल्कुल भूल गया हूँ। इस शिवप्रसाद को जबसे मैं जानता हूँ, तब से मैं देखता हूँ कि गंगातट को उन्होंने अपना निवासस्थान बना रखा है, और गंगाजल से अपनी देह को पवित्र रखने के बावजूद उन्होंने अपने हृदय में एक दूसरी ही गंगा को स्थान दे रखा है। यह भावना और कल्पना की गंगा इनके हृदय में हमेशा बहती रहती है, और उसमें ये नित्य अवगाहन करते है। वे भावना के घोड़े भी गढ़ते हैं और पृथ्वी की प्रदक्षिणा करते हैं। भावना का बल ऐसा है कि यदि वह शुद्ध हो तो स्वर्ग में भी उड़ा ले जा सकता है, और अशुद्ध हो तो नरक में भी ले जा सकता है। इनकी भारत-भक्ति की भावना पूना-स्थित कर्वे के विधवाश्रम में उभरे हुए एक नक्शे को देखकर मूर्तिमन्त हुई, और इस पर अपनी समुचित धनराशि खर्च कर डालने का उन्होंने विचार किया। जैसी इनकी भावना थी वैसे ही इन्हें कलाकार भी मिल गये, शिल्पी और इंजीनियर भी वैसे ही मिल गये, एक बार तो उन्हें अपने जीवन की भी आशा नहीं थी, किन्तु भगवान् ने इन्हें जीवित रखा और उनका स्वप्न, उनकी भावना की प्रतिमा आज हम अपने सामने देख रहे हैं।

आज सुबह जब मुझसे पूर्णाहुति सम्पन्न करने के लिए कहा गया था और वेदमन्त्रों का पाठ चल रहा था, तब उसे सुनते हुए मुझे अपनी प्रातःकालीन प्रार्थना का एक श्लोक याद आ गया, जिसका पिछले बीस वर्षों से हम पाठ करते आ रहे हैं।

समुद्र वसनेदेवि पर्वत स्तनमण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्श क्षमस्व मे।।

हम आज जिसकी सेवा के लिए अपने-आपको समर्पित कर रहे हैं वह यही धरित्री माता है। हमें जन्म देने वाली माँ मातृ होती है, परन्तु हमें पालने-पोसने और जीवित रखने वाली हमारी धरित्री-माता के साथ तो ऐसी बात नहीं है। धरित्री-माता का अन्त भी कभी आएगा, परन्तु तब उसके साथ उसकी सारी सन्तान भी काल के गाल में समा जाएंगी इसलिए वह हमसे अपने प्रति जीवनपर्यन्त निष्ठा की अपेक्षा रखती है। शिवप्रसाद ने इस मन्दिर को बिना किसी भेदभाव के सभी धार्मिक

विश्वासों के लोगों को समर्पित किया है, वे सभी इसमें आराधना कर सकते हैं, उन्होंने इसके लिए किसी भी तरह की कोई शर्त नहीं रखी है। इस मन्दिर में भारतमाता से प्रेम करने वाले हर व्यक्ति का स्वागत होगा और वह यहाँ अपनी सामर्थ्य तथा अपने विश्वास के अनुरूप आराधना कर सकेगा। इसलिए मैं शिवप्रसाद का स्नेहभरा आमन्त्रण अनसुना नहीं कर पाया। आइए, हम सब अपने विभेदों और मतभेदों को भूला दें, भारतमाता के चरणों पर उनकी बलि चढ़ा दें और अपनी शुद्धतम् भावना से उसकी सेवा में जुट जाएँ। ईश्वर की कृपा से शिवप्रसाद का स्वप्न साकार हो गया है। ईश्वर इतनी अनुकम्पना और करें कि शिवप्रसाद की हार्दिक अभिलाषा भी पूरा हो जाए कि परस्पर जूँझते सभी धार्मिक विश्वासों, भिन्न-भिन्न मतों और हितों की आपाधापी बन्द हो जाए।

और ईश्वर से मेरी प्रार्थना है कि शिवप्रसाद इतने दीर्घजीवी हों कि अपनी आँखों से इस अभिलाषा को फलवती होते देख सकें।[14]

कुल मिलाकर राष्ट्र देवता का यह भव्य मन्दिर परम्परागत भारतीय कला, तकनीकी और शिल्प का अद्वितीय नमूना है। जो काशी में महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ के परिसर में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न दुनियाभर से आने वाले पर्यटकों को भारतीय ज्ञान-विज्ञान और कला का नियमित दर्शन कराता है।

राष्ट्र मन्दिर की उपेक्षा

माँ भारती का अपने ढंग का यह अनोखा मन्दिर वर्तमान समय में घोर उपेक्षाओं से ग्रस्त है। यहाँ स्थापित भारतमाता की विस्तृत 'भूतलीय भूगोलकीय मूर्ति' देख-रेख और रख-रखाव में बरती जा रही उपेक्षा के चलते अपनी चमक खोकर लगातार फीकी पड़ती जा रही है। इस विस्तृत भूतलीय मूर्ति के चारों ओर बने गलियारे एवं महाकक्ष के प्रवेशद्वार बने बरामदे के फर्श पर बिछे चौकोर बलुआ पत्थर के किनारे घिसावट और क्षरण के चलते बदसूरत हो गये हैं, जिन्हें सीमेण्ट, बालू का मसाला लगाकर सपाट करने की कोशिश की गयी है, जो मन्दिर की बनावट में लगे मसाले से बिल्कुल ही अलग दिखाई पड़ती है। बेतरतिबी से हुई सिमेण्ट के मसाले की यह लीपा-पोती खूबसूरत कपड़ों पर लगे भद्दे पैबन्द जैसी लगती है। मन्दिर की दीवारों की चूना, कली को देखकर ऐसा लगता है कि जैसे दो-तीन दशक से उस पर रंगाई-पुताई नहीं हुई है। मन्दिर के महाकक्ष के भीतरी दीवारों पर ग्रह-नक्षत्रों सहित बनी अन्य कलात्मक चित्र के साथ ही राष्ट्र के विभिन्न पक्षों के दिखाने के लिए बने भारत के मानचित्र कई दशकों की उपेक्षा और देख-भाल के अभाव में अपना रूप खो चुके हैं। मन्दिर में कई स्थानों पर लगे बलुआ पत्थर 'स्टोन कैंसर' के शिकार हो रहे हैं। इसके अलावा कई जगहों के बलुआ पत्थर रसायनयुक्त तैल रंग लगाये जाने के कारण सांस न ले पाने से जगह-जगह से पर्त छोड़ रहेहैं।

मरम्मत और देख-रेख के अभाव और उपेक्षा के चलते मन्दिर के महाकक्ष की दीवालों में बनी कई खिड़कियों के चौखट सड़कर गलने लग गये हैं। इसके अलावा पर्याप्त कर्मचारियों के अभाव में इस मन्दिर की साफ-सफाई का काम भी ठीक से नहीं हो पाता। मन्दिर के सामने का उद्यान विक्षिप्त लोगों की शरण स्थली बन गया है। मन्दिर के परिसर और अगल-बगल की जगह इस मन्दिर की गरिमा अनुकूल कतई नहीं लगती। यहीं इस मन्दिर के पिछवाड़े तो कूड़े का ढेर लगा रहता है। मन्दिर के सफाई की स्थिति अत्यन्त दयनीय है।

मन्दिर की उपेक्षा के इसी क्रम में सर्वाधिक अखरने वाली बात वाराणसी के पुलिस प्रशासन और पर्यटन विभाग की उदासीनता के चलते दिखाई देती है। मन्दिर परिसर के मुख्य द्वार पर पुलिस-विभाग की कृपा से सब्जी के ठेलों की लम्बी कतार लगी रहती है जिससे मन्दिर के परिसर में प्रवेश करना अत्यन्त दुरुह हो जाता है, इससे अधिकांश देशी-विदेशी पर्यटक मन्दिर में प्रवेश से कतराने लगते है।

इस मन्दिर के परिसरीय हाते में मन्दिर की गरिमा के अनुकूल माहौल का सर्वथा अभाव रहता है। स्थानीय पुलिस-विभाग की कृपा के चलते इस परिसर में अवांछनीय लोगों को अक्सर जुआ खेलते, गांजा, सिगरेट और नशा करते देखा जा सकता है।

कुल मिलाकर माँ भारती का यह मन्दिर उपेक्षाओं, अव्यवस्थाओं का बुरी तरह शिकार हो गया है। यह स्थिति किसी भी राष्ट्रप्रेमी व्यक्ति के लिए दुःख का विषय है।

सबसे दुर्भाग्यपूर्ण यह है कि जब देशभर में तमाम राजनीतिज्ञों और नेताओं की मूर्तियों, समाधियों और स्मारकों के निर्माण में अरबो-खरबों का खर्च हो रहा है, लेकिन राष्ट्र देवता का यह मन्दिर आज अपनी हालत पर आंसू बहा रहा है। इस मन्दिर की ओर केन्द्र और प्रदेश सरकार का ध्यान न दिया जाना किसी भी राष्ट्रप्रेमी के लिए अखरने वाली बात है। आज आवश्यकता इस बात की है कि राष्ट्रीय अस्मिता के इस मन्दिर को सर्वोच्च राष्ट्रीय स्मारक का दर्जा प्रदान कर उचित रख-रखाव व्यवस्था की जाये।

सन्दर्भ ग्रन्थ–

1. महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ के विभिन्न शिला पटलों पर अंकित तथ्यों पर आधारित।
2. मन्दिर में घुसने पर बाये हाँथ लगे सूचना बोर्ड के अनुसार
3. 4,5,6,7,8,9,10,11,12 व 13. सभी तथ्य मन्दिर के भीतर दीवार पर अंकित संगमरमर के शिलापट्ट पर अंकित सूचनाओं पर आधारित।
4. भारतमाता मन्दिर का संक्षिप्त विवरण- एस.डी. सिंह।

✦✦✦

* शोध-छात्रा, (चित्रकला)
ललित कला विभाग
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ
वाराणसी

विदग्ध गोष्ठी

सामाजिक संगठनों का संगम

परमिता ब्यूरो

राष्ट्रीय स्वाभिमान आंदोलन के राष्ट्रीय संयोजक एवं प्रख्यात राष्ट्रवादी चिंतक केएन गोविंदाचार्य ने कहा कि भारत परस्त और गरीब परस्त ताकतों का उभार कैसे हो, पूरे देश के लिए आज यह गंभीर चिंतन और प्रयास करने का विषय है। भारत विकास संगम के तत्वावधान में वाराणसी के मैदागिन स्थित पराड़कर स्मृति भवन के गर्दे सभागार में आयोजित सामाजिक कार्य और विकास विषयक संगोष्ठी को प्रमुख वक्ता पद से संबोधित करते हुए श्री गोविन्दाचार्य ने यह बात कही। उन्होंने कहा कि सामाजिक विकास में प्रत्येक व्यक्ति और संगठनों का प्रमुख योगदान है। उन्होंने गरीबी हटाने के सरकारी प्रयासों पर व्यंग्य करते हुए कहा कि आज हम देख रहे हैं कि गरीबी हटाने का नारा देने वाले स्वयं अमीर बनने में ही लगे रहे। देश में गरीबी तो वहीं की वहीं बनी रही। उन्होंने दुख व्यक्त करते हुए कहा कि आज सत्तातंत्र की नासमझी के कारण लोकतंत्र खतरे में पड़ गया है। चारों ओर अराजकता की स्थिति है। आज भारत परस्त और गरीब परस्त ताकतों का उभार कैसे हो, यह गंभीर चिंतन और प्रयास का विषय है। भारत विकास संगम के राष्ट्रीय संयोजक एवं पूर्व सांसद (कर्नाटक) बसव राज पाटिल ने कहा कि पूरे देश की सामाजिक संस्थाओं को एक दूसरे से जुड़कर भारत के विकास में लग जाना चाहिए। श्री पाटिल ने आगे कहा कि जल, जमीन, जंगल, जानवर और जन के बिना इस पृथ्वी पर जीवन की कल्पना संभव नहीं है। हमारी दृष्टि में विकार आया है। इसलिए हमारी शक्ति कहीं और है और हम उसे खोज कहीं और रहे हैं। कार्यक्रम में शरद कुमार साधक ने कहा कि आज जिन्हें हम वोट और नोट देते हैं वे देश के आम आदमी की चिंता करना छोड़ दिये हैं। उन्होंने कहा कि ग्रामीण स्तर पर हमें अपने समस्त संसाधनों का उपयोग करना चाहिए। स्वदेशी वस्तुओं का इस्तेमाल तथा इसका उत्पादन बढ़ाना चाहिए। काशी पत्रकार संघ के महामंत्री वरिष्ठ पत्रकार के.डी.एन. राय ने कहा कि आरक्षण को अधिकार नहीं उपचार माना जाना चाहिए लेकिन दुर्भाग्य है कि आज आरक्षण वोट हासिल करने का अधिकार बन गया है। भारत विकास संगम की संगोष्ठी में प्रमुख रूप से सुरभि शोध संस्थान, संकल्प, विशाल भारत संस्थान, प्रबोधिनी फाउन्डेशन, आईकान, स्वाभिमानी छात्र संघर्ष मोर्चा, प्रेरणा, प्रोजेक्टिस, परमिता, संस्थान, अन्नपूर्णा सेवा संस्थान, गोकुल आर्टस, जनाधिकार एवं स्वापक निषेध अपराध नियंत्रण जाँच ब्यूरो, जीवन विद्या संस्थान, नेशनल इन्वेस्टिगेशन ऑफ डेवलपमेंट सोसाइटी, गंगा पुत्र जन कल्याण सेवा समिति, गंगा महासभा, माँ विन्ध्यवासिनी सेवा समिति तथा भगत सिंह यूथ ब्रिगेड आदि स्वयं सेवी संस्थाओं के प्रतिनिधियों ने अपने कार्य कलापों पर विस्तार से प्रकाश डाला। कार्यक्रम का संचालन कपिन्द्र तिवारी ने एवं धन्यवाद ज्ञापन श्री वासुदेवचार्य ने किया। कार्यक्रम संयोजक संजय शुक्ल ने आगत अतिथियों का स्वागत किया।

✦✦✦

परमिता
त्रैमासिक शोध-पत्रिका

RNI No. : UPHIN/2008/25927

'परमिता' के निरंतर प्रकाशन पर हार्दिक शुभकामनाएँ .....

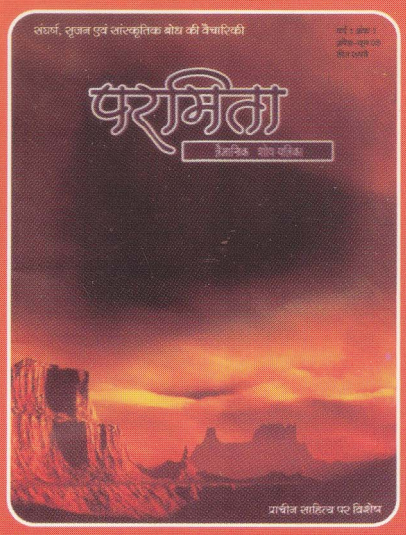

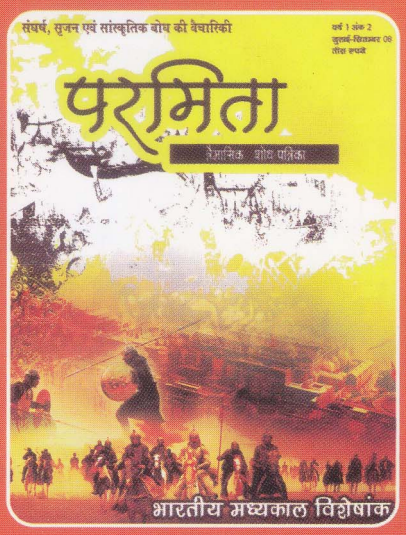

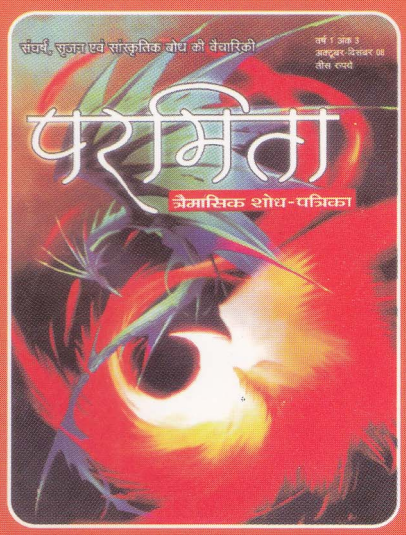

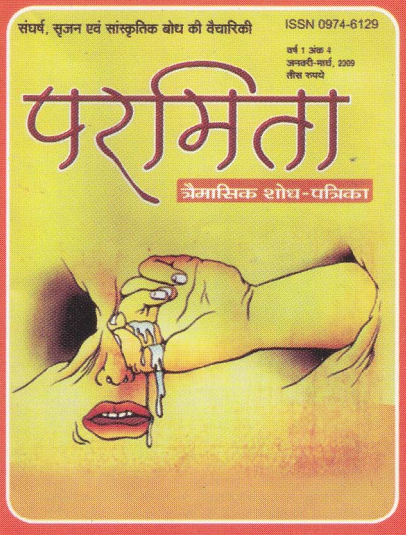

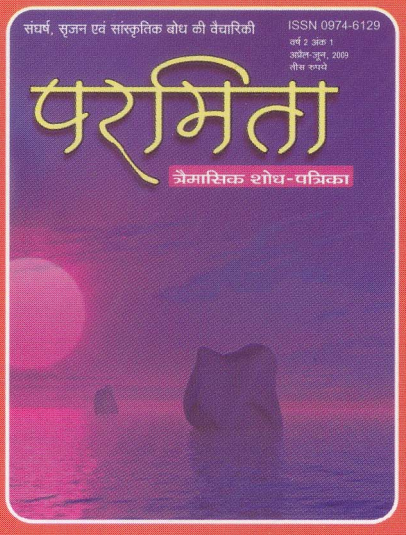

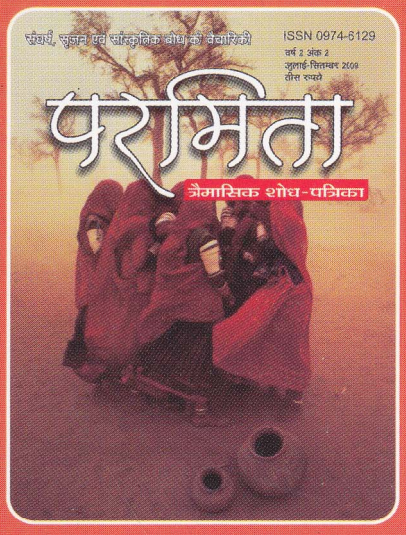

"प्रबोधिनी फाउण्डेशन"

रजि. वी-22115

कार्या. डी-59/330, ए-2, के, शिवपुरवाँ, वाराणसी

मो0 9889730000, 9450964045